द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद के मूल सिद्धान्त

कम्युनिस्ट दर्शन की सरल व्याख्या

इण्डिया पब्लिशर्स
लखनऊ

ऐतिहासिक भौतिकवाद

दो शब्द

कम्युनिस्ट, अथवा मार्क्सवादी दर्शन पर हिन्दी में पुस्तकों की बहुत कमी है। मौलिक रूप से तो इस विषय में प्रायः कुछ लिखा ही नहीं गया है। राहुल जी और श्री यशपाल ने किन्हीं विशिष्ट संदर्भों में कम्युनिस्ट दर्शन की चर्चा की है, राहुल जी ने "वैज्ञानिक भौतिकवाद" के नाम से एक पुस्तक भी लिखी है जिससे बहुत सी बहुमूल्य जानकारी मिलती है, हिन्दी में उपलब्ध अनुवादों के रूप में प० जवाहर लाल नेहरू, स्वर्गीय प्रो० डी डी कोसाम्बी तथा देश के विख्यात कम्युनिस्ट नेता श्री एस० ए० डांगे की विभिन्न रचनाओं से भी कम्युनिस्ट दृष्टिकोण को जानने में सहायता मिलती है, किन्तु जहाँ तक हम जानते हैं, हमारी भाषा में ऐसी कोई पुस्तक नहीं है जिससे कम्युनिस्ट दर्शन का व्यवस्थित रूप से परिचय प्राप्त किया जा सके। इस अनुवाद के द्वारा इस कमी को पूरा करने की कुछ चेष्टा की गयी है। "कुछ" इसलिए कहा जा रहा है कि इस गम्भीर, अत्यन्त आवश्यक और चित्ताकर्षी विषय का सांगोपांग परिचय देने के लिए ऐसी अनेक अनूदित तथा भारतीय इतिहास और समाज के परिप्रेक्ष्य में लिखी गयी मौलिक रचनाओं की आवश्यकता होगी। आशा है कि इस अभाव की पूर्ति में अब बहुत देर नहीं लगेगी।

दर्शन क्या है, उसका क्या उद्देश्य है, भूत और चेतना के बीच क्या सम्बन्ध है, भूत चेतना को जन्म देता है अथवा चेतना भूत की प्रक्रियाओं को संचालित करती है, संसार के अन्दर भूत और गति तथा दिक् और काल के बीच क्या सम्बन्ध है, हेतु और परिणाम, अनिवार्यता और आकस्मिकता, स्वतन्त्रता और आवश्यकता, आदि आदि के बीच कैसे रिश्ते है, समाज कैसे प्रगति करता है, इसके विकास के नियम क्या हैं, आदि अनेक प्रश्न हैं जिन पर सोवियत संघ के दो आधिकारिक विद्वानों द्वारा लिखी गयी इस रचना में संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला गया है। अनुवाद और सम्पादन करते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि इसे इस तरह प्रस्तुत किया जाय जिससे कि जन साधारण भी इसे समझ सके।

आशा है कि यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी और पाठकों को सोचने विचारने तथा कर्मक्षेत्र में उतरने के लिए प्रेरित करेगी।

— रमेश सिनहा

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

अध्याय एक

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—मार्क्सवाद का दर्शन

दशन का उद्देश्य

प्रारम्भिक रूप म दशन का आविर्भाव भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, जीव विज्ञान, अथवा भू विज्ञान जस प्राकृतिक विज्ञानो से बहुत पहले, अत्यन्त प्राचीन काल म हुआ था। इससे पता चलता है कि दशन मनुष्य की एक सर्वाधिक बुनियादी आवश्यकता है। किन्तु समाज के जीवन म इसका महत्व और स्थान तुरन्त उस तरह स्पष्ट नही दिखलायी पडता जिस तरह कि दूसरे अनक विज्ञानो का दिखलायी देता है। इसके बावजूद, हमार तमाम काम, और कभी कभी तो हमारे अन्तरतम तक के विचार भी, किसी न किसी निश्चित दार्शनिक दष्टिकोण से प्रभावित होते हैं।

क्षण भर के लिए तरह तरह के उन प्रश्नो को ही ले लीजिए जिनका बारम्बार हम सामना करना पडता है और जिनको लकर अक्सर हम हैरान हो उठते हैं। उदाहरण के लिए किन्ही खास देशो की, राजनीतिक पार्टियो की, अथवा विशिष्ट सामाजिक समुदायो की राजनीति क्या है? अथवा ग्रहो और नक्षत्रो तथा पृथ्वी का क्रम और कहा से जन्म हुआ था, उन पर पायी जाने वाली प्रत्येक वस्तु कस और कहा स बनी थी? इस तरह के प्रश्नो के हम जो उत्तर दत है व मुख्यतया विश्व सम्बन्धी हमारे आम दृष्टिकोण पर, तथा चारो ओर घटन वाली घटनाओ के सम्बन्ध म हमारी वास्तविक समझदारी पर आधारित होते है। इस तरह के प्रश्नो के जवाब, विश्व सम्बन्धी अपन दृष्टिकोण के अनुसार, अलग अलग लोग अलग अलग ढग से दत है।

जीवन, सम्पूर्ण विश्व, तथा उसमे चलने वाले विशिष्ट घटना चक्रो और व्यापारों के सम्बन्ध मे मनुष्य के विचारो का कुल योग ही उसका दृष्टिकोण होता है।

विश्व के सम्बन्ध मे सही समझदारी की जरूरत जितना हम अक्सर समझते है उससे कही ज्यादा है। लेनिन ने लिखा था

" एक समाजवादी के लिए आवश्यक होता है कि विश्व के सम्बन्ध मे उसके पास एक सुचिन्तित और सुसंगत दृष्टिकोण हो जिसमे कि घटनाएँ उसको नही, बल्कि वह घटनाओं को नियन्त्रित कर सके।"*

यदि मनुष्य जीवन के एक निष्क्रिय दर्शक से अधिक कुछ बनना चाहता है और विश्व को बदलने के महान संघर्ष मे एक सक्रिय योद्धा के रूप मे भाग लेना चाहता है तो उसके लिए आवश्यक है कि वह यह समझे कि विश्व के सम्बन्ध मे उसका एक निश्चित रुख होना चाहिए, अर्थात, जीवन मे उसका एक आधार बिन्दु होना चाहिए, और विश्व सम्बन्धी एक उन्नत, वैज्ञानिक दृष्टिकोण के रूप मे उसके स्थिर और सुदृढ़ विश्वास होने चाहिए। मार्क्सवाद लेनिनवाद का दर्शन ठीक ऐसे ही विश्व दृष्टिकोण से मनुष्य को लैस करता है।

विश्व के सम्बन्ध में आम जानकारी की आवश्यकता इसलिए नही है जिससे कि उसमे घटने वाली घटनाओ के साथ एक अकर्मण्य दर्शक जैसा हमारा परिचय हो जाय, बल्कि इसलिए है जिससे कि उन घटनाओं को सक्रिय रूप से हम प्रभावित कर सकें। नये विश्व के निर्माता को ज्ञान होना चाहिए, तभी जीवन के क्रम को वह बदल और रूपान्तरित कर सकेगा। किन्तु इसके लिए अकेला ज्ञान काफी नही है। रसायन शास्त्र हमे बतला सकता है कि नये द्रव्यों (वस्तुओं) की कैसे रचना की जाय किन्तु उसे इस बात की कोई परवाह नहीं होती कि उससे जनता को क्या लाभ होता है। उदाहरण के लिए, अमरीकी साम्राज्यवादी रसायन विद्या का इस्तेमाल विषैली वस्तुओं का निर्माण करने के लिए करते हैं ताकि उनसे दक्षिण वियतनाम की फसलों को वे बरबाद कर दें। लेकिन जनवादी मान्यताओं को मानने वाले लोग ऐसा कभी नहीं कर सकते। अमरीकी साम्राज्यवादियों के कुकृत्यों से उनके नस्लवादी दृष्टिकोण का पता चलता है। देशी लोगों को मारने में नस्लवादियों को जरा भी गुरेज नहीं होता। विज्ञान हमें ज्ञान प्रदान करता है परन्तु साधारण श्रमजीवी जनता के कल्याण के लिए ज्ञान का प्रयोग करने की जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें मार्क्सवादी विश्व दृष्टिकोण की जरूरत होती है। ज्ञान या गहरे वैचारिक

---

* वी० आइ० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड ८, पृष्ठ ३१६।

मार्क्सवादी विश्वासों के साथ समन्वय करके ही आदमी विश्व के सम्बन्ध में सही और सर्वांगीण दृष्टिकोण प्राप्त कर सकता है, और तभी यह दृष्टिकोण उसके जीवन में अपनी महान भूमिका अदा कर सकता है।

सुदृढ़ विश्वासों का कैसा महत्व होता है यह निम्न कहानी से भी स्पष्ट हो जायगा। तातारी कवि मूसा जलील अपने महान साहस के लिए प्रसिद्ध थे। सोवियत संघ के १६४१-१६४५ के महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध के वह एक विख्यात योद्धा थे। हिटलर के जल्लादों ने उन्हें मार डाला था। मारने से पहले उन्हें कुछ समय के लिए बर्लिन के एक जेल में रखा गया था। उनकी काल कोठरी में दूसरा जिस आदमी को उनके साथ रखा गया था वह बेल्जियम का एक छापेमार, आन्द्रे तिम्मरमान था। वह मूसा जलील का गहरा मित्र बन गया था और उनकी जो अन्तिम कविताएँ हमें आज मिली हैं उन्हें आन्द्रे तिम्मरमान ने ही बचाया था। तिम्मरमान बतलाते हैं कि शुरू-शुरू में वे दोनों ही एक दूसरे से सावधान रहने की कोशिश करते थे और एक दूसरे पर विश्वास नहीं करते थे। किन्तु, तिम्मरमान का कहना है कि, जब लोगों के विश्वास एक जैसे होते हैं तो उन्हें एक दूसरे को समझने में रंचमात्र के संकेत तक की दरकार नहीं होती। वे अन्तः प्रेरणा से ही एक दूसरे को समझ और पहचान जाते हैं। "जलील के बारे में मुझे इसी तरह इस बात का पता चल गया था कि उन्हें इस बात का पूरा विश्वास था कि सोवियत सेना विजयी होगी और वह स्वयं एक सच्चे और अडिग देश भक्त थे।"

निस्सन्देह दृढ़ विश्वास एक महान आत्मिक शक्ति होता है। दृढ़ विश्वास ही मनुष्य की आत्मा होते हैं। इसीलिए आवश्यक है कि मनुष्य के विश्वास उसके दिल और दिमाग की गहनतम गहराइयों तक पहुँच जायँ। लेनिन ऐसे लोगों की कसकर आलोचना करते थे जिनके "विश्वास बहुधा उनकी जीभ की सतह से नीचे नहीं जाते थे।"*

इस प्रकार विश्व दृष्टिकोण का महत्व इस बात में होता है कि उससे हमें वे ठोस विश्वास प्राप्त होते हैं जो दुनिया को बदलने तथा श्रमजीवी जनता को गरीबी और शोषण से मुक्ति दिलाने के संघर्ष के लिए नितान्त आवश्यक हैं।

इसके बाद अब इस बात को समझना कठिन नहीं होना चाहिए कि दर्शन का उद्देश्य क्या है। उसका उद्देश्य ऊपर बताये गये विश्व दृष्टिकोण के लिए आधार तैयार करना होता है।

---

* वही, खण्ड १३, पृष्ठ ७२।

"दर्शन (फिलासफी) शब्द की उत्पत्ति प्राचीन यूनानी भाषा के दो शब्दों, फिलियो तथा सोफिया से हुई है। फिलियो का मतलब 'प्रेम' है, तथा सोफिया का मतलब 'बुद्धि' अथवा 'ज्ञान' है। इस प्रकार, यूनानी शब्द 'फिलासफी' (दर्शन) का मतलब बुद्धि, अर्थात ज्ञान के प्रति प्रेम होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि, ज्ञान तो हम हर विज्ञान से मिलता है—तो क्या कहा जा सकता है कि हर विज्ञान दर्शन है?

यह सही है कि प्रत्येक विज्ञान से ज्ञान प्राप्त होता है, परन्तु उससे प्राप्त होने वाला ज्ञान दार्शनिक ज्ञान से भिन्न होता है। प्रत्येक विज्ञान से हम वास्तविकता के किसी एक विशेष अंग या पहलू के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त होता है, खगोल विद्या से हमें आकाशीय पिण्डों (नक्षत्र लोक) के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है, जीव विज्ञान से पेड़ पौधों, पशुओं तथा मानव के सम्बन्ध में, और इतिहास से मानव समाज के सम्बन्ध में। किन्तु प्रकृति और विश्व के सम्बन्ध में पूरे तौर से कोई भी विज्ञान हमें पूर्ण जानकारी नहीं करा सकता। तब आप पूछ सकते हैं कि क्या सब विज्ञान मिलकर भी हमें विश्व की पूरी जानकारी नहीं करा सकते? पर, दरअसल बात यह है कि विश्व सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान और अलग अलग विज्ञानों से प्राप्त होने वाले ज्ञान का यांत्रिक जोड़ (योग) एक ही चीज नहीं है। विशिष्ट विज्ञानों से प्राप्त होने वाली आधार-सामग्री का उपयोग करता हुआ दर्शन ऐसे आम (सामान्य) प्रश्नों का अध्ययन करता है जिनका हल न अलग अलग कोई विज्ञान निकाल सकता है न सारे विज्ञान मिलकर ही निकाल सकते हैं। कुछ आधुनिक पूंजीवादी दार्शनिकों का दावा है कि विज्ञान ने दर्शन को "अनावश्यक" बना दिया है, लेकिन यह बात सही नहीं है।

भौतिकशास्त्र (भौतिकी), यन्त्र विज्ञान (यान्त्रिकी), जीव विज्ञान तथा अन्य तमाम विज्ञान तथाकथित विशिष्ट नियमों का, अर्थात उन नियमों का अध्ययन करते हैं जिनके आधार पर प्राकृतिक घटना प्रवाहों की कुछ विशिष्ट किस्में संचालित होती हैं। किन्तु दर्शन सर्वाधिक सामान्य नियमों का, अर्थात उन नियमों का अध्ययन करता है जिनके आधार पर, मानव समाज और मानव चिन्तन समेत, प्रकृति के समस्त घटना प्रवाह संचालित होते हैं। इसीलिए मानव को अपने इर्द गिर्द की दुनिया के सम्बन्ध में एक निश्चित दृष्टिकोण निर्धारित करने में उससे सहायता मिलती है। दरअसल, दर्शन ही इस दृष्टिकोण की आधार शिला होता है।

दर्शन का पक्षधर च

अगर बात ऐसी है तो फिर विश्व के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न लोग

भिन्न भिन्न धारणाएँ क्यो होती हैं ? हम इसी प्रश्न को ले लें कि जीवन का क्या अथ है ? सुख क्या है ? सभी ओग आसानी से दख सकते है कि जीवन और सुख के सम्बन्ध मे समाजवादी देशो म रहने वाले लोगो और पूजीवादी देशा म रहने वाले लोगो की अलग अलग धारणाएँ है। पूजीवादी दुनिया म जहा हर चीज आमतौर से रुपय से खरीदी और बेची जा सकती ह, सुख का अथ, सर्वोपरि, धन हाता है। इस कारण अनेक लोग धन अर्जित करने को ही अपन जीवन का लक्ष्य समझते है। तुच्छ सुख' के उनक क्षुद्र दशन की तह मे यही समझदारी होती है। जहाँ तक समाजवादी समाज के मानव का सम्ब ध है, वह इस क्षुद्र और अधकचरे दशन का अस्वीकार करता है। उसे परम सुख तब प्राप्त होता है जब वह यह अनुभव करता है कि उसके समाज, उसक दश, उसके उन देशवासियो को उसकी सख्त जरूरत है जा स्वय अपन श्रम परिश्रम से एक नये और प्रगति शील समाज का निमाण कर रह है। अपनी युवावस्था की एक रचना म मावस न लिखा था

"अनुभव बतलाता है कि सबसे सुखी लोग वही हाते है जा सर्वाधिक लोगा को सुखी बनाते हैं।"

इस प्रकार सुख के प्रश्न के सम्बन्ध मे दा प्रकार क रुख, दा दष्टिकोण—पूजीवादी और सबहारा वर्गीय दष्टिकोण—हमे देखने का मिलते है। इन दो सीधे-सीधे एक दूसरे के विराधी और प्रतिकूल दाशनिक दष्टिकोणा की टक्कर का यह एक उदाहरण है।

जहा समाज ही दो परस्पर विरोधी वर्गों मे बँटा हा वहा यह असम्भव है कि उस पूरे समाज का विश्व दष्टिकोण एक हो। एक वग का एक दशन होता है दूसरे का दूसरा। यदि आदमी इस बात पर विचार करे कि ऐसे समाज मे श्रमजीवी जनता की स्थिति पूजीपति वग की स्थिति से अर्थात् शोषको की स्थिति स, भिन्न हाती है तो इस चीज को समझना कठिन नही होगा।

विश्व की घटनाओ को हर वग अपन अलग अलग ढग से समझता और उनकी व्याख्या करता है, प्रत्येक वग का स्वय अपना, और अलग अलग, विश्व दृष्टिकोण तथा दशन हाता है। तटस्थ" दशन जसी चीज नही हा सकती, ऐसा कोई दशन नही हा सकता जो समाज के किसी न किसी निश्चित वग की सेवा न करता हो। इससे हम यह अत्यन्त महत्वपूण निष्कप निकाल सकते हैं कि दशन का चरित्र सदव पक्षधर होता है अर्थात वह सदैव किसी न किसी खास वग के हिता की रक्षा करता है।

समाज के विभिन्न वर्गों के बीच सारी दुनिया म जो सघप चल रहा है

उसमे दर्शन कभी तटस्थ नही रहता। और यह बात पुराने युगो के दर्शनो के सम्बन्ध मे भी इतनी ही सही है।

पुरानी (अतीत काल की) और वर्तमान काल की—सभी दर्शन पद्धतियो का दो मे से एक रुझान होता है या तो वे **भौतिकवादी** होती है, या **आदर्शवादी**।

भौतिकवाद और आदर्शवाद

'भौतिकवाद' और 'आदर्शवाद" का मतलब क्या होता है ? इसे बतलाने से पहले हम इस बात का समझ लेना चाहिए कि इन शब्दो का उपयोग हमेशा सही सही नही किया जाता। उदाहरण के लिए ऐसे भी लोग है जो समझते है कि 'आदर्शवाद' का नाम 'आदर्श" शब्द के आधार पर पडा है और, इसलिए 'आदर्शवादी' व्यक्ति वे हैं जो किसी लक्ष्य या 'आदर्श' के लिए नि स्वार्थ भाव से काम करते हैं। इसी के साथ साथ यह धारणा भी काफी व्यापक रूप से फैली हुई है कि भौतिकवादी व्यक्ति वे होते हैं जो सदैव अपने निजी फायदे की ही चिन्ता करते है और, इसलिए भौतिकवाद का मतलब पूर्णतया केवल निजी भौतिक स्वार्थो मे लिप्त होना होता है। परन्तु ये धारणाएँ सही नही है—वे भौतिकवाद या आदर्शवाद किसी की भी वैज्ञानिक समझदारी को व्यक्त नही करती।

यह धारणा कि भौतिकवाद का अर्थ अपने निजी भौतिक स्वार्थों की तृप्ति के लिए जान देते रहना है, भौतिकवाद के सच्चे अर्थ को घटिया ढग से तोड-मरोड कर पेश करना है। इस धारणा का प्रचार आमतौर से कम्युनिस्ट विरोधी ही करते हैं। लेकिन एक पूरी शताब्दी बीत गयी जब **'लुडविग फायरबाख तथा शास्त्रीय जर्मन दर्शन का अन्त"** नामक अपने ग्रथ मे एगेल्स ने उन तमाम पूजीपतियो की खूब खिल्ली उडायी थी जो भौतिकवाद का अर्थ खुदगर्जी पेटूपना, शराबखोरी मिथ्या अभिमान एन्द्रिय सुखो का भोग और काम वासना, लालुपता, कृपणता, मुनाफे के लिए मरना सट्टा खेलना—अर्थात सक्षेप मे वे सब घृणित पापाचार लगाते है जिसमे स्वय उनके निजी जीवन सदा लिप्त रहते हैं। और जहाँ तक आदर्शवाद का सम्बन्ध है, एगेल्स ने कहा था कि पूजीपति कहते हैं कि उसका मतलब सदाचार तथा श्रेष्ठतर दुनिया मे आस्था रखना है। दूसरो के सामने इन सदगुणो का एलान करना इन पूजीपतियो को बहुत अच्छा लगता है और जब वे नशे के खुमार मे होते हैं, या जब वे दीवालिया हो जाते हैं अर्थात जब उन्हे यानी भौतिकवादी अतियो (खान-पान, मदिरा पान, आदि मे अतिरेक) के अनिवार्य दुष्परिणामो को भुगतना पडता है—तब वे स्वय भी इन सदगुणो मे विश्वास करने लगते हैं।

खुला दिमाग रखने वाला हर व्यक्ति स्वय देख सकता है कि समाजवादी समाज मे उसम रहने वाले लोगो के उपयोग के लिए भौतिक वस्तुओ का उत्पादन करन के काम का कितना भारी महत्व दिया जाता है किन्तु, इसी के साथ साथ, इस चीज को भी वह उतनी ही स्पष्टता से देख सकता है कि समाजवादी दशा म विचारा की शक्ति म लोग कितनी गहरी आस्था रखते है और किस प्रकार उच्च आदर्शों से वे अपुप्राणित होत है।

'भौतिकवाद' तथा "आदशवाद' की धारणाओ का वास्तविक अथ क्या है इसे समझने के लिए आवश्यक है कि इस बात को आत्मसात कर लिया जाय कि ससार मे घटित होने वाली घटनाएँ दा प्रकार की होती है भौतिक तथा आत्मिक। पत्थर लकडा का एक कुदा अथवा प्रकाश की एक किरणावली—ये सब भौतिक वस्तुएँ है, किन्तु विचार, भावनाएँ तथा कामनाएँ—ये सब आत्मिक वस्तुएँ है।

इन दो प्रकार की वस्तुओ के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध है? प्राथमिक (या मौलिक) कौन है पहले कौन आया था, भूत या सत्ता, प्रकृति या आत्मा, मस्तिष्क या चेतना? कभी कभी इसी प्रश्न का किंचित दूसर ढग से पूछा जाता है भूत तथा प्रकृति की सम्पूण सष्टि को क्या आत्मा मस्तिष्क जन्म देता है, अथवा आत्मा, मस्तिष्क को भूत, सत्ता जन्म देते है? इस समस्या को **दशन की मूलभूत (बुनियादी) समस्या** कहा जाता है।

दशन की इस मूलभूत समस्या का भिन्न भिन्न दाशनिक भिन्न भिन्न प्रकार से उत्तर देते हैं। कुछ कहते हैं कि भूत (Matter) ही प्राथमिक है और आत्मा, मस्तिष्क उसी स पैदा हुए है। इस प्रकार के दाशनिको को **भौतिकवादी** कहा जाता है क्योकि वे इस बात को मानकर चलते है कि जो कुछ भी अस्तित्व म है उसका आधार भूत (मैटर) है। दूसरे लोग मस्तिष्क आत्मा को प्राथमिक मानते है और भूत तथा प्रकृति की समृति (दुनिया) को वे गौण अर्थात मस्तिष्क की व्युत्पत्ति बतलात हैं। उनके कथनानुसार, मस्तिष्क भूत स पहले जन्मा था, इसलिए प्रकृति (सष्टि) किसी आत्मिक शक्ति की ही उपज है। इस धारणा को मानने वाले दाशनिका को **"आदशवादी"** (या भाववादी, विचारवादी—अनु०) कहा जाता है। वे मानते है कि समस्त अस्तित्वशील वस्तुओ का मूलाधार विचार, चिंतन है।

समस्त दाशनिक इन्ही दो शिविरो मे—भौतिकवादिया तथा आदशवादिया के शिविरो मे बँटे हैं। और दशन के पूरे इतिहास के दौरान इन दोनो शिविरा ने एक दूसरे के खिलाफ सदा सघष किया है।

आदशवाद के शिविर म **वस्तुगत आदशवाद** तथा **मनोगत आदशवाद**

की दो श्रेणिया है और इनके अ तर को भी हमे समझ लेना चाहिए । वस्तुगत आदर्शवाद के दर्शन का यूनानी दार्शनिक प्लेटो (अफलातून ४२७–३४७ ई० पू०) ने जन्म दिया था । वस्तुगत आदर्शवाद को यह नाम क्यो दिया गया था इसे समझने के लिए आदमी का इस बात का ध्यान रखना होगा कि आम वस्तुएँ ऐसी चीज़ें होती है जिनका अस्तित्व मनुष्य से बाहर उसकी चेतना से स्वतत्र होता है तथा उसके कार्यकलाप इन्ही वस्तुओ की प्राप्ति की दिशा म उत्प्रेरित होते है । भौतिकवाद मानता है कि सृष्टि (दुनिया, ससार) का वास्तव मे अस्तित्व है, भौतिक वस्तुएँ वस्तुगत वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करती है । किन्तु, वस्तुगत आदर्शवाद का दावा है कि वस्तुगत रूप से अस्तित्वशील वास्त विकता की रचना केवल विचारो से हुई है, और भूत की दुनिया की उत्पत्ति 'वस्तुगत रूप से अस्तित्व रखने वाले इन विचारों के ही गर्भ मे हुई है (यद्यपि यह नही मालूम कि य विचार कहा अस्तित्व रखते हैं) ' प्लेटा (अफलातून) के विचारो को उसके अनेक अनुयायी लगातार दोहराते आये है । इन अनुयायियो मे सबसे महत्वपूर्ण जर्मन दार्शनिक हीगेल थे ।

मनोगत आदर्शवादी दूसरी तरह स तर्क करत है । मनोगतवादी आदर्शवाद के एक प्रमुख प्रतिनिधि अग्रेज पादडी जौर्ज बर्कले (१६८४ १७५३) थे । मनो गत उसे कहते है जा किसी विशेष मस्तिष्क या विषय वस्तु(Subject) म अस्तित्व रखता है ।

बर्कले इस बात से इ कार करते थे कि बाहरी दुनिया का कहीं भी कोई अस्तित्व है । वह कहते थे कि केवल वयक्तिक मानवीय मस्तिष्क का ही वास्त- विक अस्तित्व है । वह कहते थे कि मनुष्य चीजो को जब देखता है, इन्द्रियो द्वारा उनका बोध प्राप्त करता है—वह उन्हें देखता, सुनता स्पर्श करता है— केवल तभी वास्तव मे वे अस्तित्व में आती हैं । आदमी जब उनकी प्रतीति नहीं करता तब वस्तुओ का कोई अस्तित्व भी नहीं होता । इस भांति, विश्व केवल दृष्टा (कर्ता) के मस्तिष्क मे ही अस्तित्व रखता है, अर्थात वह उसी हद तक अस्तित्व रखता है जिस हद तक देखने वाला उसे देखता है ।

किन्तु विज्ञान न वस्तुगत और मनोगत दोनो किस्म क आदर्शवादियो का खडन कर दिया है ।

तो, इस बात क आधार पर कि दर्शन की मूलभूत (मौलिक) समस्या का उत्तर व किस प्रकार देत हैं, दार्शनिक भौतिकवादियो और आदर्शवादियो क बीच बँटे हुए हैं ।

दर्शन के तमाम बुनियादी प्रश्नो को लेकर भौतिकवादियो और आदर्श वादियों के बीच हमेशा एक प्राणघाती सघर्ष छिडा रहा है । उदाहरण के लिए,

विनान के सम्बध म उनके दष्टिकोणा को ले लीजिए। भौतिकवाद ससार को उसी रूप मे स्वीकार करता है जिस रूप म वह है और, इसलिए, सदा अपने को वह विज्ञान की आधार शिला पर रखता है। विनान और भौतिकवाद मित्र और परस्पर सहयोगी है। इसके विपरीत, आदशवाद ससार का शातिपूण ढग से चित्रण करता है, इसलिए विज्ञान न कवल उसको समर्थन नही दे पाता, बल्कि उसकी असगतता को भी पूण रूप स उघाड कर सामन रख देता है। इसके अलावा, आदशवाद विज्ञान की शोधो के मूलभूत निष्कर्षो का बहुत बार तोड मरोड कर और गलत ढग स पश करता है। आदशवाद और विनान के बीच सच्ची मैत्री नही हो सकती, क्याकि सारत आदशवाद विनान का शत्रु है।

अथवा, मानव समाज की समस्याओ क सम्बध म दाशनिको के दष्टिकाणा का ले लीजिए। यह बात सब विदित है कि शोपण करने वाले किसी भी समाज क अन्दर एसे वग हाते है जो एक दूसरे क विरोधी होते है। ऊपर से दखन पर शुरू शुरू म लगगा कि आदशवादिया की दाशनिक कृतिया 'इस दुनिया के मिथ्या अहकारा से, दलो और वर्गों क सघर्षो मे, सचमुच बहुत दूर है। परन्तु, वास्तव म, यह बात सच्चाई से बहुत दूर है। उनकी (अथात आदशवादी दाशनिको की) रचनाएँ नियमत समाज के पुराण पथी (अनुदार) तथा प्रति-क्रियावादी अगा क स्वार्थों की अभिव्यक्ति करती है और, इस प्रकार, मेहनतकश जनता को आत्मिक रूप मे गुलाम बनाने के साधना का काम करती है। प्लेटो न दास प्रथा को न्यायपूण बतलाया था। हीगल न प्रशिया (जमनी) की एक राजतत्रशाही को उचित ठहराया था। इसी प्रकार आज के बहुत से आदशवादी जीण शीण पूजीवादी व्यवस्था की वकालत करन की चेष्टा करत है और उनम स कुछ ता जी जान स कम्युनिस्ट विरोधी भी ह।

वास्तविकता के अध्ययन म व किन तरीका का प्रयोग करती है इस बात का लेकर भी दाशनिक प्रणालियाँ एक दूसरे स भिन हाती है।

द्वद्ववाद तथा अधिभूतवाद

वास्तविकता के घटना प्रवाहो का अध्ययन करन के लिए जिस तरीके का प्रयोग किया जाता है वह अत्यन्त महत्वपूण हाता है। अग्रेजी का शब्द 'मैथड' (तरीका, ढग, विधि, रीति,) यूनानी भाषा स आया है। इसका अर्थ होता है किसी चीज तक पहुचने का माग"। इस प्रकार 'मथेड' शब्द का तात्पय उस माग तथा उन साधनो से होता है जिनका विश्व का अध्ययन करने के लिए तथा उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सहायका के रूप मे उपयोग किया जाता है जिसकी विश्व को बदलने के लिए आवश्यकता है। तरीका (या माग) कौन

मा चुना जाता है इस पर बहुत निर्भर करता है । सत्रहवीं शताब्दी के भौतिकवादी दार्शनिक बेकन ने सही सिद्धान्त की तुलना एक ऐसी लालटेन से की थी जो यात्री के मार्ग को अवलोकित करती रहती है । और, उस वैज्ञानिक को, जो सही तरीके से अपने को लैस नही करता, उन्होंने उस आदमी की तरह बतलाया था जो रात में यात्रा करने का फैसला तो करता है लेकिन हमेशा हमेशा तक सड़क को टटोलने में ही लगा रहता है ।

वास्तविकता का अध्ययन करने के हर विज्ञान के स्वयं अपने तरीके होते है । उदाहरण के लिए सुदूर के तारो नक्षत्रो की रसायनी बनावट का अध्ययन वर्णात्मीय विश्लेषण (स्पेक्टल एनालिसिस) के तरीके से किया जाता है । समाज-शास्त्र और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में बहुधा बेतरतीब चयन के तथाकथित तरीके का उपयोग किया जाता है । इस तरीके का सार तत्व यह होता है कि शोधकर्ता जिन घटना प्रवाहो की उसे जाच पड़ताल करनी है उन सबकी जाच पड़ताल करने के बजाय उनमें से केवल कुछ का पूर्ण रूप से अध्ययन करता है और, इस प्रकार, ऐसी अभिसूचिकाए (indices) तथा आकड़े (data) प्राप्त कर लेता है जिनसे सम्पूर्ण तथ्यों के सम्बन्ध में उसे काफी सही जानकारी प्राप्त हो जाती है । इसलिए जब किसी विशिष्ट क्षेत्र के समस्त तथ्यो का अध्ययन करना बहुत कठिन या असम्भव हो तब बेतरतीब चयन का यह तरीका शोधकर्ता के लिए एक अमूल्य अस्त्र का काम करता है ।

जैसा कि हमने देखा, जाच पड़ताल का काम किन विशिष्ट तरीको से किया जाय इसका निर्णय मनमाने ढग से नही होता ये तरीके अध्ययन के विषय पर निर्भर करते हैं और प्रत्येक विषय के अध्ययन के लिए उसके अपने उपयुक्त तरीके की दरकार होती है ।

तब फिर, वास्तविकता का दार्शनिक अध्ययन करने के लिए कौन सा आम तरीका हो सकता है ? स्पष्ट है कि इस तरीके को लक्षित वस्तु क, अर्थात हमारे इर्द गिर्द के सारे ससार के अनुरूप होना चाहिए । इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि इसका तरीका प्रकृति विज्ञानो के क्षेत्र में इस्तेमाल किये जाने वाले तरीको में से नही हो सकता, यह तरीका दर्शन के क्षेत्र में इस्तेमाल किया जाने लायक तरीका होना चाहिए—एक ऐसा तरीका जिसमें प्रकृति के सम्बन्ध में जाच-पड़ताल करने का सही आम मार्ग मौजूद हो, ऐसा तरीका जो प्रकृति के अनुरूप हो । प्रकृति यदि शाश्वत गति परिवर्तन तथा विकास की दशा में है, तो उसका अध्ययन करने के दार्शनिक तरीके को स्वयं भी विकास के आम विचार को अभिव्यक्त करना चाहिए । मार्क्स और एगेल्स द्वारा स्थापित भौतिकवादी द्वन्द्ववाद का तरीका ठीक ऐसा ही तरीका है । उसमें वे आम अपेक्षित तत्व निहित और

मौजूद हैं जो प्रकृति की वास्तविकता के घटना प्रवाहो का सही सही अध्ययन करने के लिए एकदम जरूरी हैं।

द्वन्द्ववादी तरीका विश्व के घटना प्रवाहो को सतत गति, विकास तथा परिवतन की प्रक्रियाओ के रूप मे देखता है। इसके विपरीत, अधिभूतवादी (मैटाफिजिकल) तरीका विश्व को कुछ ऐसी चीज के रूप म देखता है जो अपरिवतनीय है, बफ की तरह जम गयी है, सदा सदा तक के लिए निश्चित हो गयी है।

प्राचीन काल मे दाशनिक इस बात को समझते थे कि ससार सतत गति शीलता, विकास तथा परिवतनशीलता की दशा म रहता है। हिराक्लिटस (५४० ४८० ई० पू०) प्राचीन यूनान का एक प्रमुख दाशनिक था। उसन कहा था '**सभी वस्तुएँ प्रवाहवान हैं, सभी वस्तुएँ परिवतनीय हैं।**" ससार कभी स्थिर नही खडा रहता, वह निरतर विकास करता रहता है। इस दाशनिक न लिखा था "कोई व्यक्ति नदी के उसी पानी म दो बार नही प्रवेश कर सकता, सदा नया पानी बहता रहता है।" ससार की तुलना उसने उस नदी या धारा से की थी जो सतत बहती रहती है। यह उदाहरण वास्तव म अदभुत था! जिस प्रकार नदी के जल का प्रवाह कभी बन्द नही होता और वह आगे बढता रहता है, उसी प्रकार प्रकृति के घटना प्रवाहो म होता है। यह सयोग की बात नहीं है कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सस्थापक हिराक्लिटस क विचारो का इतना अधिक सम्मान करते थे।

द्वन्द्वात्मक प्रणाली (तरीके) के एक मूल पहलू पर हमन विचार किया— उसके अनुसार यह आवश्यक है कि ससार का एक ऐसी चीज के रूप म देखा जाय जो निरन्तर गतिशीलता और परिवतन की दशा म रहती है। अब हम द्वन्द्ववाद की एक दूसरी विशेषता पर विचार करें। यह भी पहली स कम बुनियादी नही है। इसक अनुसार, ससार एक एकताबद्ध, सुसम्बद्ध, अविच्छिन्न इकाई है, वह जरूरी को गैर जरूरी स, प्राथमिक का गौण, अधीनस्थ, अथवा आनुषगिक स अलग करक उसके सगठक अगो के बीच क पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन करता है। द्वन्द्ववाद के विपरीत, अधिभूतवाद ससार के अन्दर मौजूद सम्बन्धो को सरलीकृत तरीके से देखता है, वह उन्हे शुद्ध रूप से बाहरी तथा सायोगिक मानता है। किन्तु, इस तरीके मे किसी भी घटना-प्रवाह को सचालित करन वाले नियमो के मूल तत्व को देख समझ पाना सवथा असम्भव है।

ऊपर जो कुछ बतलाया गया है उससे स्पष्ट है कि द्वन्द्ववाद, मानवीय मस्तिष्क तथा मानव समाज सहित, सम्पूण प्रकृति की गतिशीलता और विकास

के आम नियमो का विज्ञान है, ससार के समस्त घटना प्रवाहो के बीच मौजूद आम सम्बन्धों का विज्ञान है। इसी वजह से वह हर प्रकार के अधिभूतवाद का विरोध करता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद क्या है ?

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का मूल तत्व यह है कि उसमे भौतिकवाद और द्वन्द्ववाद अविच्छिन्न रूप से एकीभूत हैं। इसीलिए मार्क्सवादी दर्शन को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इसका मतलब यह होता है कि मार्क्सवादी दर्शन न केवल हमें एक सही सिद्धान्त प्रदान करता है न केवल उन घटनाओं की जो दुनिया में घटित होती हैं सही सही वह व्याख्या करता है और सही तौर से उन्हें समझाता है, बल्कि वास्तविकता के घटना प्रवाहों (घटना चक्रो) को समझने में मदद देने के लिए सही तरीके और सही दिशा के ज्ञान से भी हमें लैस करता है। उसका सिद्धान्त और उसकी कार्य प्रणाली मिलकर एक सयुक्त अविच्छिन्न इकाई बनते हैं।

दूसरे उन विज्ञानों के विपरीत जो केवल विशिष्ट नियमो का ही अध्ययन करते है मार्क्सवादी लेनिनवादी दर्शन उन सर्वाधिक आम नियमो का अध्ययन करता है, जो प्रकृति, समाज, मानवीय मस्तिष्क—अर्थात वास्तविकता के सभी अगो को सचालित करते हैं।

इन नियमो के सम्बन्ध में ब्योरेवार विचार हम थोडी देर बाद करेंगे।

किन्तु दर्शन का विषय केवल वास्तविकता को सचालित करने वाले नियम मात्र नही होते। इन नियमो का अध्ययन किस तरह किया जाय उन्हें कैसे समझा पहचाना जाय—इस प्रश्न का भी उत्तर दर्शन को देना पडता है।

इस भाति, मार्क्सवादी दर्शन प्रकृति, समाज, तथा मानव मस्तिष्क के विकास के सर्वाधिक आम नियमो का तथा ससार और उसके क्रान्तिकारी रूपान्तरण के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के तरीको का विज्ञान है।

अध्याय दो

मार्क्सवादी दर्शन का उदय तथा विकास

मार्क्सवादी दशन ने विनान के क्षेत्र म सचमुच एक क्रान्ति कर दी है। इस बात को समझने के लिए यह याद रखना जरूरी है कि मार्क्सवाद जसा कि लेनिन बारम्बार कहते थे, विश्व के दाशनिक चि तन की मुख्य धारा से दूर कहीं अलग से नही पैदा हुआ है बल्कि पिछले दशन मे जो कुछ भी सवश्रेष्ठ था उसे, तथा सामाजिक विनानो की समस्त सकारात्मक उपलब्धिया को, दाय (विरासत) के रूप म आत्मसात करके अवतीर्ण हुआ है। मार्क्सवाद सामाजिक जीवन, प्रकृति विज्ञानो तथा दाशनिक चिन्तन की सयुक्त प्रगति का अनिवाय परिणाम है। मार्क्सवादी दशन विशिष्ट सामाजिक आर्थिक परिस्थितियो की उपज था। साथ ही साथ उसकी उत्पत्ति क लिए कुछ निश्चित प्राकृतिक और दाशनिक पूव-परिस्थितिया भी जरूरी थी।

सामाजिक आर्थिक परिस्थितियाँ

मार्क्सवाद का उदय उन्नीसवी शताब्दी के पाचव दशक म उस समय हुआ था जबकि इतिहास क मच पर एक नये क्रान्तिकारी वग का, सवहारा वग का आविर्भाव हो चुका था। सवहारा वग का जन्म तो निस्सदेह काफी पहल ही हो चुका था, किन्तु उन्नीसवी शताब्दी के पाचवें दशक तक पहुँचते पहुँचते वह एक ऐसी सफल क्रान्तिकारी शक्ति के रूप म सामने आ गया था जो अपने अधिकारो को मनवाने के लिए लडने को तैयार था। ब्रिटेन, फ्रास और जमनी म उस समय उसकी जो क्रान्तिकारी गतिविधिया थी उनसे भी इसे जाना जा सकता है।

मार्क्स (१८१८ १८८३) और एगल्स (१८२० १८९५) की महान उपलब्धि यह थी कि सवहारा वग को उन्होने एक नये क्रान्तिकारी, समाजवादी

सिद्धान्त से लैस कर दिया था। इस प्रकार, मार्क्सवाद निश्चित सामाजिक परिस्थितियों की प्रत्यक्ष उत्पत्ति था। जैसे जैसे पूँजीवाद का विकास होता गया, वैसे ही वैसे मजदूरों का क्रान्तिकारी आन्दोलन भी आगे बढ़ता गया, किन्तु उसकी आगे प्रगति के लिए एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त का होना नितान्त आवश्यक था। मनुष्य की जीवन परिस्थितियों ने स्वयं ही मार्क्सवाद की सृष्टि को एक तात्कालिक काम बना दिया था।

प्राकृतिक-वैज्ञानिक पूर्व आवश्यकताएँ

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में प्रकृति विज्ञानों की जो स्थिति थी उसकी भी माँग थी कि एक नये विश्व दृष्टिकोण की सृष्टि की जाय। विज्ञान ज्यों ज्यों प्रगति करता गया त्यों ही त्यों इस अधिभूतवादी धारणा के साथ उसकी टक्कर बढ़ती गयी कि संसार मूलभूत रूप से स्थिर तथा अपरिवर्तनीय है।

इस धारणा को कि संसार एक सुसम्बद्ध अविच्छिन्न इकाई है उस समय की तीन महान वैज्ञानिक खोजों से विशेष रूप से भारी समर्थन मिला था। महान अंग्रेज प्रकृतिवादी चार्ल्स डारविन ने यह सिद्ध कर दिया था कि पशुओं और पौधों की जिन जातियों को हम आज देखते हैं वे सदा से इसी रूप में नहीं रही हैं, बल्कि विकास की एक अत्यन्त लम्बी प्रक्रिया का वे परिणाम हैं। इसके अलावा, इस बात का भी पता लग गया था कि पशु और पादप (पेड़ पौधों) के जगत के समस्त जीव तथा संघटन (organisms) एक छोटे छोटे कोशाणुओं (सेलों) से बने हैं जिनके अन्दर जीवन की सर्वाधिक संश्लिष्ट प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं। इस खोज ने जैविक विकास की सही समझदारी की प्राप्ति के लिए पक्का आधार तैयार कर दिया था। ऊर्जा की अविनाशिता तथा रूपान्तरण (conservation and transformation of energy) के नियम की भी खोज हो गयी थी। मालूम पड़ गया था कि गति शून्य से नहीं कहीं पैदा हो सकती, ठीक उसी तरह जिस तरह कि बिना अपना पता निशान छोड़े वह कहीं लुप्त भी नहीं हो जा सकती। यह भी सिद्ध कर दिया गया था कि विभिन्न प्रकार की गतियाँ एक दूसरे में रूपान्तरित हो जाती हैं। इस प्रकार यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो गयी थी कि समस्त भूत (मैटर) अविच्छिन्न और अनिवार्य रूप से गतिशीलता की दशा में रहता है। विकास के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त की यह महान् विजय थी।

वैज्ञानिक प्रगति ने—विशेष रूप से प्रकृति विज्ञान की इन तीन महान खोजों ने—अर्थात ऊर्जा की अविनाशिता तथा रूपान्तरण के नियम, जैविक प्राणियों की कोशीय बनावट के सिद्धान्त तथा डारविन के विकास के सिद्धान्त ने—प्रकृति

विज्ञान के क्षेत्र मे मार्क्स और एंगेल्स द्वारा खोज निकाले गये विश्व सम्बन्धी नये द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण की विजय के लिए जमीन तैयार कर दी थी।

दार्शनिक पूर्व-आवश्यकताएँ

अब हम मार्क्सवाद के दार्शनिक स्रोतो के विषय म कुछ विचार करें। उस समय के उन्नत दार्शनिक चिन्तन मे जो कुछ सर्वश्रेष्ठ था मार्क्स का सिद्धान्त उसी का स्वाभाविक उत्तराधिकारी था। मार्क्सवादी दर्शन का तात्कालिक सैद्धान्तिक स्रोत उन्नीसवी शताब्दी का जर्मन शास्त्रीय दर्शन और, इन सबसे अधिक, हीगल (१७७० १८३०) तथा फायरबाख (१८०४ १८७२) की शिक्षाएँ थी।

हीगेल न वस्तुगत आदर्शवाद की प्रणाली का विकास किया था। उनका विश्वास था कि प्रकृति और समाज का आधार एक परम विचार (absolute idea), एक विश्व आत्मा (world spirit) है। यह मिथ्या, आदर्शवादी सीख थी किन्तु, इसके बावजूद, हीगल के दर्शन म अनेक अत्यन्त मूल्यवान विचार मौजूद थे। इनमे सबसे महत्वपूर्ण विचार विश्व आत्मा" की सतत गतिशीलता तथा विकास के सम्बन्ध म, उनके प्रसिद्ध द्वन्द्ववाद के सम्बन्ध म, थे। उनके इन विचारो को मार्क्स और एंगेल्स न अत्यधिक महत्व दिया था, क्योकि उनमे एक बुद्धि सगत तत्व छिपा हुआ था। इस बुद्धि सगत तत्व का उन्होने स्वय उपयोग किया था। यह बात सही है कि एक सच्ची वैज्ञानिक प्रणाली की स्थापना करन म हीगल असफल हुए थ। इसकी वजह यह थी कि उनका खयाल था कि द्वन्द्ववाद के नियमो का अनुसरण प्रकृति और समाज नही, बल्कि विश्व 'आत्मा', दार्शनिक धारणाएँ तथा श्रेणियाँ ही करती है। उनकी समझ म द्वन्द्ववाद प्रकृति म नही, बल्कि केवल 'शुद्ध चिन्तन" की धारणाओ के क्षेत्र म ही काम करता था—केवल उन्ही तक सीमित था। यह आदर्शवादी द्वन्द्ववाद था। किन्तु इसके अन्दर विकास के सिद्धान्त के रूप म—एक बुद्धि सगत बीज काय छिपा हुआ था।

इसके बाद लुडविग फायरबाग न हीगेल के आदर्शवाद की सख्त आलोचना प्रस्तुत की। फायरबाख के दर्शन का प्रस्थान बिन्दु यह विचार था कि हर उस वस्तु का, जो अस्तित्वशील है आधार प्रकृति है। प्रकृति ही मानव और उसके मस्तिष्क की जननी है। विज्ञान [illegible] भौतिक ससार ही हो सकता है। फायरबाख का [illegible] हो जाने पर दर्शन शून्य और सार-हीन हो जाता है। फायरबाख [illegible] के मूल में भौतिकवाद

था। उसे काफी सुधारने, बदलने के बाद मार्क्स और एंगेल्स ने उसका भी सदुपयोग किया था।

पहले की तमाम दार्शनिक प्रणालियों के मुकाबले में मार्क्स और एंगेल्स के विचारों में मूल रूप में नया क्या था? मार्क्सवादी दर्शन भौतिकवाद और द्वन्द्ववाद के मेल से बना है तो फिर इस दर्शन और पहले के भौतिकवाद और द्वन्द्ववाद में क्या अन्तर है? इस प्रश्न के उत्तर में इस बात का पता हम चल जायगा कि मार्क्सवादी भौतिकवाद और द्वन्द्ववाद में मूलतः कौन सी चीज नयी है, अर्थात हम पता चल जायगा कि मार्क्सवादी दर्शन का मुख्य सार-तत्व क्या है। पहले हम भौतिकवाद को ले लें।

भौतिकवाद का अभ्युदय सर्वप्रथम तीन हजार वर्ष से पहले हुआ था। अतीत काल के इतिहास में दिमोक्रिटस (प्राचीन यूनान), हौलबाख (फ्रांस), चर्नीशेव्स्की (रूस) जैसे अनेक महान भौतिकवादी हुए हैं। मार्क्सवाद से पहले के भौतिकवाद की अनेक सीमाएँ थीं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वह भौतिकवाद **यान्त्रिक भौतिकवाद** था, अर्थात प्रकृति के हर घटना प्रवाह की व्याख्या वह यान्त्रिकी के नियमों के आधार पर करने की चेष्टा करता था। मार्क्सवाद से पहले के भौतिकवादी मनुष्य तक को एक मशीन ही मानते थे। दूसरी बात उस पूर्व मार्क्सवादी भौतिकवाद के सम्बन्ध में यह थी कि वह अधिभूतवादी भौतिकवाद था। द्वन्द्ववाद और विकास के विचार उसके लिए गैर थे। इसके अतिरिक्त, पहले के भौतिकवादी केवल प्रकृति की भौतिकवादी व्याख्या करने की कोशिश करते थे—सामाजिक जीवन के घटना प्रवाहों की व्याख्या वे आदर्शवादी ढंग से ही करते थे। उनका विचार था कि इतिहास का विकास केवल आदर्शवादी कारणों से, अर्थात केवल उन कारणों से होता है जिनका स्रोत मस्तिष्क में होता है। मानवीय प्रगति के भौतिक स्रोतों को देखने में वे असफल रहे। पूर्व मार्क्सवादी भौतिकवाद की एक तीसरी कमजोरी यह थी कि उसका स्वरूप शुद्ध रूप से ध्यान में मग्न रहने वाला या अकर्मण्यता पूर्ण था। इसका अर्थ यह था कि सामाजिक व्यवहार जो भूमिका अदा करता है उसे समझने में वे दार्शनिक असफल हुए थे। संसार का वे निरीक्षण करते थे बहुत से बहुत वे उसकी व्याख्या करते थे किन्तु क्रान्तिकारी व्यवहार के माध्यम से उसका रूपान्तरण कैसे किया जा सकता है इसे वे नहीं समझ पाये थे।

अब यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि मार्क्सवादी दार्शनिक भौतिकवाद अपने से पहले के भौतिकवाद से पूर्णतया भिन्न है। मार्क्सवादी भौतिकवाद से पहले का भौतिकवाद उन तमाम सीमाओं और प्रतिबंधों से जकड़ा हुआ था जो उसके अधिभूतवादी दृष्टिकोण के कारण उत्पन्न होते थे। मार्क्स और एंगेल्स ने

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का विकास अपने समय की सम्पूर्ण वैज्ञानिक तथा सामाजिक प्रगति की उपज तथा निचोड के रूप मे किया था।

यही बात द्वन्द्ववाद के सम्बन्ध मे सही है। मार्क्स का द्वन्द्ववाद हीगल के द्वन्द्ववाद से मौलिक रूप से भिन्न है। मार्क्स और एंगेल्स ने भौतिकवादी द्वन्द्ववाद की स्थापना हीगेल के आदर्शवादी द्वन्द्ववाद के मुकाबले में की थी। उन्होंने बतलाया था कि स्वय प्रकृति म द्वन्द्ववाद का एकछत्र राज्य है। इतिहास भी द्वन्द्वात्मक विकास के ही रास्ते से आगे बढता है। मानवीय चिन्तन प्राकृतिक और सामाजिक विकास के द्वन्द्ववाद का अध्ययन करता है और, एक प्रकार से, उसकी फोटो ले लेता है। हीगेल की समझ इसकी बिल्कुल उल्टी है। उनके अनुसार चिन्तन स्वय अपने आप, प्रकृति से एकदम स्वतन्त्र रूप से, और उसके बावजूद, विकसित होता है। मार्क्स ने जब यह कहा कि हीगल का द्वन्द्ववाद उल्टा, अपने सर के बल खडा था और उसके रहस्यवादी खोल के अन्दर छिपे उसके बुद्धि सगत बीज-कोष को उजागर करने के लिए आवश्यक था कि उसे उसके पैरो पर खडा कर दिया जाय—तब उन्होंने बिल्कुल सही बात कही थी। मार्क्सवाद ने हीगेल के द्वन्द्ववाद को सीधा उसके पैरो पर खडा कर दिया था। किन्तु इसका मतलब यह होता है कि मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद हीगेल के द्वन्द्ववाद का बिलकुल उल्टा है।

मार्क्स ने लिखा था,

"मेरा द्वन्द्ववादी तरीका हीगेल के तरीके से भिन्न ही नही है, बल्कि उसका ठीक उल्टा है। हीगेल मानवीय मस्तिष्क की जीवन प्रक्रिया को, अर्थात, विचार' करने की प्रक्रिया को 'विचार' के नाम पर एक स्वतन्त्र विषय तक बना देते हैं। उनके लिए यही चिन्तन वास्तविक ससार की प्रेरणा-शक्ति (उसका रचयिता) है। उनके लिए वास्तविक ससार सिर्फ 'विचार' का बाहरी, घटना प्रवाह वाला रूप है। इसके विपरीत, मेरे लिए विचार इसके सिवा कुछ नही है कि भौतिक ससार ही इन्सान के दिमाग म प्रति बिम्बित हुआ है और विचार के रूपो मे बदल गया है।"*

अब तक जो कुछ कहा गया है उसे हम सक्षेप में पुन दोहरा दें।

मार्क्सवाद ने भौतिकवाद और द्वन्द्ववाद के बीच जो अभूतपूर्व एकता स्थापित की थी वह उस क्रान्तिकारी उथल पुथल का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष था जो दर्शन के क्षेत्र मे उसने पैदा कर दी थी। मार्क्सवादी दर्शन पहले की समस्त

* कार्ल मार्क्स, पूंजी, खण्ड १, मास्को, १९६५, पृष्ठ १९।

दार्शनिक प्रणालियों से अपने वर्ग स्वरूप के कारण मूलतः भिन्न है। यह एक नये क्रान्तिकारी वर्ग का सर्वहारा वर्ग का, दर्शन है।

सर्वहारा वर्ग पहले के तमाम वर्गों से, यहा तक कि प्रगतिशील वर्गों से भी, हर प्रकार से भिन्न है और, इसी भांति, उसका दर्शन भी अतीत काल के समस्त दर्शनों से, यहा तक कि प्रगतिशील दर्शनों से भी, मूलतः भिन्न है।

मार्क्सवाद के अभ्युदय ने इतिहास के सम्बन्ध में प्रचलित धारणाओ के क्षेत्र में भी एक पूरी क्रान्ति कर दी थी। मार्क्स और एंगेल्स ने ही पहले पहल मानव जाति के इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की थी। ऐतिहासिक भौतिकवाद के रूप में इतिहास के एक नये दार्शनिक सिद्धान्त का भी विकास उन्होंने किया था।

इसके अलावा, दर्शन के सम्मुख मार्क्स और एंगेल्स ने एक नया काम रखा था वह काम यह था कि वह विश्व के रूपान्तरण का एक साधन बने। वास्तव में, यही मार्क्सवादी दर्शन की मूलभूत विशेषता है। उसका चरित्र क्रान्तिकारी है।

मार्क्सवादी दर्शन की मांग है कि जीवन को बदलने के लिए, उसे तब्दील करने के लिए उसमे सचेत और सक्रिय रूप से हस्तक्षेप किया जाय। इसी बात को अपने प्रसिद्ध शब्दों में मार्क्स ने इस प्रकार व्यक्त किया था 'दार्शनिकों ने विश्व की तरह तरह से केवल व्याख्या की है, मुख्य बात तो उसे बदलने की है।' *

मार्क्सवाद के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण चीज उसका लडाकू, क्रान्तिकारी चरित्र है। सर्वप्रथम वह कार्य (कर्म) का पथ प्रदर्शक है, मजदूर वर्ग तथा समस्त श्रमजीवी जनता के संघर्ष का अस्त्र है। क्रान्तिकारी सिद्धान्त से लैस होकर मजदूर वर्ग तथा मेहनतकश जनता निर्भीक योद्धाओ में परिवर्तित हो जाते हैं और मार्क्सवादी आदर्शों, सम्पूर्ण प्रगतिशील मानवजाति के आदर्शों की प्राप्ति के लिए कटिबद्ध होकर लडते हैं।

इसीलिए, मार्क्सवाद के उदय के साथ साथ, इतिहास ने मानवजाति के सामने मार्क्सवादी समाजवादी सिद्धान्त की सर्वहारा आन्दोलन के साथ एकता स्थापित करने का जीवनप्रद कार्य, मार्क्सवाद के आत्मिक, सैद्धान्तिक अस्त्र की उस अकेली भौतिक शक्ति के साथ—सर्वहारा वर्ग के साथ, जनता के साथ, एकता स्थापित करने का जीवनप्रद कार्य किया था जो इस अस्त्र का इस्तेमाल कर सकती है।

मार्क्सवादी दर्शन का लेनिन द्वारा विकास

समाजवादी सिद्धान्त का मजदूरों के आंदोलन के साथ मेल कराने के

---

*मार्क्स और एंगेल्स, जर्मन विचारधारा, मास्को, १९६८, पृष्ठ ६४७।

ऐतिहासिक लक्ष्य के लिए ब्लादीमीर इलिच लेनिन (१८७०-१९२४) ने अपना सारा जीवन ही अर्पित कर दिया था। निस्सदेह, यह काम आसान न था। उसकी कठिनाई इसलिए और भी बढ गयी थी कि, मार्क्स और एगेल्स की मृत्यु के बाद, पश्चिमी योरोप के मजदूरो की अनेक पार्टियो के सशोधनवादियो ने मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी भावना को तिलाजलि दे दी थी। इसके बावजूद, मार्क्सवाद के फरहरे को लेनिन ने फिर ऊचा उठाया और अनेक तूफानो के बीच से उसे विजय के शिखर तक ले गये।

मार्क्सवाद का लेनिन ने केवल पक्ष-पोषण (बचाव) नही किया, बल्कि उस नये ऐतिहासिक काल मे, साम्राज्यवाद के युग म, जिसमे वह रहते थे, उसके मुख्य उसूलो और विचारो का उन्होने और भी अधिक विकास किया। इस नये युग म समाज के जीवन मे जो तबदीलिया आयी थी उनका सामना करने के लिए आवश्यक था कि उसके केन्द्रीय सार तत्व का—उसकी क्रांतिकारी भावना का—उसकी पूरी शुद्धता के साथ बचाये रखकर मार्क्सवाद के प्रमुख पहलुओं का विकास किया जाय। इस काम को लेनिन ने बहुत ही ओजस्वी ढग से पूरा किया। लेनिनवाद की महान शिक्षाओ का उन्होने सृजन किया।

लेनिनवाद साम्राज्यवाद तथा सर्वहारा क्रान्तियो के युग का, पूजीवाद से समाजवाद मे सक्रमण तथा कम्युनिज्म के निर्माण के युग का, मार्क्सवाद है।

उसके विकास मे लेनिन ने जो महान नया इजाफा किया था उसे शामिल किए बिना आज का मार्क्सवाद पूरा ही नही हो सकता। इसीलिए मार्क्सवाद को लेनिनवाद से जुदा करने तथा एक को दूसरे के विरुद्ध रखने के पूजीवादी दार्शनिको तथा सशोधनवादियो के नाना प्रकार के सारे प्रयास केवल एक ही काम करते रहे है—वे आधुनिक काल के सबसे अधिक क्रान्तिकारी सिद्धान्त से जनता का ध्यान हटाने की कुचेष्टा करते रहे है। इन प्रयासो को मार्क्सवादियो की उपयुक्त आलोचना का कडा सामना करना पडता है।

दर्शन के क्षेत्र म लेनिन ने जो काम किया था वह पूरे युग के काम के समान था यह युग दार्शनिक चिन्तन के विकास म एक नया युग था।

इस युग के अन्तर्गत उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम काल से लेकर आज तक का समय आ जाता है।

मार्क्सवादी दर्शन को लेनिन की देन क्या थी ?।

सबसे पहले तो लेनिन ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धात म भारी इजाफा किया था। उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम भाग मे और बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ म विज्ञान के क्षेत्र मे कई मौलिक खोजें हुई थी (इन पर हम और अधिक ब्योरे के साथ अगले अध्याय मे विचार करेंगे)। इन खोजो के आधार पर न केवल

आदर्शवादियो के हमलों से मार्क्सवाद की रक्षा करने में लेनिन अच्छी तरह सफल हुए थे, बल्कि मार्क्सवादी दर्शन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंगों का, भूत के सिद्धांत तथा सज्ञान (ऐन्द्रिय बोध) के सिद्धांत का और अधिक विकास करने में भी वे कामयाब हुए थे। ऐसा करके उन्होंने द्वन्द्ववाद के नियमों तथा उसकी श्रेणियों के सम्बन्ध में हमारी समझदारी को गहरा बनाया था।

ऐतिहासिक भौतिकवाद के विकास में भी लेनिन ने भारी योगदान किया था। साम्राज्यवाद के नये ऐतिहासिक काल में मार्क्सवाद की सर्वाधिक मूलभूत मान्यताओं (थीसिसों) की उन्होंने पुनर्स्थापना कर दी थी। उदाहरण के लिए, उन्होंने समाजवादी क्रांति के एक नये सिद्धांत की स्थापना की थी। रूस के मेहनतकश लोग जब समाजवादी निर्माण कार्य के माध्यम से अपने देश का क्रांतिकारी रूपांतरण करने के लिए संघर्ष कर रहे थे, तो यह सिद्धांत ही उनका ध्रुवतारा था। आज भी दुनिया के मजदूर वर्ग तथा उसके हिरावल (अग्रिम) दस्ते का, उसकी कम्युनिस्ट और मजदूर पार्टियों के काम का, वह मार्गदर्शक और सम्बल है।

वर्गों की परिभाषा करके तथा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के सम्बन्ध में मार्क्स के विचारों का विकास करके, वर्ग संघर्ष के सम्बन्ध में मार्क्सवादी शिक्षा को भी लेनिन ने समृद्ध बनाया था। संशोधनवादियों के हमलों से इन मार्क्सवादी शिक्षाओं और विचारों की सफलतापूर्वक उन्होंने रक्षा की थी, और सोवियतों को सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का एक नया स्वरूप मान कर उन्होंने समाजवादी राज्यसत्ता के एक नये सिद्धांत की रचना की थी। सिद्धांत के प्रति कैसा सृजनात्मक रुख अपनाया जाना चाहिए इसका लेनिन एक महान उदाहरण थे। अपनी कृतियों के जरिए समाजवादी क्रांति और एक नये समाज के निर्माण से संबंधित अनेक मौलिक समस्याओं के सैद्धांतिक और व्यावहारिक समाधान के अतुलनीय नमूने उन्होंने प्रस्तुत किये थे। इसी का नतीजा है कि उनके विचार, योजनाएं तथा आदेश अब भी दैनंदिन के हमारे सम्पूर्ण सार्वजनिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन के ऊपर जबरदस्त प्रभाव डालते हैं।

लेनिन के बाद मार्क्सवादी दर्शन का विकास उनके जीवन मरण के साथियों और शिष्यों ने किया। आज भी सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी तथा दूसरी बिरादराना कम्युनिस्ट और मजदूर पार्टियों के प्रमुख कार्यकर्ताओं द्वारा उसका विकास किया जा रहा है। उनकी सैद्धांतिक कृतियाँ और रिपोर्टें तथा पार्टी कांग्रेसों और पार्टी की केन्द्रीय कमेटियों के विस्तारित अधिवेशनों में दिये जाने वाले भाषण, कम्युनिज्म के लिए संघर्ष की आधुनिक परिस्थितियों के अन्तर्गत

मार्क्सवाद-लेनिनवाद का विकास करते हैं, उसके विकास में भारी सहायता पहुचाते हैं।

मार्क्सवाद लेनिनवाद की सृजनात्मक प्रकृति

इस भांति, मार्क्सवादी सिद्धान्तों का सतत विकास होता रहता है। किसी अपरिवर्तनीय सांचे के अन्दर बन्द वे नही रहते। कठमुल्लापन (जडसूत्रवाद) के किसी भी रूप या ढंग के साथ मार्क्सवाद लेनिनवाद का योग नही बैठ सकता। जडसूत्रवाद (कठमुल्लापन) जीवित घटना प्रवाहो को जबरदस्ती मुर्दा सांचो के अन्दर बन्द कर देना चाहता है और इस प्रकार सृजनात्मक पहलकदमी और क्रान्तिकारी चिन्तन के मार्ग मे अवरोध पैदा करता है। किन्तु मार्क्सवाद लेनिनवाद का तकाज़ा है कि वास्तविकता के प्रति हमेशा सृजनात्मक रुख अपनाया जाय।

अधिभूतवाद, जो विकास के विचार को ही अस्वीकार करता है, अनिवार्य रूप मे हमे जडसूत्रवाद के गढे मे पहुचा देता है। इसके विपरीत, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद चूंकि यह मानता है कि संसार सतत गतिशीलता, परिवर्तन तथा विकास की दशा मे रहता है इसलिए वह (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) किसी भी प्रकार के "शाश्वत" "अपरिवर्तनीय" जड सिद्धांतो को नही स्वीकार करता। उल्टे, वह सृजनशीलता की सच्ची भावना को जाग्रत करता है। द्वन्द्ववाद, जैसा कि लेनिन ने कहा था, मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी आत्मा है। ऐसा वह इसीलिए है कि उसका चरित्र सृजनशील है।

जिस प्रकार जडसूत्रवाद के किसी भी रूप के साथ मार्क्सीय द्वन्द्ववाद का योग नही बैठता, उसी तरह किसी भी प्रकार के संशोधनवाद के साथ भी इसका मेल नही हो सकता। संशोधनवाद का जन्म मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्तो को 'ओवरहाल' करने (ठोक पीटकर नया बनाने) की कोशिशो के फलस्वरूप होता है। इस सबसे स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता को और भी अधिक मज़बूत करने तथा समाजवादी शिविर को सुदृढ बनाने के लिए संशोधनवाद, जडसूत्रवाद तथा संकीर्णतावाद के विरुद्ध मार्क्सवाद लेनिनवाद से होनेवाले हर प्रकार के भटकाव के विरुद्ध, निर्मम संघर्ष करना आवश्यक है।

अध्याय तीन

भूत और उसके अस्तित्व का स्वरूप

भूत क्या है ?

जीवन, नित दिन का कार्यगत अनुभव हम इस बात की प्रतीति करवा देता है कि ससार वस्तुगत रूप म विद्यमान है। इसका अस्तित्व मानव, उसके मस्तिष्क, उसकी ज्ञानेन्द्रियां और उसकी इच्छा आकांक्षाओं से स्वतन्त्र है। यह सिद्ध करके कि पृथ्वी का अस्तित्व मनुष्य या अन्य किसी भी जीवित प्राणी से बहुत पहले हुआ था अर्थात, यह सिद्ध करके कि ससार का अस्तित्व हमेशा इन सबसे स्वतन्त्र रहा है, विज्ञान ने भी इस बात की पुष्टि कर दी है। इसीलिए लेनिन न कहा था कि ऐसा कोई भी स्वस्थ व्यक्ति, जो किसी पागलखाने में नहीं रहा है अथवा जो आदर्शवादी दार्शनिकों का शिष्य नहीं है, इस बात पर कभी सदेह नहीं करेगा कि ससार वस्तुगत रूप म मौजूद (विद्यमान) है। ससार वस्तुगत है उसका अस्तित्व मस्तिष्क के बाहर, उससे परे तथा उससे स्वतन्त्र है—इसका यह अर्थ होता है कि वह (यानी ससार) भौतिक है (क्योंकि इस शब्द का इसके अलावा और कोई अर्थ नहीं हो सकता)।

> नित दिन का हमारा व्यावहारिक जीवन, अथवा उत्पादक श्रम, खुद हमें इस बात की प्रतीति करा देता है कि ससार वस्तुगत रूप से अस्तित्वशील है, और भौतिक है।

ससार का स्वरूप भौतिक है उसका अस्तित्व हमारी चेतना से परे और स्वतन्त्र है—यह मान्यता ही भौतिकवाद के सिद्धान्त की कोण शिला है तथा भूत के सिद्धान्त (theory of matter) में लेनिन के योगदान का आधार है।

हम असख्य वस्तुओं तथा घटना प्रवाहों मे घिरे हुए हैं। पत्थर और

पेड, धूलि कण और रेगिस्तान, सागर और महासागर, सूय, नक्षत्र और ग्रह, पशु और पौधे, आदि, आदि हमारे चारो तरफ फैले हुए ह। इन सभी के लिए हम एक शब्द भूत (मटर, द्रव्य, पदाथ, वस्तु–स०) का प्रयोग करते हैं। ऐसे शब्दो का धारणाएँ (या अवधारणाएँ) कहा जाता है।

धारणाओ के अन्तगत आने वाली चीजो का दायरा प्राय व्यापक होता है। उदाहरण के लिए, "वस्तु' (चीज) की धारणा 'मेज' की धारणा से काफी अधिक व्यापक हाती है। धारणाएँ अत्यन्त व्यापक, अथवा एकदम आम हो सकती हैं। यदि किसी धारणा के अन्तगत धूल के कण से लेकर मानवीय मस्तिष्क तक, तमाम वस्तुएँ तथा घटना प्रवाह आ जाते हैं तब, स्पष्ट है कि, इस तरह की धारणा अत्यन्त आम (सामान्य) होगी। "भूत" की धारणा ऐसी ही एक धारणा है। 'भूत" की परिधि मे "एक वस्तु" अथवा "एक फूल", आदि की किस्म की तमाम दूसरी धारणाएँ भी शामिल ह, और इसलिए उसकी धारणा बहुत व्यापक धारणा है। कम आम धारणाओ से यह धारणा इस बात मे भिन्न होती हैं कि उसकी छतरी के नीचे न केवल एक प्रकार की वस्तुओ के मूलभूत तथा सामान्य गुण आ जाते ह बल्कि ससार मे मौजूद सारी वस्तुएँ और धारणाएँ भी, अथात हर वह चीज जो विद्यमान है, आ जाती है। एसी अत्यन्त व्यापक तथा सामान्य धारणाएँ ही दशन का विषय होती है और उन्हे **दाशनिक श्रेणिया** (philosophical categories) भी कहा जाता है। **भूत भी ऐसी ही एक दाशनिक श्रेणी है।**

समस्त वस्तुओ मे पायी जाने वाली सब सामान्य तथा मूलभूत विशेषताएँ और गुण क्या है ? सबसे पहले तो समस्त वस्तुएँ भौतिक हैं, अर्थात व वस्तुगत रूप से, मानव के मस्तिष्क के बाहर और उससे स्वतन्त्र रूप से, मौजूद है। किन्तु उनका सामान्य गुण केवल यही नही है। उनका एक और महत्वपूण गुण होता है। जब हम गम पानी से हाथ मुह धोते ह तो हमे गर्मी की अनुभूति होती है। जब हम किसी वन के वृक्षो पर दृष्टि डालते है तब हम भिन्न भिन्न रग दिखायी देते हैं—भोज वृक्ष के श्वेत रग के पत्र, पत्तियो का हरा रग, आदि, आदि।

इससे सामान्य निष्कष निकालते हुए हम कह सकते है कि उस प्रत्येक वस्तु मे जो हम से स्वतन्त्र रूप से अस्तित्वशील (विद्यमान) है कोई न कोई एसा गुण होता है जो हमारी ज्ञानेन्द्रियो को प्रभावित कर सकता है तथा अपने अनुरूप सवेदनाएँ उत्पन्न कर सकता है।

इस बात को निश्चित करके कि समस्त वस्तुओ और घटना प्रवाहो के सवसामान्य गुण क्या होते है अब हम "भूत" सम्बन्धी धारणा की परिभाषा कर

सफल है। अपनी पुस्तक "भौतिकवाद और अनुभवसिद्ध आलोचना" में लेनिन ने लिखा है,

"भूत एक ऐसी दार्शनिक श्रेणी है जो उस वस्तुगत सच्चाई को व्यक्त करती है जिसकी जानकारी मनुष्य को उसकी अनुभूतियों के माध्यम से प्राप्त होती है।

"भूत वह है जो हमारी इन्द्रियों पर आघात करके संवेदना पैदा करता है, भूत वह वस्तुगत सच्चाई है जो हमें संवेदना के माध्यम से प्राप्त होती है इत्यादि।"*

इस प्रकार भूत सीधे सीधे वह हर चीज है जो हमारे इर्द-गिर्द मौजूद है, वह हर चीज जो वस्तुगत अस्तित्व रखती है—अर्थात सम्पूर्ण विराट् बाह्य भौतिक संसार भूत ही है।

इस बात का अच्छी तरह ध्यान रखा जाना चाहिए कि "भूत" मात्र पदार्थ नहीं है। लैटिन भाषा से अनुवाद करने पर 'भूत' का शाब्दिक अर्थ "पदार्थ" होता है। कुछ भौतिकवादियों की समझ यह थी कि भूत कोई ऐसी निश्चित सामग्री' (वस्तु या भौतिक द्रव्य-स०) है जिससे सारी चीजें बनी हैं। उदाहरण के लिए डिमाक्रिटस का ख्याल था कि समस्त भूत का मूलभूत आधार एटम (अणु) थे।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में विज्ञान का विश्वास था कि अणु अविभाज्य अविनाशी, तथा शाश्वत होते हैं। 'वे ब्रह्माण्ड की आधारभूत ईंटें' हैं और सारा संसार इन्हीं से बना हुआ है। यह धारणा उन्नीसवीं शताब्दी में भी प्रचलित थी। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के आखिरी दिनों में कुछ ऐसी वैज्ञानिक खोजें हुईं जिनसे भूत के मूलभूत आधार सम्बन्धी इस धारणा के सम्बन्ध में सदेह उत्पन्न हो गये।

उन्नीसवीं शताब्दी के आखिरी दिनों में यह बात पक्की तरह से सिद्ध हो गयी थी कि अणु के अविभाज्य होने की धारणा बिल्कुल सही नहीं थी। अणु विभाज्य है। अणु को तोड़ दिया गया है और उसके साथ साथ बहुत सी पुरानी धारणाएँ भी टूट गयी हैं।

और भी ऐसी खोजें हुई हैं जिन्होंने भूत तथा उसके गुणों से सम्बन्धित पुराने विचारों के दीवालियेपन को उजागर कर दिया है। न्यूटन के समय ही से वैज्ञानिकों का ख्याल था कि एक पिण्ड का वजन (भार) चाहे वह गति में हो या न हो एक ही तथा अपरिवर्तनीय बना रहता है। लेकिन बाद के अनुसंधानों ने सिद्ध कर दिया है कि किसी इलेक्ट्रान (विद्युदणु) का वजन सदा स्थिर नहीं

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड १४, पृष्ठ १३०, १४६।—स०

बना रहता, वह अपरिवर्तनीय नही है, बल्कि अपने वेग (velocity) के अनुसार बढता घटता रहता है। जैसा कि लेनिन ने नोट किया था, प्रकृति विज्ञानो के क्षेत्र मे एक क्रांति शुरू हो गयी है।

प्रकृति विज्ञान के क्षेत्र मे हुई इन खोजो का अपने हित मे इस्तमाल करने मे पूजीवादी आदर्शवादी दार्शनिको ने जरा भी देर नही की। उन्होने उनकी व्याख्या इस प्रकार की भूत का मूल आधार एटम (अणु) था और चूंकि अब यह सिद्ध हो गया है कि वह विभाज्य और नाशवान है इसलिए स्वय भूत का, और इसलिए, भौतिकवाद का भी, आधार समाप्त हो गया ! उन्होने खम ठोक कर कहा कि "भूत लुप्त (गायब) हो गया है।"

लेनिन ने इस दावे का कसकर खण्डन किया। उन्होने बतलाया कि भूत सदैव साक्षात (या ठोस–स०) रूप मे ही नही प्रकट होता है। उदाहरण के लिए, प्रकाश भूत का अठोस रूप है। न केवल एटम (अणु) भौतिक है, बल्कि इलक्टान तथा आधुनिक भौतिकी द्वारा ढूढ निकाले गये दूसरे तमाम 'प्राथमिक' कण भी भौतिक हैं। नयी वैज्ञानिक खोजें इस बात का जरा भी सकेत नही करती कि भूत अतर्धान हो गया है। इन खोजो ने तो भूत के अस्तित्व की ऐसी-ऐसी नयी किस्मो या रूपो को हमारे सामने उजागर कर दिया है जिनके बारे मे अतीत काल के भौतिकवाद को कोई भी जानकारी नही थी।

उन्नीसवी शताब्दी के अतिम तथा बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक काल मे मनुष्य ने बहुत सी नयी जानकारी प्राप्त की। उससे पहले इलेक्ट्रानो, प्रोटानो, आणुविक केन्द्रको (एटामिक न्यूक्लियाई) आदि के अस्तित्व के बारे मे कोई जानकारी नही थी। अब नयी खोजो ने प्रकृति की दुनिया के सम्बन्ध मे हमारे विचारो को तथा भूत की आन्तरिक बनावट (सरचना) के सबध मे हमारे वैज्ञानिक चित्र को पूरे तौर से बदल दिया है। प्रारम्भ मे केवल इलेक्ट्रान और प्रोटान का पता चला था किन्तु अब तीस से अधिक ऐसे "प्राथमिक" कणो की खोज हो चुकी है। और अब जबकि उनकी मदद से नाभकीय विद्युत केन्द्र (न्यूक्लियर पावर स्टेशन) जैसी चीजो का निर्माण किया जा सकता है तब इस बात पर कौन शक कर सकता है कि उनमे से हर एक का स्वरूप भौतिक है !

न केवल एटम (अणु) भौतिक है, बल्कि इलेक्टान तथा अन्य तमाम प्राथमिक कण भी भौतिक ही हैं। विज्ञान ने भौतिकवाद का कतई "खण्डन नही किया है।

इस भांति, आदमी को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भूत की दार्शनिक धारणा का वह विश्व की प्राकृतिक वैज्ञानिक तस्वीर के साथ घाल-मेल न कर दे।

भूत की विशिष्ट किस्मो की सरचना, दशा तथा गुणो के सम्बन्ध मे और, फलत, विश्व की हमारी प्राकृतिक वैज्ञानिक तस्वीर के सम्बन्ध मे, हमारे विचार निरन्तर बदलते रहे ह। जैसे जैसे विश्व और उसकी बनावट के सम्बन्ध म वैज्ञानिक अधिकाधिक गहरी जानकारी प्राप्त करते गये है वैसे ही वैसे उस के विषय म हमारे विचार बदलते गये हैं। नयी नयी खोजें विश्व के सम्बन्ध म हमारी पुरानी जानकारी तथा विचारो का खण्डन करती रहती है, परन्तु भूत की दार्शनिक धारणा का—जिसका सम्बन्ध विश्व की बनावट से नही बल्कि उसके वस्तुगत अस्तित्व स है—खण्डन उ होने नहीं किया, न कर सकती हैं। विश्व की तस्वीर के सम्बन्ध म हमारे विचार चाहे कितने ही बदल जायें, वे इस बात का प्रमाण कभी नही बन सकते कि भूत का लोप हो गया है। लेनिन के शब्दो म कहा जाय तो इसका अर्थ यह होता है कि अभी तक जिस सीमा के अन्तर्गत हम भूत को जानते थे वह लुप्त हो गयी है। किन्तु यह बात एक बार फिर सिद्ध हो गयी है *कि विश्व भौतिक है, और भूत एक वस्तुगत सच्चाई है।*

इस सब का अर्थ यह होता है कि आदमी को अधिभूतवादी भौतिकवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अन्तर को स्पष्ट रूप स समझना चाहिए। अधिभूतवादी भौतिकवाद के अनुसार, भूत अपरिवर्तनीय तथा अनश्वर अणुओ (एटमो) से बना है। और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इस बात को मानकर चलता है कि यह असम्भव है कि भूत को किसी प्रकार की 'आधारभूत इटो' तक—अणु तक—अथवा किसी अन्य "शाश्वत" गुण तक ही सीमित कर दिया जाय। भूत में केवल एक ही नहीं, बल्कि असख्य गुण होते हैं। विश्व म नाना प्रकार की वस्तुएँ होती हैं और उनके गुण भी नाना होते है। विज्ञान की खोजो से बारम्बार इसी बात की पुष्टि होती है। लेनिन न लिखा था,

"आधुनिक भौतिकी ज म दे रही है। वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को जन्म दे रही है।'

अस्तु चाहे जिन नये कणो का पता चला हो या आगे चलकर चले उनकी वजह से भौतिकवाद का कभी खण्डन नही हो सकता क्योकि ये कण स्वय भौतिक है व वस्तुगत रूप से मनुष्य से स्वतन्त्र रूप से, मौजूद है।

किन्तु आदर्शवादी लोग भूत की धारणा पर प्रहार करने क लिए क्यो इतने आतुर हैं? वास्तव म भूत की धारणा को लेकर विचारो का एक कटु सघर्ष चलता रहा है। इसका कारण यह है कि भूत की अवधारणा ही भौतिकवाद का मूलाधार है। मनोगतवादी-आदर्शवाद के एक सस्थापक अठारहवी शताब्दी के अंग्रेज पादडी जार्ज बकले ने इस बात को देखकर कि सारी "अपवित्र योजनाओ" की जड म भूत के निरपेक्ष अस्तित्व का सिद्धान्त है—लिखा था, "उनकी सारी

पिशाची योजनाएँ इतने साफ-साफ और अनिवार्य रूप से उसके ऊपर (भूत निरपेक्ष अस्तित्व के सिद्धान्त के ऊपर-अनु०) निर्भर करती हैं कि ज्योंही काण शिला को हटा लिया जायगा त्योंही उनका सम्पूर्ण ताना बाना तहस न हुए बिना न रह सकेगा '* फिर अपनी बात का समापन करते हुए बर्कले कहा था कि "ज्ञान शान्ति और धर्म के सभी मित्रों के दिल में इस इच्छा का हो स्वाभाविक है" कि भौतिकवाद को गलत सिद्ध कर दिया जाय।

पश्चिम की पूँजीवादी दुनिया के उन आधुनिक आदर्शवादी दार्शनिकों लिए, जो भौतिकवाद के विरुद्ध अपने संघर्ष में अब भी इस प्रकार के वक्तव्या इस्तेमाल करते है, बर्कले के ये शब्द पथ प्रदर्शक का काम करते है। किन्तु विज्ञ की प्रगति उनकी दलीलों को असंगत और असत्य साबित करती रहती है विज्ञान के क्षेत्र की हर नयी खोज भौतिकवाद तथा उसकी इस सीख की तौर से पुष्टि करती है कि भूत शाश्वत तथा अनश्वर है।

भूत सदा से मौजूद (अस्तित्वशील) रहा है और सदा मौजूद रहेगा— बात को लेकर अक्सर यह सवाल उठता है कि, "यह कैसे हो सकता है कि हमेशा से मौजूद रहा है ? एक न एक दिन तो उसकी शुरुआत हुई ही होगी, व न कही से तो उसका जन्म हुआ ही होगा ?" इस प्रश्न में आश्चर्य की कोई ब नही है। प्रत्येक व्यक्ति जीवन के स्वय अपने अनुभव से देखता है कि प्रत्येक व का एक आदि, और एक अन्त होता है। इसलिए लगता है कि फिर भूत की कभी न कभी शुरुआत हुई होगी। तब फिर प्रश्न उठता है भूत की रच किसने की ? विज्ञान इसका यह उत्तर देता है कि भूत सदा से मौजूद रहा है पूरे काल में मौजूद रहा है। इस अत्यन्त महत्वपूर्ण नतीजे के सबूत क्या है ? साबित करने वाले बहुत से तथ्य हैं। उदाहरण के लिए, भूत की अविनाशि (नित्यता) के नियम को ही ले लीजिए।

प्रकृति में ऐसा कोई पिण्ड या तत्व नही है जो लुप्त हो सकता है, अथ जो न-कही से (शून्य से—स०) पैदा हो सकता है—इस नतीजे पर महान् रू वैज्ञानिक एम०वी० लोमोनोसोव अपनी खोजों के आधार पर पहुँचे थे। निष्कर्ष को उन्होंने भूत की अविनाशिता (conservation of matte के प्रसिद्ध नियम के रूप में सूत्र बद्ध किया था। इस नियम से जाहिर होता है कुछ-नही से (नास्ति से-स०) प्रकृति में न तो कुछ पैदा होता है, और न चिन्ह छोड़े बिना कभी कोई चीज लुप्त ही होती है। परन्तु, बात यदि ऐसी

---

* जाज बर्कल, मानवीय ज्ञान के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में ग्रन्थ शिवार लन्दन १६२०, पृष्ठ ८४ ।-स०

तब तो स्पष्ट है कि प्रकृति, भूत हमेशा से विद्यमान (मौजूद) रहा है। क्योंकि, अगर कभी ऐसा कोई समय था जब विश्व में कुछ भी नहीं था, अर्थात जब भूत नहीं था—तब तो ऐसी भी कोई चीज उस वक्त नहीं रही होगी जिससे भूत पैदा हो सकता। चूंकि भूत विद्यमान (मौजूद) है, इसलिए वह हमेशा से विद्यमान (मौजूद) रहा होगा—शून्य से नहीं कभी वह पैदा हो सकता था, और वह हमेशा इसी तरह विद्यमान (मौजूद) रहेगा। वह शाश्वत तथा अक्षय है। उसकी कभी सृष्टि नहीं की गयी होगी, जिस चीज की सृष्टि की जा सकती है उसे नष्ट भी किया जा सकता है। इस भांति, भूत का कभी जन्म नहीं हुआ था, वह हमेशा से मौजूद रहा है और हमेशा-हमेशा मौजूद रहेगा। वह अमर है।

भूत और गति की एकता

कभी कभी निम्न तर्क किया जाता है मान लिया कि भूत अनादिकाल से मौजूद (अस्तित्वशील-स०) रहा है—फिर भी भौतिकवाद अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर नहीं दे पाता। उदाहरण के लिए, गति को पहला धक्का (आवेग-स०) किसने दिया था ? यह पहला आवेग (धक्का) उसे कहाँ से प्राप्त हुआ था ? तर्क किया जाता है मान लीजिए कि बहुत दिन पहले एक ऐसा समय था जब आज के ब्रह्माण्ड (विश्व-स०) के स्थान पर केवल रूप विहीन, अगति शील भूत का ही अस्तित्व था, और वह भूत अनन्तकाल से इसी दशा तथा स्थिति में चला आ रहा था, लेकिन, फिर, एक ऐसा क्षण आया जिसमें भूत अपनी उस स्थिति से जिसमें वह हमेशा रहा था, बाहर निकल आया—उसमें गति पैदा हो गयी। तब फिर यह प्रश्न उठता है कि यदि उस क्षण तक भूत स्थिर (गति हीन) पड़ा हुआ था तो अचानक उसने चलना (गति करना-स०) क्या शुरू कर दिया ? आदर्शवादी और पादड़ी लोग इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि भूत के अन्दर ऐसे कोई अन्दरूनी कारण नहीं मौजूद थे जिनसे उसके अन्दर इस तरह का परिवर्तन पैदा हो जाता, तब फिर स्पष्ट है कि प्रकृति और भूत से बाहर अवश्य ऐसी कोई बाह्य, उच्चतर शक्ति रही होगी जिसने मृत' भूत को उसकी शाश्वत 'निद्रा' तथा स्थिरता (अचलता-स०) की दशा से जागृत कर दिया था!

किन्तु भूत को गतिशील बनाने के लिए क्या वास्तव में किसी उच्चतर, बाहरी शक्ति की जरूरत थी ? क्या ऐसा नहीं हो सकता कि भूत में यह गति उसके अन्दर से ही पैदा हो गयी थी ?

ऊपर जो तर्क हमने प्रस्तुत किया है उसका आधार यह विचार है कि गति का अर्थ केवल स्थिति का (जगह का-स०) परिवर्तन हो जाना, किसी वस्तु का एक जगह से दूसरी जगह हट जाना होता है। यदि वस्तु यदि एक ही स्थान

पर बनी रहती है, तो वह गतिमय नही है। उदाहरण के लिए, पत्थर के एक टुकडे को ले लीजिए। जब तक उसे कोई उठाकर फकता नही है तब तक वह अपनी जगह नहीं बदलता। परन्तु यह गति की बिल्कुल ही सतही और अवैज्ञानिक धारणा है। किसी स्थान पर निश्चल पडे पत्थर के किसी टुकडे को ले लीजिए। उस टुकडे के अन्दर गति होती रहती है, यह गति उन अणुओ, परमाणुओ इलेक्ट्रानो तथा प्रोटानो की सतत गति होती है जो, जैसा कि मालूम है, प्रत्यक वस्तु के अन्दर मौजूद होते हैं। किसी मकान को ले लीजिए वह भी अचल नही खडा रहता, पृथ्वी के साथ साथ वह भी सूर्य की परिक्रमा करता रहता है। जब हम स्थिर बठे रहते है तब भी हमारा रुधिर (खून) निरन्तरण सचरण करता रहता है और जटिल शारीरिक प्रक्रियाएँ अविचल ढग से जारी रहती हैं, नयी कोशिकाओ (सलो) का निर्माण होता रहता है, पुरानी कोशिकाएँ (सेलें) मरती रहती हैं। यह सब भी गति ही है। इस प्रकार, गति ऐसी सीधी सादी चीज़ नही है जैसा कि कभी कभी उसे समझा जाता है।

लोग देखते है कि जब तक पत्थर के किसी टुकडे को उठाकर फेंका नही जाता तब तक वह ज़मीन पर ही पडा रहता है, जब तक किसी मोटर को ड्राइवर चलाता नही है तब तक वह एक ही जगह खडी रहती है। इस तरह की चीजो को देखकर ही लोगो के अन्दर यह धारणा पैदा हुई है कि जब तक भूत को "एक सर्वोच्च शक्ति" न, एक आत्मा ने "पहला धक्का" नही दिया था तब तक वह निश्चलता और स्थिरता की दशा मे ही पडा हुआ था।

लगभग दो सौ साल पहले तक विज्ञान केवल एक ही किस्म की गति का अध्ययन कर पाया था—अवकाश म पिण्डो के एक जगह से दूसरी जगह हट जान से सम्बन्धित गति का। इसलिए उस समय तक यह मान लेना सम्भव था कि जब तक कोई बाहरी शक्ति उसे उसकी जगह से धक्का देकर हटाती नही है तब तक प्रत्येक वस्तु ठहराव की ही दशा मे बनी रहती है। इसी समझदारी का पूरी प्रकृति पर लागू किया जाता था। किन्तु जैसे-जैसे भौतिकी, रसायन शास्त्र और जीव शास्त्र की प्रगति हुई वैसे ही वैसे यह स्पष्ट होता गया कि गति अनक तथा नाना प्रकार के रूप ग्रहण करती रहती है।

हम ऊष्मा (heat) को ले लें। अनुसधान से पता चला कि परमाणुओ की, जैसे कि, उदाहरण के लिए, पानी के परमाणुओ की, बहुत बडी सख्या की गति ही ऊष्मा होती है। पानी अपने परमाणुओ की गति (हरकत–स०) के कारण ही गम हो जाता है। किन्तु, यह गति यान्त्रिक नही होती, बल्कि कुछ अधिक जटिल होती है। विद्युत (बिजली–स०) की धारा (करेण्ट) इलेक्ट्रानो की गति से पैदा होती है। और रासायनिक प्रक्रिया भी गति ही है। अथवा

(विद्युद्णुओं) का जुड़ना एक और भी अधिक जटिल प्रक्रिया होती है। जैसा कि हमने पहले कहा है, एक जीवित शरीर (पिण्ड–स०) सदैव ही गति की अवस्था में होता है। और मानव समाज भी सतत रूप से गतिशील रहता है। सामाजिक व्यवस्थाएँ बदलती हैं, लोग बदलते हैं। अब यह कोई नहीं कह सकता कि गति का मतलब अवकाश (स्पेस–स०) में वस्तुओं (पिण्डों–स०) का केवल यान्त्रिक स्थानान्तरण होना ही होता है।

अब अपने आप से हम पूछना चाहिए कि सर्वाधिक सामान्य, दार्शनिक अर्थ में गति का अर्थ क्या होता है। सबसे पहले, हम पूछना चाहिए कि सब प्रकार की गतियों की मुख्य, अथवा सार भूत लाक्षणिक विशेषता क्या है। एंगेल्स ने लिखा था कि गति से 'सृष्टि में होने वाले परिवर्तनों और प्रक्रियाओं का, किसी वस्तु के साधारण स्थानान्तरण से लेकर चिन्तन की प्रक्रिया तक का बोध होता है।*'

वस्तुओं और घटना प्रवाहों में, विश्व में, भूत में, होने वाला कोई भी परिवर्तन गति है। यह व्यापक अर्थ में परिवर्तन है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे हम जानते हैं कि प्रकृति में भिन्न भिन्न प्रकार की गति होती है। सर्वप्रथम अवकाश में भूत के कणों या पिण्डों के स्थानान्तरण की गति, अर्थात यान्त्रिक किस्म की गति होती है। दूसरे, ऊष्मीय (तापीय, thermal) और विद्युत प्रक्रियाएँ होती हैं, अथवा गति के भौतिक (physical) स्वरूप होते हैं। तीसरे, रासायनिक प्रतिक्रियाओं और संयोजनों की (अणुओं के जुड़न की) गति होती है—अर्थात गति के रासायनिक स्वरूप होते हैं। चौथे, जीवित प्राणियों में होने वाले परिवर्तन होते हैं अर्थात गति के जैविक (biological) स्वरूप होते हैं। पाँचवें, गति का सामाजिक स्वरूप होता है अर्थात् वे परिवर्तन होते हैं जो समाज के जीवन में घटित होते हैं।

अब हम फिर उस प्रश्न को ले सकते हैं जिस पर हमने ऊपर विचार किया था क्या भूत कभी निश्चलता (ठहराव–स०) की दशा में, कभी गति न करने, कभी न बदलने की दशा में भी हो सकता था? हर्गिज नहीं। दूर अतीत में भी जब मनुष्य नहीं थे, पशु नहीं थे अथवा कोई भी जीवित कोशिकाएँ (सेलें) नहीं थीं, तब भी भूत में परिवर्तन होते रहते थे। वास्तव में, भौतिक पिण्ड चूँकि अणुओं और परमाणुओं से बने हैं और ये अणु और परमाणु सतत गति में रहते हैं इसलिए कभी ऐसा एक भी पदार्थ या वस्तु नहीं हो सकती थी जो सर्वथा गति हीन (निश्चल) तथा निर्जीव रही हो। इसके अतिरिक्त, यदि

---

* फ्रेडरिक एंगेल्स, प्रकृति में द्वन्द्वात्म, मास्को, १९६० पृष्ठ ६९।—स०

अणु परमाणु तथा इलेक्ट्रान हमेशा से विद्यमान (मौजूद) रहे हैं तो रासायनिक प्रतिक्रियाएँ, रासायनिक गति भी हमेशा मौजूद रही हैं।

इस प्रकार, ऐसा कभी कोई समय नहीं था जब भूत का अस्तित्व बिना गति के रहा हो। इसीलिए हम कहते है कि गति भूत के अस्तित्व की एक विधा हैं, भूत की सत्ता का एक स्वरूप ह। गति भूत का एक अभिन्न गुण है, अथवा, जैसा कि दार्शनिक लोग कहते है, वह भूत का एक लक्षण (उसकी प्रकृति–स०) है। बिना गति के कोई भूत नही हो सकता, भूत केवल गति मे ही अस्तित्व रख सकता है।

इसका अर्थ क्या यह है कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद इस बात से इन्कार करता है कि विराम (विश्राम–स०) की भी कोई स्थिति (या दशा–स०) *हो सकती है ? नही, वह इस बात से इन्कार नही करता। प्रकृति मे विराम* होता है। किन्तु वह **सापेक्ष** विराम होता है। भूत अथवा प्रकृति के घटना प्रवाहो मे ऐसी दशा (अथवा स्थिति–स०) का होना असम्भव है जिसम गति न हो। अगर कोई वस्तु विराम की अवस्था म है तो ऐसा वह किसी अन्य वस्तु की सापेक्षता (मुकाबले तुलना—स०) मे ही होती है। उदाहरण के लिए, जब हम किसी चलती हुई मोटर मे बैठे होत हैं तो हम उसकी अपक्षा (तुलना म–स०) विराम की अवस्था मे होते है। परन्तु यह निरपक्ष (पूण–स०) विराम की अवस्था नहीं है, क्योंकि हमारे शरीरा के अन्दर अविराम परिवतन होते रहत है।

विराम की द्वन्द्वात्मक धारणा उसकी अधिभूतवादी धारणा स मूलत भिन्न है। **अधिभूतवाद जब विराम की बात करता है तो उसका मतलब होता है गति की पूण रूप से ग़ैर मौजूदगी (अभाव–स०)।** विराम की इस समझदारी का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद विरोध करता है।

प्रकृति मे निर्णायक चीज विराम नही है (यद्यपि उसका अस्तित्व उसमे है) बल्कि गति, परिवतन, विकास है। भूत म उसके एक मूलभूत और उससे जुदा न *किय जा सकने वाले (अथात अवियोज्य–स०) गुण के रूप मे गति जन्मजात* रूप से मौजूद रहती है। इसलिए इस प्रश्न को पूछने के कोई अथ नहीं होते कि भूत को सवप्रथम गति किसने प्रदान की थी, क्योंकि गति तो उससे अभिन्न (अवियोज्य–स०) है, क्योकि वह उसके अस्तित्व का ही एक स्वरूप है।

दिक (अवकाश) और काल

भूत के अस्तित्व के स्वरूप के रूप मे हमने गति की **व्याख्या की।** *लेकिन भूत का अस्तित्व और किन दूसरे रूपो म होता है ?*

दिक् (अवकाश, विस्तार—स०) को समझने के लिए सर्वप्रथम हम इस बात को याद रखना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु के तीन आयाम होते हैं—चौड़ाई, लम्बाई, ऊँचाई। उसकी एक निश्चित साइज (आकार) होती है जो एक निश्चित स्थान घेरती है। इसके अलावा, अवकाश में उनकी स्थितियों के कारण सभी वस्तुओं के बीच किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध होता है, अर्थात्, उनके दरम्यान एक दूसरे के साथ अवकाश सम्बन्धी (स्थान सम्बन्धी—स०) ताल्लुक होता है। वे एक दूसरे से ऊँची या नीची, नजदीक या दूर, दायें या बायें होती हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु अवकाश में ही अस्तित्व रखती है और किसी अन्य रूप में उसका अस्तित्व हो नहीं सकता। भूत का एक भी कण ऐसा नहीं है और न हो सकता है जिसका निवास अवकाश में न हो, ग्रहों से लेकर मानवीय मस्तिष्क तक, आणविक नाभिक (केन्द्रक) तक, प्रत्येक वस्तु अवकाश में ही रहती है। लेकिन हम यह भी जान चुके हैं कि संसार की समस्त वस्तुओं को लेकर ही वह चीज बनती है जिसे आमतौर से भूत कहा जाता है। इसलिए स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि **अवकाश में रहने के अलावा और किसी रूप में भूत का अस्तित्व नहीं हो सकता। इसीलिए अवकाश (स्पेस—स०) को भूत के अस्तित्व का एक स्वरूप कहा जाता है।**

जैसा कि हमने पहले कहा है, विश्व की प्रत्येक वस्तु चिरन्तन परिवर्तनशीलता, गतिशीलता और विकास की अविराम दशा में रहती है। परन्तु यह परिवर्तन होते किस प्रकार हैं? यह बात एक साधारण दृष्टान्त से स्पष्ट हो जायगी। हम बाल्यावस्था से लेकर अब तक के अपने पूरे जीवन की तस्वीरों को ले लें। उससे न केवल यह स्पष्ट हो जायगा कि गुजरने वाले वर्ष अपने निशान छोड़ जाते हैं, बल्कि यह भी जाहिर हो जायगा कि हमारे अन्दर जो तमाम तब्दीलियाँ होती हैं वे थोड़ा थोड़ा करके, दिन ब दिन, काल की निश्चित अवधियों में होती हैं।

इसके अलावा, विश्व की सभी वस्तुओं और प्रक्रियाओं की एक सुनिश्चित शृंखला, एक क्रम होता है रात के बाद दिन आता है पूँजीवाद के बाद समाजवाद आता है और समाजवाद के उपरान्त कम्युनिज्म (साम्यवाद) आता है। एक घटना दूसरी से पहले घटती है, उसके बाद वाली दूसरी घटना उसके बाद घटती है। और सभी घटनाओं की एक निश्चित काल अवधि होती है। घटनाओं का यह अनुक्रम (उनका सिलसिला—स०) तथा उनकी अवधि काल (समय—स०) में ही सम्भव हो सकती है, दूसरा कोई विकल्प नहीं है। काल से बाहर विश्व की कोई भी वस्तु या घटना प्रवाह का अस्तित्व नहीं हो सकता।

इसलिए, विश्व मे हर चीज जो होती है वह काल मे ही होती है । इसी कारण, काल भी भूत के अस्तित्व का एक स्वरूप है । लेनिन ने लिखा था,

"गतिशील भूत के सिवा विश्व म कुछ नही है, और गतिशील भूत दिक् (अवकाश) और काल के सिवा और कही गति नही कर सकता ।"*

हमारे इद गिद की दुनिया की समस्त वस्तुओ तथा घटना-प्रवाह का अस्तित्व काल और दिक (अवकाश) दोनो म होता है । ऐसी कोई वस्तु नही हो सकती जिसका अस्तित्व अवकाश मे तो हो पर काल से बाहर हो । कोई वस्तु यदि अवकाश मे कुछ जगह घेरती है तो ऐसा वह या तो इस समय करती है, या कल करती थी, या अन्य किसी समय करती थी । प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व काल और अवकाश दोनो मे होता है । इस बात की प्रतीति एक साधारण रेलवे की समय सारिणी भी आप को करा देगी । कोई ट्रेन अमुक समय पर अमुक जगह रहती है । ट्रेन की जगह को उसके उस जगह होने के समय से अलग कर सकना सम्भव नही है । कहा ? कब ?—इन दो प्रश्नो के उत्तर, किसी घटना का समय और अवकाश मे उसका स्थान, ये दोनो अभिन्न रूप से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं ।

इस प्रकार, काल (समय-स०) और अवकाश अवियोज्य रूप से परस्पर सम्बन्धित हैं । एक को दूसरे से अलग कर सकना असम्भव है । अवकाश काल के बिना (बाहर) अस्तित्व नहीं रखता, उसी तरह जिस तरह काल अवकाश के बिना (बाहर) अस्तित्व नहीं रखता । और चूकि भूत का अस्तित्व अवकाश (दिक) और काल म है, इसलिए जिस तरह अवकाश और काल का एक दूसरे स अलग नही किया जा सकता उसी तरह अवकाश और काल को भूत से अलग नही किया जा सकता ।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह बात साफ हो गयी कि अवकाश और काल का अस्तित्व वस्तुगत है । विश्व मनुष्य के विना भी मौजूद रहता है अर्थात वह वस्तुगत है, और इसलिए उसकी सत्ता या अस्तित्व के रूप भी वस्तुगत है ।

इस धारणा को कि अवकाश और काल का वस्तुगत अस्तित्व है, लेनिन ने अत्यधिक महत्व दिया था, क्योकि यह धारणा अवकाश और काल के सम्बन्ध मे मनोगतवादी—आदर्शवादी धारणा के विरुद्ध है । इस मनोगतवादी—आदर्श वादी धारणा के जनक अठारहवी शताब्दी के अंग्रेज दार्शनिक ह्यूम तथा जर्मन दार्शनिक काण्ट (जो अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम और उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक काल म हुए थे) है । इन दोनो का कहना था कि काल और अवकाश

*वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रंथावली, खण्ड १४, पृष्ठ १७५ ।–स०

का कोई वस्तुगत सार (objective content) नही है। इस मनोगतवादी आदशवादी धारणा को पुनर्जीवित करने के लिए आधुनिक आदशवादी आधुनिक विज्ञान को, और विशेष रूप मे भौतिकी की कतिपय अत्यत सारभूत खोजो का, झुठलाने की चेष्टा कर रहे हैं। उदाहरण के लिए बीसवी शताब्दी ने विज्ञान की एक अत्यन्त मूलभूत खोज को, सापेक्षता के सिद्धान्त को, इसी उद्देश्य से ताडन मरोडन की चेष्टा वे करते हैं।

न्यूटन का विश्वास था कि अवकाश और काल का अस्तित्व भूत और भौतिक वस्तुओ से सवथा स्वतन्त्र है। उनका खयाल था कि अवकाश एक विशाल बक्स की तरह, या एक ऐसे सीमाहीन कमरे की तरह है जिसम न दीवालें हैं, न छत, न फश। उसके अन्दर आदमी चीजो का रख सकता है या उन्हे उसम से निकाल ले सकता है। हमारे इद गिद यह जो दुनिया है इसे, एक तरह से, इसी "बक्से' या 'कमर' के अन्दर "रख दिया गया" है। इसमे न्यूटन ने यह निष्कष निकाला था कि अवकाश निरपक्ष अथात भूत म स्वतत्र है। उनकी समझ थी कि अवकाश के ज्यामितीय गुण धम सभी दिशाओ मे एक ही प्रकार के होते है। उनकी यह धारणा अधिभूतवादी भौतिकवादी धारणा थी।

आइंस्टाइन के सापेक्षता के सिद्धान्त ने सिद्ध कर दिया है कि एकीकृत अपरिवतनीय न्यूटन द्वारा बताय गये अवकाश जैसी कोई वस्तु दुनिया म है नही। अवकाश के गुण धम बदलते रहते ह, वे भौतिक वस्तुओ के आश्रित है। उदाहरण के लिए पता चला है कि किसी वस्तु (या पिण्ड—स०) की गति ज्यो ज्यो तेज होती जाती है त्यो त्यो उसकी लम्बाई घटती जाती है। ब्रह्माण्ड म लम्बाई को नापने की कोई निरपेक्ष इकाई नही है। एक ऐसी ट्रेन की कल्पना कीजिए जो प्रकाश के वेग से किसी स्टेशन प्लेटफाम को पार कर रही है। स्वाभाविक रूप स हम सोचेंगे कि ट्रेन के इंजिन ड्राइवर तथा प्लेटफाम पर खडे किसी व्यक्ति —दोनो द्वारा नापी गयी प्लेटफाम की लम्बाई एक ही होगी। किन्तु सापेक्षता के सिद्धान्त पर आधारित गणित का हिसाब बतलाता है कि बात ऐसी नही है। ट्रेन का इंजिन ड्राइवर पायगा कि प्लेटफाम का आकार छोटा हो गया है और वह आदमी जो प्लेटफाम पर खडा है देखेगा कि चलती हुई गाडी का आकार घट गया है। और ऐसा नजर के किसी भ्रम (या छलावे—स०) के कारण नही होता, बल्कि यही वस्तुगत सचाई होती है। अवकाश सापेक्ष होता है।

काल के सम्बन्ध म भी यही बात कही जा सकती है। जसे-जसे किसी भौतिक तत्त्व की गति बढती जाती है, वसे ही वैसे उसके अन्दर का काल धीमा होता जाता है। किसी अत्यन्त शक्तिशाली गुरुत्वाकर्षी क्षेत्र (gravitational

field) म भी काल धीमा हो जाता है। यदि किसी भावी अन्तरिक्ष यात्री को अवकाश के किसी परिक्रमा पथ मे रख दिया जाय, तो अन्तरिक्ष यात्री के यान के अन्दर काल के प्रवाह की गति उस पृथ्वी पर के काल के प्रवाह की गति से अपेक्षाकृत बहुत धीमी होगी जिसे वह पीछे छोड गया है। इस बात को और भी सुचित्रित ढग से समझाने के लिए अक्सर यह कहा जाता है कि वह अन्तरिक्ष यात्री जब पृथ्वी पर लौटेगा तो यह देखकर आश्चर्य चकित हो जायेगा कि उसका खुद का बेटा उम्र म उससे बडा हो गया है।

इस भाति, आइन्स्टाइन के सापेक्षता के सिद्धान्त ने सिद्ध कर दिया है कि अवकाश और काल न्यूटन द्वारा बताये गये अर्थ मे निरपेक्ष नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि (ब्रह्माण्ड) म हर जगह वे उस तरह अपरिवर्तनीय नहीं है जैसा कि न्यूटन उन्हें समझते थे। लेकिन दार्शनिक अर्थ मे अवकाश और काल निरपेक्ष हैं, विश्व की हर वस्तु मे अवकाश सम्बन्धी गुण धर्म होते है और उसका अस्तित्व काल मे होता है, काल और अवकाश से बाहर किसी भी चीज का अस्तित्व नही है। परन्तु, भौतिक अर्थ म अवकाश और काल सापेक्ष है, क्योंकि वे गतिशील भूत के गुण धर्म पर निर्भर करते हैं। भूत, अवकाश और काल अविच्छिन्न रूप से एक सूत्र मे बधे हुए है और उन्हे किसी भी तरह एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता।

आधुनिक आदर्शवादी सापेक्षता के सिद्धान्त को तोडने मरोडने की कोशिश करते है। वे कहते है अवकाश और काल चूंकि सापेक्ष है, इसलिए उनका वस्तुगत अस्तित्व नही है। वे मात्र मनोगतवादी श्रेणियां (वस्तुएँ) हैं। लेकिन यह दलील थोथी है। नयी खोजो ने यह कदापि नहीं सिद्ध किया है कि अवकाश और काल की भौतिकवादी व्याख्या गलत है। इसके विपरीत, जो चीज गलत साबित हुई है वे अवकाश और काल के सम्बन्ध में पहले की अधिभूतवादी धारणाएँ हैं। जैसा कि भौतिकशास्त्री कहते है, निर्देशांकों की प्रत्येक पद्धति (system of co ordinates) का स्वय अपना काल होता है—सापेक्ष काल। लेकिन इस काल का भी वस्तुगत अस्तित्व होता है। अवकाश का भी अस्तित्व वस्तुगत ही होता है।

निस्सीमता (अनन्तता) तथा ससार की एकता

अवकाश निस्सीम है तथा काल अनन्त है। आधुनिक विज्ञान इस निष्कर्ष की पुष्टि करता है। ज्योतिर्विदो (astronomers) ने पता लगाया है कि कुछ नक्षत्र (तारे) हमसे करोडो प्रकाश वर्षों के फासले पर हैं। ऐसी दूरियां

के सम्बन्ध मे अलग अलग दार्शनिकों ने अलग अलग विचार व्यक्त किये हैं, लेकिन इस बात की हिमायत करने मे वे सब एक रहे है कि समस्त वस्तुएँ एक ही वस्तु के, भूत के गठन के जुदा जुदा रूप है। वायलिन लकडी की बनी होती है, मूर्ति पत्थर की, मनुष्य मास पेशियो, अस्थियो और रक्त का, आदि। किन्तु इन समस्त भौतिक तत्वो (पदार्थो—स०) की तह और मूल मे एक ही सार्वभौमिक तत्व, यानी भूत है।

विश्व मे ऐसा कोई घटना-प्रवाह नही है जिसकी उत्पत्ति भूत की गति और विकास से न हुई हो। भूत ही सब कुछ है। वह सब जगह व्याप्त है। भिन्न-भिन्न स्वरूपो मे गतिशील, विकासोन्मुख भूत के अलावा न कुछ है, और न हो सकता है। इससे यह नतीजा निकलता है कि केवल एक ही, यानी भौतिक विश्व है। इसी वजह से एगेल्स ने जोर देकर कहा था कि **विश्व की एकता का आधार उसकी भौतिकता है। दूसरे शब्दो मे,विश्व इसलिए सयुक्त (एकीकृत—स०) है क्योंकि वह भौतिक है।** विज्ञान और दार्शनिक भौतिकवाद ने कैसे यह प्रमाणित किया है कि विश्व की एकता के मूल मे एक सामान्य आधार है? एगेल्स ने इस प्रश्न का उत्तर यह कह कर दिया था कि दर्शन और विज्ञान की प्रगति के एक लम्बे और कठिन दौर ने साबित कर दिया है कि विश्व एकता के सूत्र मे बधा हुआ है। प्राचीन काल मे, जब लोगो को सूर्य, चन्द्र, ग्रहो और नक्षत्रो के सम्बन्ध मे कोई वैज्ञानिक जानकारी नही थी तब वे समझते थे कि "नैसर्गिक जगत" (यानी सूर्य, चन्द्र, ग्रहों, नक्षत्रो, आदि का ससार—स०) इस पार्थिव जगत से सर्वथा भिन्न है। दो विश्वो की धारणा इसी तरह उत्पन्न हुई थी। किन्तु धीरे-धीरे, जैसे-जैसे विज्ञान का विकास होता गया, वैसे ही वैसे नैसर्गिक जगत के ऊपर से रहस्य का पर्दा भी उठता गया और इस बात की जानकारी हो गयी कि वह जगत भी उतना ही भौतिक है जितना कि यह जगत जिसमे हम रहते हैं।

विश्व से सम्बन्धित धार्मिक और रहस्यवादी परिकल्पनाओ पर सर्व प्रथम जिस व्यक्ति ने एक जबर्दस्त प्रहार किया था वह कापरनिकस (१४७३-१५४३) था। उन्होने कहा था कि सृष्टि का केन्द्र पृथ्वी नही है, बल्कि वह स्वय हमारे सौर-मण्डल का मात्र एक साधारण ग्रह है—और इसलिए पृथ्वी को "स्वर्ग" से, या स्वर्ग को पृथ्वी से किसी प्रकार भिन्न नही माना जा सकता है। इसीलिए आकाश मे भी अलौकिक जैसी कोई वस्तु नही है।

अठारहवी शताब्दी मे महान वैज्ञानिक आइजक न्यूटन ने यह सिद्ध कर दिया था कि सूर्य के चतुर्दिक परिक्रमा करते समय यान्त्रिकी (यन्त्र विज्ञान—स०) के जिन नियमो का अनुसरण पृथ्वी करती है वही नियम चाँद को पृथ्वी के इर्द-गिर्द तथा दूसरे ग्रहो को सूर्य के चारो तरफ परिक्रमा करने के लिए बाध्य करते

है। सार्वभौमिक गुरुत्वाकर्षण के नियम (law of universal gravitation) ने सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी तथा समस्त आकाशीय (खगोलीय-स०) पिण्ड—न केवल हमारी आकाश गंगा के, बल्कि समस्त तारावलियों के समस्त-पिण्ड—एक सूत्र में साथ बँधे हुए हैं और उनके इसी मेल से हमारे ब्रह्माण्ड की एक अविभक्त एकीकृत इकाई की रचना हुई है।

आकाशीय पिण्ड भी उन्हीं तत्वों से बने हैं जिनसे पृथ्वी बनी है। सृष्टि के अन्य समस्त पिण्डों में भी वही सामान्य मूलभूत तत्व पाये जाते हैं जो पृथ्वी पर मिलते हैं। उदाहरण के लिए, उन उल्का पिण्डों में भी जो अवकाश की दूरस्थ गहराइयों से आते हैं जो मुख्य संघटक तत्व पाया जाता है वह लोहा है, अर्थात्, एक ऐसा तत्व है जो पृथ्वी पर बहुतायत से पाया जाता है। यह इस बात का पक्का प्रमाण है कि इन "स्वर्गीय दूतों" में कुछ भी अभौतिक तथा अलौकिक नहीं है।

विश्व भौतिक है। उसका अस्तित्व मानव चेतना से बाहर तथा उससे स्वतन्त्र है। किन्तु चेतना क्या है? इसका विशेष रूप से विश्लेषण करने की जरूरत है।

अध्याय चार

चेतना की उत्पत्ति तथा प्रकृति

चेतना उच्च रूप से सगठित भूत का एक गुण है

विचार, सवेदनाओ, धारणाओ, इच्छा शक्ति से चेतना बनती है। वे सब मिलकर मनुष्य के अन्दर एक ऐसी अत्यन्त महत्वपूर्ण क्षमता पैदा करते हैं जिसकी सहायता से वह अपने इद गिद की दुनिया की चीजो की अनुभूति प्राप्त करता है, उन्हे देखता है, और विश्व म क्या हो रहा है इसकी सचेत समझदारी प्राप्त करता है।

मनुष्य मे चेतना होती है। यह चेतना कहाँ से आयी है ? यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि इससे अधिक जटिल प्रश्न दूसरा कोई नही है। रूसी दैहिकी विधि (शरीर शास्त्री) आई० पी० पावलोव ने एक बार कहा था कि, "कठिनाई यह है कि मस्तिष्क को स्वय अपना अध्ययन करना है।" दूसरे लोगो न इस बात को और स्पष्ट करत हुए कहा है कि यह किसी डूबते हुए व्यक्ति द्वारा स्वय अपने बालो को पकडकर अपने को बचान की कोशिश करने जसा ही काम है। पावलोव का कथन काफी सही है, क्योकि वह उन कुछ कठिनाइया की तरफ सकेत करता है जिनका इस सम्ब ध मे इन्सान को सामना करना पडता है। लकिन उनके द्वारा दिया गया उदाहरण पूरे तौर से सही नही है क्याकि उससे तो इस बात का आभास होता है कि चेतना की प्रकृति को जानने समझने का प्रयास ही वेकार है। यह बात सही नही है। विज्ञान के इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि समस्या की जबरदस्त पेचीदगी के बावजूद उसको सुलझा लिया गया है—यद्यपि यह सच है कि सत्य तक पहुँचने का माग बहुत कष्टप्रद था।

स्मरणातीत काल से यह कहानी चली आयी है कि मनुष्य की ईश्वर ने मिट्टी से रचना की थी। किन्तु जब तक ईश्वर ने उसमें मानव आत्मा नहीं डाली तब तक वह मिट्टी एक मृत मूर्ति ही बनी रही थी। ईश्वर द्वारा उसमें प्राण (आत्मा) फूंक दिये जाने के बाद ही प्रथम मानव ने हिलना-डुलना, सोचना, जीना शुरू किया था। धर्म सिखलाता है कि जीवन और चिन्तन का मूल स्रोत आत्मा, जीवात्मा है। आत्मा मानव के अन्दर "ईश्वर की ज्योति" है।

आत्मा के बिना शरीर का अस्तित्व नहीं हो सकता, वह मृत होता है। किन्तु, कहा जाता है कि, आत्मा शरीर के बिना बहुत मजे में बनी रह सकती है। मनुष्य का जब जन्म होता है तब आत्मा उसके अन्दर निवास करने लगती है और उसकी मृत्यु के बाद वह उसे छोड़कर चली जाती है। "मृत्यु के बाद जीवन की धारणा में विश्वास तमाम धर्मों की आधार शिला रहा है। आज भी यही स्थिति है।

चेतना की प्रकृति के सम्बन्ध में आदर्शवादी (भाववादी) धारणाएँ नाना रूपों में व्यक्त हुई हैं किन्तु उन सबका सार-तत्व निम्न है (१) आत्मिक जगत, मस्तिष्क, चेतना का अस्तित्व भौतिक जगत के पैदा होने के पहले से था, (२) आत्मा भूत से अलग जिन्दा रह सकती है, अर्थात, वह भूत पर आश्रित नहीं है, और (३) भौतिक वस्तु "नश्वर", ध्वंसशील होती है, किन्तु आदर्श, आत्मा, चेतना शाश्वत है, अनश्वर है।

भौतिकवाद की धारणा इससे बिलकुल उल्टी है। उसका दृष्टिकोण इस अकाट्य तथा प्रमाणित सचाई पर आधारित है कि चेतना (मस्तिष्क) का अस्तित्व भूत से अलग न है, और न हो सकता है। अनुभूति करने वाला कोई न हो तो अनुभूतियाँ नहीं हो सकती आकांक्षा करने वाले व्यक्ति के बिना आकांक्षाएँ नहीं हो सकती। मनुष्य का संकल्प, उसकी अनुभूतियाँ, आकांक्षाएँ तथा मस्तिष्क, मानस, चिन्तन, आदि की अन्य समस्त अभिव्यक्तियाँ मनुष्य से अलग, उससे बाहर नहीं अस्तित्व रख सकतीं।

यह बात विदित है कि प्रकृति भूत उस समय भी मौजूद था जबकि मनुष्य या उसकी चेतना की उत्पत्ति नहीं हुई थी। इसलिए यह स्पष्ट है कि भूत मूल (प्राथमिक) है और मस्तिष्क, चिन्तन गौण है।

न केवल मनुष्य बल्कि किसी भी जीवित प्राणी के उत्पन्न होने से पहले प्रकृति का अस्तित्व था। इसलिए उसका अस्तित्व मस्तिष्क (चेतना) से स्वतन्त्र है, वही मूल (प्राथमिक) है। और चेतना का प्रकृति से पहले अस्तित्व हो ही नहीं सकता था। चेतना व्युत्पादित है—उसमें (प्रकृति से) उत्पन्न हुई है। दर्शन की

सबसे बडी समस्या के भौतिक समाधान की पुष्टि करने वाली यह सबसे बडी सचाई है। भूत से जुदा चेतना का अस्तित्व नही है, और न हो सकता है।

किन्तु क्या हर प्रकार का भूत सोच सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए अपने इर्द गिर्द के संसार पर दृष्टिपात कर लेना ही काफी होगा। उससे उत्तर मिलेगा नही, हर प्रकार का भूत नही सोच सकता। उदाहरण के लिए, पत्थर का कोई टुकडा, पूरी निर्जीव प्रकृति नही सोच सकती। अनेक जीवित प्राणियो मे भी चेतना का कोई चिन्ह नही पाया जाता।

चिन्तन मानवीय चिन्तन होता है। मनुष्य सोच सकता है, क्योकि वह एक विकसित मस्तिष्क का स्वामी है। मस्तिष्क ही वह इन्द्रिय है जो सोचती है। विचारो, हृदयानुभूतियो, संकल्पो, आदि के मस्तिष्क के सम्पूर्ण विशाल संसार की उत्पत्ति—मस्तिष्क की क्रियाशीलता से ही होती है। इससे नतीजा निकलता है कि समस्त आत्मिक (आध्यात्मिक, भावनात्मक–अनु०) जीवन का आधार वे भौतिक प्रक्रियाएँ हैं जो मानवीय मस्तिष्क के अन्दर चलती रहती है। आधुनिक विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि मस्तिष्क के अलावा चिन्तन की कोई और इन्द्रियाँ नही हैं।

इस भाँति, हर प्रकार का भूत नहीं चेतना को पैदा कर सकता, उसे केवल मानवीय मस्तिष्क के रूप मे उच्च रूपसे संगठित भूत ही पैदा कर सकता है। चेतना मस्तिष्क से अलग नहीं अस्तित्व रख सकती, मस्तिष्क ही उसका भौतिक वाहन है।

मानसिक (या अन्तःकरण की) क्रियाशीलता उन भौतिक प्रक्रियाओ पर आधारित होती है जो मानवीय मस्तिष्क के अन्दर चलती रहती है, अथवा, इसे यदि और भी शुद्ध ढंग से कहा जाय तो, वे उन भौतिक प्रक्रियाओ पर आधारित होती है जो बडे बडे प्रमस्तिष्कीय गोलार्धो के बाहरी भाग मे (कार्टेक्स मे) चलती रहती हैं।

हमने देखा कि प्रकृति का, भूत का उस वक्त भी अस्तित्व था जब मस्तिष्क चेतना का जन्म नही हुआ था। इनका आविर्भाव (जन्म) बाद मे हुआ था। मनुष्य का मस्तिष्क उसके शरीर तथा उसके तन्त्रिका तन्त्र पर आश्रित है। हम कह सकते हैं कि मस्तिष्क चिन्तन की इन्द्रिय है और चिन्तन करना मस्तिष्क (दिमाग) का कार्य है। किन्तु इस कथन की सफाई करने की जरूरत है। इस बात को हम समझ लेना चाहिए कि मस्तिष्क [दिमाग] स्वयं चिन्तन का, चेतना का स्रोत या कारण नही है, वह चिन्तन की केवल इन्द्रिय है। चेतना को **मस्तिष्क नहीं निर्धारित करता।**

मस्तिष्क अपने आप एक भी विचार नहीं उत्पन्न कर सकता। हमारे ज्ञान का स्रोत हमारे इर्द गिर्द की दुनिया और उसके अन्दर चलने वाली प्रक्रियाएँ हैं। मस्तिष्क इन प्रक्रियाओं का प्रतिबिम्बित करता है और इसके फलस्वरूप हम ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान को मस्तिष्क स्वयं नहीं पैदा करता, वह उसकी वजह नहीं है। वह तो केवल चिंतन की इंद्रिय है। चिन्तन करना मस्तिष्क का एक कर्म (कार्य) है। चिन्तन इस अर्थ में मस्तिष्क (दिमाग) के आश्रित है कि मस्तिष्क के होने पर ही कोई विचार उदय हो सकता है।

रूस के क्रांतिकारी लेखक ए० आई० हर्जेन ने एक मतबा लिखा था कि यह कहना कि आत्मा देह (शरीर) के बिना अस्तित्व रख सकती है यह कहने के समान है कि एक काली बिल्ली अपने काले रंग को पीछे छोड़कर कमरे से बाहर निकल जा सकती है। प्रत्येक व्यक्ति सहमत होगा कि ऐसा हो सकना असम्भव है। जिस तरह कि बिना पंखों के कोई गौरया चिड़िया उड़ नहीं सकती, उसी तरह शरीर के बिना आत्मा भी कहीं अस्तित्व नहीं रख सकती। जब शरीर का नाश हो जाता है तब उसके साथ चेतना भी समाप्त हो जाती है। यह भी इस बात का पक्का प्रमाण है कि मनुष्य के पास कोई विशेष, अभौतिक आत्मा नहीं होती। उसके पास मस्तिष्क, चेतना होती है जिसकी उत्पत्ति एक भौतिक इंद्रिय, मस्तिष्क से होती है।

इस प्रकार, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जोर देकर कहता है कि, "चिंतनशील भूत से चिंतन को अलग नहीं किया जा सकता।"* "हमारी चेतना और चिंतन—वे इंद्रियों से जितने चाहे परे, अतीन्द्रिय मालूम पड़ें, वे एक भौतिक, शारीरिक इंद्रिय—दिमाग (मस्तिष्क) की उपज हैं। मस्तिष्क (दिमाग) स्वयं ही भूत की मात्र सबसे ऊँची उपज है।"** इस चीज को समझ लेने के बाद अब हम चेतना की प्रकृति को और भी अधिक विस्तार के साथ समझ सकते हैं। सबसे पहले हम यह प्रश्न उठायें कि हमारे दिमाग (मस्तिष्क) में जो खयाल, विचार उठते हैं—वे क्या हैं?

विचार वास्तविकता का प्रतिबिम्ब हैं

किसी भी विचार, किसी भी उद्गार को ले लीजिए 'मुझे अपने सामने

---

* कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, पवित्र परिवार, मास्को १९५६, पृष्ठ १७३।—स०

** कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित ग्रन्थावली, खण्ड ३, मास्को, १९७०, पृष्ठ ३७२-७३।—स०

पीली बालू दिखलायी दे रही है।" स्पष्ट है कि अगर कोई यह कह रहा है तो उसके सिर म बालू नही है, बल्कि उसम उसका खयाल या विचार है। दूसरे शब्दो म हमारे दिमाग (मस्तिष्क) मे उन वस्तुओ तथा घटना प्रवाहो की धारणाएँ होती हैं जिनसे दुनिया म हमारा सावका पडता है। प्रत्येक विचार एसी ही धारणाओ से बनता है। उदाहरण के लिए, इस विचार को कि "साम्राज्यवाद मानवजाति का दुश्मन है"—"साम्राज्यवाद" तथा "मानवजाति का दुश्मन" की धारणाओ के जरिए व्यक्त किया जाता है।

ये धारणाएँ कहाँ से उत्पन्न होती है ? जीवन से, वास्तविकता से। बालू पीली है। साम्राज्यवाद मानव जाति का दुश्मन है। वस्तुओं का वस्तुगत अस्तित्व होता है और उनसे सम्बन्धित हमारी धारणाएँ उन्हीं से हमे प्राप्त होती हैं। पहले बालू आती है—उससे सम्बन्धित मेरी पूरी धारणा उसी से मुझे प्राप्त हुई है। इसलिए, धारणाएँ व्युत्पादित होती हैं मूल से पैदा होती है। पहले वास्तविकता होती है, फिर उसका प्रतिबिम्ब—उसका विचार पैदा होता है। इसीलिए लेनिन ने कहा था कि विचार वास्तविकता की नकल, प्रतिबिम्ब फाटोग्राफ (तस्वीर) होते हैं। चिंतन की प्रक्रिया के दौरान वास्तविकता को फिर से प्रस्तुत (पुनरुत्पादित) किया जाता है उसे चित्रित किया जाता है, उसकी फोटो ली जाती है।

हमे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि किसी वस्तु की धारणा स्वय वस्तु नही है, बल्कि वह उसकी एक परछाई, उसका एक चित्र है। यह परछाई या प्रतिमूर्ति भौतिक नही, बल्कि मानसिक (भावात्मक) होती है। उसे देखा नही जा सकता, न उसकी तस्वीर ली जा सकती है, वह तो केवल दिमाग मे वास्तविकता की मानसिक (वैचारिक प्रतिलिपि, नकल–अनु०) के रूप मे निवास करती है। विचार-शृखलाएँ भौतिक नही होती और उनका उनके भौतिक आधारो के साथ घाल मेल (झमेला) नही किया जाना चाहिए, अर्थात उनका उनसे मिला नही देना चाहिए। इसीलिए एगल्स और लेनिन ने तथाकथित घटिया भौतिकवादियो की, अर्थात उन दार्शनिको की सख्त आलोचना की थी जो कहते है कि दिमाग (मस्तिष्क) विचारो को उसी तरह पैदा करता है जिस तरह कि पित्ताशय (जिगर, यकृत–अनु०) पित्त को पैदा करता है। वे कहते है कि विचार दिमाग की पैदावार हैं—दिमाग विचार शृखलाओ को उसी तरह पैदा करता रहता है जिस तरह कि शरीर की ग्रथियाँ उन तत्वो को पैदा करती रहती हैं जो शरीर की दैहिक क्रियाशीलता के लिए जरूरी होते है। जो दार्शनिक चिंतन की इस प्रकार व्याख्या करते है उन्हे घटिया (भौंडे) भौतिकवादी कहा जाता है। इस नाम से उन्हे

सम्बोधित किया जाता है क्योंकि चिन्तन प्रक्रिया की व्याख्या वे एक भोंड, घटिया, छिछले ढंग से करते है। उनकी यह व्याख्या घटिया है, क्योंकि इसमे चेतना को भूत के साथ उलझा दिया गया है, उसका उसके साथ घाल मेल कर दिया गया है।

आदर्शवादी (भाववादी–अनु०) दार्शनिक घटिया भौतिकवाद की इस कमजोरी का इस्तेमाल भौतिकवाद को ही बदनाम करने के लिए करते हैं। आधुनिक पूँजीवादी दार्शनिक अक्सर कहते है कि भौतिकवादी केवल भौतिक (पार्थिव–अनु०) वस्तुओ को मानते हैं और आत्मिक चीजो, चेतना, मानवीय इच्छा-शक्ति के अस्तित्व से इन्कार करते है। दूसरे शब्दो मे, घटिया भौतिकवादियो के दृष्टिकोण को मार्क्सवादी लेनिनवादी शिक्षाओ के ऊपर थोपकर वे उनको एकसम बनाने की चेष्ठा करते हैं। इससे बडा झूठ हो नही सकता। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और घटिया भौतिकवाद मे रत्ती भर भी सादृश्य नही है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जिस रीति से प्रकृति तथा चेतना के महत्व की व्याख्या करता है वह न केवल आदर्शवादियो (भाववादियो–अनु०) के बल्कि घटिया भौतिकवादियो के भी खिलाफ है।

चेतना को भूत के साथ मिलाकर एकरूप कर देने के लिए घटिया भौतिकवादियो की लेनिन ने तीव्र आलोचना की थी। उन्होने बतलाया था कि चेतना भौतिक नही है बल्कि वास्तविकता की एक कापी (नकल, प्रतिलिपि–अनु०) है, उसकी प्रतिमूर्ति (परछाई–अनु०) है। परन्तु, निस्सदेह मस्तिष्क वास्तविकता को उसी तरह नही प्रतिबिम्बित करता या उसकी फोटो लेता है जिस तरह कि कोई मामूली कैमरा फोटो खीचता है। मानवीय मस्तिष्क वास्तविकता को बदल देता है (रूपान्तरित कर देता है–अनु०)—इस अर्थ मे कि उसके अन्दर वास्तविकता की वस्तुएँ तथा पदार्थ स्वय नही होते, बल्कि उनकी मानसिक (या वैचारिक–अनु०) प्रतिमूर्तियाँ होती हैं। मार्क्स ने लिखा था कि,

> 'विचार ... इसके सिवा कुछ नही है कि भौतिक ससार ही इन्सान के दिमाग मे प्रतिबिम्बित हुआ है और विचार के रूपो मे परिवर्तित हो गया है।"

चेतना की सामाजिक प्रकृति

दर्शन के मूलभूत प्रश्न का भौतिकवाद ने जो उत्तर दिया है उसका विश्लेषण करते हुए हमने निरन्तर इस बात पर जोर दिया है कि विज्ञान ने विशेष रूप से दैहिकी (शरीर विज्ञान) ने इस बात की पुष्टि की है कि भूत मूल (प्राथमिक–अनु०) है और मस्तिष्क उससे उत्पन्न (यानी गौण) है। परन्तु इस बात का सामान

लेन के बाद भी अभी तक हमारी जानकारी इतनी नही है कि मानवीय चेतना तथा चिन्तन की प्रकृति को हम पूरे तौर से समझ लें।

मार्क्सवाद के पहले के भौतिकवादियों को इस बात की चेतना थी कि चिन्तन प्रक्रिया का सम्बन्ध मस्तिष्क से है। वे इस बात को भी जानते थे कि चेतना एक प्राकृतिक प्रक्रिया के रूप में उत्पन्न होती है, उसमें अलौकिकता का तत्व कोई नही है। मार्क्सवाद से पहले के भौतिकवाद की यह बहुत भारी देन थी, किन्तु मार्क्सवाद और अधिक आगे गया। उसने सिद्ध कर दिया कि केवल प्राकृतिक, जीवशास्त्रीय कारणों के आधार पर न तो मानवीय मस्तिष्क की उत्पत्ति को समझाया जा सकता है, न उसके सारतत्व का। मार्क्सवाद ने बतलाया कि चेतना के सारतत्व को तभी हृदयगम किया जा सकता है जबकि उसकी सामाजिक प्रकृति को समझा जाय। इसका मतलब यह होता है कि मानवीय चेतना के उदय और उसकी प्रगति की समझदारी हासिल करने के सम्बन्ध में मानवीय समाज के नियमो का, समाज मे लोगो के जीवन का प्रमुख महत्व होता है। मानवीय समाज के बिना मानवीय चेतना नही हो सकती, चिंतन नही हो सकता। मानवीय चिन्तन की समस्या के समाधान के संबध में यही योगदान था जो मार्क्सवाद ने किया और जो मौलिक रूप से नया है।

अब निम्न अत्यन्त दिलचस्प तथ्यो पर विचार कीजिए। हम सब ने ऐसे बच्चो के बारे में सुना है जो जगलो में पाये गये है और जिन्हे वहाँ जानवरो ने "पाला पोसा" था। कदाचित ऐसा एक अत्यन्त विचित्र मामला भारत में १८२० में सामने आया था। एक अनाथालय के प्रधान, एक श्री सिंह को पता चला कि कुछ भेडियो के साथ उनकी माद में कुछ विचित्र प्राणी रह रहे है। मुकामी लोगो ने बतलाया कि वे "भूत" थे, किन्तु जाच करने पर पता चला कि वे दो छोटी छोटी लडकियां थी। उनमे से एक केवल १८ महीने की थी और दूसरी लगभग ८ वर्ष की। उन्हे भेडियो से छीनकर अनाथालय में रख दिया गया। वहां दूसरे बच्चो के साथ उनका पालन पोषण किया जाने लगा। किन्तु अनाथालय के लोगो को वे बहुत तग करती थी, क्योकि यद्यपि उनका जन्म एक स्त्री के पेट से हुआ था, वे हर माने में छोटे छोटे जानवरो की तरह थीं, खास तौर से छोटी-वाली तो बिल्कुल ही जानवर थी। जानवरो के बीच रहने की न केवल उनके आचरण पर, बल्कि उनके शरीरो की बनावट पर भी जबदस्त छाप पडी थी। इंसान की मौलिक विशेषता है कि वह सीधा चलता है किन्तु इससे वे सर्वथा अपरिचित थी। उनके अन्दर किसी मानवीय चेतना तथा सोचने की क्षमता के कोई भी चिन्ह नही थे, और न उनमे किसी प्रकार की मानवीय हृदयोद्भूतियां अथवा भावनाएँ ही पायी जाती थी। वे एक बीच की, इंसान और पशु के बीच

की जिंदगी जी रही थी। दिन म वे सोती थी और अंधेरा होने के बाद ही उनके अन्दर कुछ चेतना, सजीवता दिखलायी देती थी।

वर्ष बीतते गये। फिर, उनमें मानवीय लक्षण प्रकट होने लगे, वे धीरे धीरे, भारी प्रयास से, उत्पन्न हुए, किन्तु व स्पष्ट दीखन लगे। प्रथम शब्द बोले गये। उनके इर्द गिर्द क्या हो रहा था इसकी इन्सानी समझदारी के प्रथम चिन्ह उनके अन्दर दिखलायी दिये। उनकी प्रारम्भिक धारणाएँ बनी। "छोटे छोटे पशु" बदल कर बच्चा का रूप ले रहे थे। पर दुर्भाग्य से बडे होने से पहले ही वे मर गये।

ये तथ्य हम क्या बतलाते हैं? सर्वप्रथम व बतलाते है कि चेतना की प्राकृतिक, जीव शास्त्रीय उत्पत्ति का तथाकथित सिद्धान्त एकदम गलत है। मार्क्सवाद से पहले के भौतिकवादी कहते थे कि "मनुष्य प्रकृति का शिशु है।" उनके इस दावे म कुछ सच्चाई है, क्योकि वह आदर्शवादी (भाववादी–अनु०) तथा धर्म शास्त्रीय इन दावो का खडन करता है कि चेतना की उत्पत्ति दैवी या अलौकिक कारणो से हुई है। परन्तु अधिभूतवादी भौतिकवाद भी, जो यह कहता है कि मानवीय चेतना केवल प्रकृति से पैदा हुई है, पूरे तौर से सही नही है। यह चीज असदिग्ध रूप से उन बच्चो को देखने से सिद्ध हो जाती है जिन्हे भेडियो के पास से बचाकर निकाल लाया गया था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि चेतना प्रकृति की उसी तरह की सीधी सादी उपज नही है जिस तरह कि, उदाहरण के लिए, हमारे हाथ, हमारा ब्रेन हमारी आँखें तथा हमारे बाल है।

इसलिए, इसके लिए कि चेतना पैदा हो और काम करने लगे, प्राकृतिक जीव शास्त्रीय आधार के अलावा, सामाजिक परिस्थितियों की भी—मानवीय परिवेश के अन्तर्गत सामाजिक जीवन की मानवीय समाज की भी—आवश्यकता होती है।

मानवीय चेतना का स्वरूप सामाजिक होता है। मानवीय सामाजिक जीवन तथा गतिविधियो से, मानवीय सामाजिक सम्पर्कों से एकदम अलग कहीं मानवीय चेतना का उदय नही हो सकता। किसी एक व्यक्ति की आत्मा की बात तो छोडिए, वह किसी एक व्यक्ति के मानवीय मस्तिष्क की भी एकल (अलग) उत्पत्ति नही है। एक इन्सान के रूप म, एक व्यक्तित्व के रूप म कोई बच्चा केवल एक मानवीय समुदाय (समाज) मे रहकर ही ढल सकता है।

मानवीय समुदाय (समाज) से बाहर मानवीय चिंतन का कहीं अस्तित्व नहीं होता। चिंतन समाज के अन्दर मानव द्वारा जिये जाने वाले जीवन मे उत्पन्न होता है वह उन सम्पर्कों के परिणाम-स्वरूप पैदा होता है जो अपने काम के दौरान मनुष्य दूसरे मनुष्यो के साथ कायम करता है।

मनुष्य को, मानव समाज की रचना काम(श्रम) ने की है। इसी के अनुसार, मनुष्य के मस्तिष्क की भी, उसकी चेतना की भी उसी ने (श्रम ने) सृष्टि की है। इसीलिए, मार्क्स ने कहा था कि अपने आविर्भाव के प्रारम्भ से ही चेतना एक सामाजिक उपज रही है, और जब तक मनुष्य जिंदा रहते हैं तब तक वह ऐसी ही बनी रहेगी। चेतना समाज में मनुष्य के जीवन की उपज है। वह एक सामाजिक वस्तु या घटना प्रवाह है।

मनुष्य के मस्तिष्क ने और स्वयं मनुष्य ने अपने आपको भी सामाजिक नियमों के प्रभाव के अन्तर्गत कायम किया था और उन्होंने तरक्की भी उसी के अन्तर्गत की है।

मस्तिष्क और भाषा। वाणी

वाणी भी सबसे पहले तभी पैदा हुई जबकि मानव समाज, और उसके साथ-साथ, मानवीय चेतना का उदय हुआ। लोग जब अपने को जिंदा बनाये रखने के लिए आवश्यक वस्तुओं को पैदा करने के लिए मिल जुल कर काम करने लगे तब, अनिवार्य रूप से, वे एक दूसरे से कुछ कहने की आवश्यकता का भी अनुभव करने लगे। एंगल्स ने बतलाया था कि इस आवश्यकता ने स्वयं अपनी एक इन्द्रिय को जन्म दिया। वनमानुष के अविकसित स्वर यन्त्र ने धीरे धीरे, किन्तु निश्चित रूप से, अपने को बदलना शुरू किया और उसके मुख के अंगों ने एक के बाद दूसरी संगत (सामञ्जस्यपूर्ण) ध्वनि का उच्चारण करना सीखा।

इस प्रकार, अर्थपूर्ण वाणी का, अर्थात्, भाषा का, विचारों के आदान प्रदान के, परस्पर वार्तालाप के साधनों का, तथा चिन्तन की भौतिक खोल का आविर्भाव हुआ।

भाषा और विचारों की एकता खुद चेतना की प्रकृति से ही उत्पन्न होती है। कोई विचार वास्तविक तभी बनता है जबकि वह शब्दों का स्वरूप ले लेता है। जब तक वह किसी मनुष्य के दिमाग के अन्दर ही रहता है तब तक वह मरा हुआ रहता है क्योंकि वह दूसरों के लिए असुलभ, अगम्य (उनकी पहुँच के बाहर—अनु०) बना रहता है। मार्क्स के शब्दों में, भाषा विचारों की तात्कालिक वास्तविकता है। भाषा से बाहर, अपनी भौतिक 'खोल' से बाहर, चिन्तन नहीं हो सकता। उस समय भी जिस समय कि हम अपने विचारों को जोर से नहीं व्यक्त करते, बल्कि केवल मन ही मन में सोचते रहते हैं उस समय भी हमारे विचार शब्दों का स्वरूप ग्रहण करते हैं, भाषा का रूप अपनाते हैं। भाषा की ही वजह से न केवल विचार बनते हैं, बल्कि दूसरे लोगों तक प्रेषित भी होते हैं। और लिखित भाषा की सहायता से वे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के पास

पहुँचते जाते हैं। किसी निराकार विचार को, किसी अमूर्त ख्याल को शब्दों के अलावा और किसी प्रकार से प्रकट कर सकना असम्भव है।

इस प्रकार, मानवीय चेतना की रचना शैशव काल से ही शब्दों, भाषा के आधार पर होती है।

फलस्वरूप, चिन्तन घनिष्ट रूप से वाणी के साथ जुड़ा हुआ है, दरअसल, मानवीय चेतना और चिन्तन को वाणी से अलग कर सकना असम्भव है। **भाषा और चिन्तन के बीच एक अटूट सजीव एकता स्थापित हो जाती है—और यह केवल मनुष्य की ही विशेषता है।**

> एंगेल्स ने जोर देकर इस बात को बतलाया था कि वानमानुष का मस्तिष्क मानवीय मस्तिष्क में धीरे धीरे सुसंगत वाणी के आविर्भाव (उदय) के कारण ही बदला था।

दिमाग और मशीन

चेतना की उत्पत्ति समाज से, सामाजिक जीवन से हुई है। इस तथ्य की सहायता से आधुनिक विज्ञान के एक अत्यन्त "ज्वलन्त" प्रश्न का—तथाकथित "सोचने वाली" मशीनों के प्रश्न का हम तय कर ले सकते हैं। "जहीन (बुद्धिमान) मशीनों द्वारा किये जाने वाले काम के बारे में बहुत लोग जानते हैं। ये मशीनें बड़े बड़े जटिल काम कर देती है, वे एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद कर देती है, हवाई जहाजों को चला देती हैं, रेलों को ड्राइव कर लेती हैं, और, यहां तक कि, शतरंज खेल लेती है। वे कुछ ऐसे तर्क-सम्मत काम भी कर लेती हैं जिन्हें कि मानवीय मस्तिष्क ही आम तौर से कर पाता है। वे "इस बात का अनुमान कर लेती हैं" कि किसी रेलगाडी को कब धीमा करना चाहिए वे इस बात का "याद रखती है" कि कौन से काम उन्होंने पूरे कर लिये है आदि, आदि। ऐसा लगता है कि इन मशीनों के रूप मे धातु के कपड़े पहन कर मानवीय चिन्तन ही हमारे सामने उपस्थित है!

किन्तु, क्या मशीन पूरे तौर से किसी मानवीय मस्तिष्क की जगह ले सकती है? नहीं यह सम्भव नहीं है। चिन्तन को कुछ स्वचालित कार्यवाहियों के कटहरे में नहीं बन्द किया जा सकता—चिन्तन, सबसे पहले एक सामाजिक उपज है समाज के अन्दर मनुष्य के जीवन की उपज है। और, सैद्धान्तिक रूप से इस तरह का जीवन किसी मशीन को सुलभ नहीं है।

निस्सन्देह, विद्युत चालित मस्तिष्कवादी मशीनों [साइबरनेटिक मशीनों] को कहां तक उन्नत और दोष रहित बनाया जा सकता है इसकी कोई सीमा नहीं है। बिलकुल सम्भव है कि भविष्य मे लोग ऐसी तर्क सम्बन्धी समस्याओं को

हल करने म कामयाब हो जायें जिनसे कि ये मशीनें सचमुच धातु के भेष म मानवीय तक का प्रतिनिधित्व करती प्रतीत होने लगें। परन्तु मशीन हमेशा मानवीय मस्तिष्क की मात्र सहायक रहेगी। मनुष्य के बिना कोई भी मशीन मात्र "मरी हुई धातु" होगी।

मानवीय मस्तिष्क किसी भी यन्त्र से क्यो इतना अपरिमित रूप से श्रेष्ठ होता है? इसलिए कि, चिन्तन की ही तरह, वह भी सामाजिक सम्बन्धा की उपज है। और मस्तिष्क का काम इन सम्बन्धो की तरह ही जटिल होता है। कोई भी 'विद्युत चालित मस्तिष्क' (इलेक्ट्रानिक दिमाग) कभी भी मनुष्य की आन्तरिक आत्मिक दुनिया की, उसकी सृजनशीलता की, कल्पना की उसकी उडानो, उसके स्वप्नो, कला की सश्लिष्ट दुनिया की, अथवा अपनी इच्छा शक्ति का इस्तेमाल कर सकने की मनुष्य की क्षमता की "पुनउत्पत्ति" नही कर सकेगा।

मशीन केवल उन्ही मानवीय कार्यो को सम्पादित कर सकती है जो स्वचालित यन्त्र की तरह के, कार्य है। भविष्य मे विद्युत चालित मस्तिष्क वाली मशीनो (यन्त्रो) को चाहे जैसे काम सौंपे जायें, मनुष्य की वे चाहे जितनी अधिक जगह लेने मे समर्थ हो जायें, किन्तु वे सदैव मनुष्य की ऐसी सेविकाएँ ही बनी रहगी जिनका उत्पादन सम्बन्धी, शिक्षा सम्बन्धी, तथा अपनी अन्य समस्याओ को हल करने मे समाज इस्तेमाल कर सकेगा। मशीन सोच नही सकती वह सोचने मे मनुष्य की केवल सहायता कर सकती है। विद्युत चालित मस्तिष्कों के निर्माण का काम मनुष्य के मानसिक कार्य को आसान बनाना है।

भौतिकवाद तथा मनुष्य की आत्मिक सम्पदा

भौतिकवाद के विरोधी कहते हैं कि भौतिकवाद यदि आत्मा को नही मानता तो फिर वह श्रद्धा, आशा, प्रणयोन्माद तथा अन्य तमाम उत्कृष्ठ भावो की तरह के महत्वपूर्ण मानवीय गुणो को भी नही मान सकता! उदाहरण के लिए, कुछ आधुनिक पूजीवादी नव टामिस्टवादी (neo Thomists) अभियोग लगाते हुए कहते ह कि भौतिकवादी आत्मिक मूल्यो को मानने से इसलिए इन्कार करते है कि उनकी नजर मे केवल भौतिक मूल्य ही सब-कुछ ह। क्या यह बात सचमुच सही है? हर्गिज नही! यह तो भौतिकवाद के खिलाफ गाली है—उसे बदनाम करने की कुचेष्टा है! मार्क्सवाद इस बात को नही मानता कि मनुष्य के अन्दर कोई विशेष, अनैतिक 'आत्मा" होती है। किन्तु इस बात से वह कतई इन्कार नही करता कि मनुष्य की एक आन्तरिक, आत्मिक दुनिया भी होती है। न भौतिकवाद इस बात से ही इन्कार करता है कि मानव आत्मा अपार रूप से समृद्धशाली होती है।

असल बात यह है कि मार्क्सवादी आत्मा के सम्बन्ध में रहस्यवादी, धार्मिक धारणा को नहीं स्वीकार करते। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि हम आत्मा की धारणा को ही नहीं मानते। हमें तो इस बात पर अभिमान है कि कम्युनिस्टों का क्रान्तिकारी उत्साह, जिसकी सारे संसार ने कई बार प्रशंसा की है, मानव आत्मा की शक्ति और उसके सौन्दर्य की एक स्पष्टतम अभिव्यंजना है। इसी वजह से स्पेन के उस महान बेटे, ग्रिमाओ को, जो कि कम्युनिस्ट था और जिसे वहाँ के फासिस्टों ने मार डाला था, हम "महामानव की आत्मा से सम्पन्न व्यक्ति" कहते हैं।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के कुछ प्रमुख विचारों पर हमने ऊपर प्रकाश डाला है। किन्तु उनको और गहराई से समझने के लिए आवश्यक है कि मार्क्सीय भौतिकवादी द्वन्द्ववाद के सम्बन्ध में हम और अधिक जानकारी प्राप्त करें। अतः अब हम द्वन्द्ववाद के नियमों और उसकी श्रेणियों का अध्ययन करेंगे।

अध्याय पांच

द्वन्द्ववाद के मूलभूत नियम तथा उसकी श्रेणियाँ

नियम किसे कहते हैं ?

नियम विश्व की वस्तुओ तथा घटना प्रवाहो के बीच एक प्रकार का सम्बन्ध या रिश्ता होता है।

यहाँ किस प्रकार के सम्बन्ध से मतलब है इसे समझने के लिए निम्न उदाहरण ले लीजिए। अगर किसी पत्थर को ऊपर हवा मे फेंका जाय तो वह हमेशा धरती पर आ गिरेगा। एक तीर या किसी अन्य वस्तु को हवा मे ऊपर फेंका जाय तब भी ऐसा ही होगा—वह नीचे पृथ्वी पर आ गिरेगी। किन्ही निश्चित कारणो से पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र और उस वस्तु के बीच जिसे ऊपर फेंका जाता है एक स्थायी, अटूट सम्बन्ध होता है—एक ऐसा सम्बन्ध जो न अस्थायी होता है, न आकस्मिक। इस प्रकार यहा पर हम किसी ऐसे घटना प्रवाह पर नही विचार कर रहे है जो घटित हो सकता है या नही भी घटित हो सकता बल्कि एक ऐसे घटना प्रवाह पर जिसका घटित होना निश्चित है क्योंकि वह घटित हुए बिना रह नहीं सकता। ऊपर हवा मे फेंकी गयी चीज का पृथ्वी पर वापस लौट आना निश्चित है क्याकि पृथ्वी के गुरुत्वीय खिचाव की शक्ति उसे नीचे खीच लायगी। यह चीज अपवाद रहित नियमितता के साथ, बिना किसी चूक के हमेशा होती है। अपने व्यावहारिक जीवन मे जब किसी ऐसे घटना-प्रवाहो से हमारा सावका पडता है तब हम कहते हैं कि वे वस्तुओ के बीच के किसी नियमित, अपरिहार्य, मूलभूत सम्बन्ध या रिश्ते को जाहिर करते है। दूसरे शब्दो मे, नियम पारस्परिक रूप से सम्बंधित वस्तुओं तथा घटना प्रवाहों के बीच के एक ऐसे सम्बन्ध को कहा जाता है जो आकस्मिक, बाह्य, क्षण भगुर

(अस्थायी) अथवा संयोगात्मक नहीं होता, बल्कि जो उनकी आन्तरिक प्रकृति से पैदा होता है। नियम घटना प्रवाहों के बीच के तमाम सम्बन्धों का नहीं, बल्कि केवल सर्वाधिक आधारभूत, अपरिहार्य सम्बन्धों को ही प्रतिबिम्बित करता है।

परन्तु, नियम की परिभाषा इतने से ही नहीं पूरी हो जाती। आप ने इस कहावत को सुना होगा कि, 'नियम में अपवाद नहीं होते।" नियम के सम्बन्ध में यही अखण्ड चीज है—वह एक वर्ग के सभी घटना प्रवाहों पर उनमें से केवल कुछ पर नहीं लागू होता है। उदाहरण के लिए, आर्कमिडीज का नियम किसी भी द्रव पदार्थ के अन्दर रखे जाने वाले किसी भी पिण्ड (या वस्तु) पर लागू होता है। दूसरे शब्दों में, आर्कमिडीज़ के नियम में जो सम्बन्ध (किसी पिण्ड की धारिता तथा उसकी प्रतिरोध शक्ति के बीच का सम्बन्ध) अभिव्यक्त किया गया है उसका स्वरूप सर्वव्यापी है। एंगल्स ने कहा था,

"प्रकृति में सर्व व्यापकता का जो रूप पाया जाता है, वही नियम है।"*

प्रकृति में जो चीज सर्वाधिक गहरी और सामान्य होती है नियम उसी का ज्ञान हमें देता है।

वस्तुओं और घटना प्रवाहों का अस्तित्व चूंकि वस्तुगत होता है इसलिए *उनके बीच के सम्बन्ध का भी अस्तित्व वस्तुगत होता है, अर्थात्, जिन नियमों* का वे अनुसरण करते हैं वे वस्तुगत अस्तित्व रखते हैं। अत, किसी भी नियम के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण चीज उसकी वस्तुगतता होती है। इसका अर्थ होता है कि न तो प्रकृति के नियम, न समाज के नियम मानवीय इच्छा तथा चेतना के आश्रित होते हैं। मनुष्य का दैनंदिन का व्यवहार इसी बात की पुष्टि करता है। मानव समाज के पैदा होने से बहुत पहले से ही प्रकृति के नियम काम कर रहे हैं। मानव प्राणियों का पृथ्वी पर आविर्भाव अपेक्षाकृत हाल ही में हुआ है। किन्तु सूर्य की परिक्रमा करते समय हमारा ग्रह जिन नियमों का अनुसरण करता है वे तभी से चल आ रहे हैं जब से स्वयं यह ग्रह बना है। प्रकृति के अन्य नियमों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है।

सामाजिक विकास के नियमों का भी चरित्र वस्तुगत होता है। लोग नियमों का न आविष्कार कर सकते हैं न उनको मिटा सकते हैं और न अपनी मर्जी के अनुसार ये उन्हें बदल ही सकते हैं।

आदर्शवादी (भाववादी) दार्शनिकों के विचार इस सम्बन्ध में भिन्न हैं। वे

* फ्रेडरिक एंगेल्स, प्रकृति में द्वन्द्ववाद, मास्को १९६६, पृष्ठ २३४।—सं०

नियमो के वस्तुगत स्वरूप को नही मानते । जमन दार्शनिक काण्ट कहते थे कि प्रकृति मे कोई नियम नही है । उनका कहना था कि प्रत्येक वस्तु अव्यवस्था की दशा म है, केवल मनुष्य का दिमाग ही प्रकृति के अन्दर व्यवस्था तथा नियमितता कायम करता है । पर स्वय मनुष्य के लिए काई भी नियम नही हो सकते । आधुनिक पूंजीवादी दार्शनिक इसी विचार को हजार भिन्न भिन्न रूपो मे दोहराते हैं । किन्तु क्या यह विचार सही है ?

आदिम बबर मानव को इस बात की काई जानकारी नही थी कि प्रकृति मे कोई नियमित नियम मौजूद हैं । उसने उनका पता लगान की भी कभी कोशिश नही की थी । बहुत बाद मे, जब अपन व्यावहारिक जीवन से लोगो न इस बात को सीखा कि वस्तुओ के बीच नियमित सम्बन्ध होते है, तभी उन्होंने इन सम्बन्धो की खोज करना और फिर वास्तविक जीवन मे उनकी जानकारी हासिल करना शुरू किया । इससे हम यह निष्कष निकालते हैं कि यह धारणा कि नियमो की उत्पत्ति मनोगत है (अर्थात मन से होती है) एक अवज्ञानिक धारणा है जो व्यवहार के साक्ष्य के विरुद्ध है । व्यवहार प्रमाणित करता है कि प्रकृति और समाज दोनो के नियमो का चरित्र वस्तुगत है ।

प्रत्येक नियम वास्तविक विश्व के घटना प्रवाहो तथा वस्तुओ के बीच के सामान्य, अपरिहाय, वस्तुगत तथा सापेक्ष रूप से स्थायी सम्बन्ध को अभिव्यक्त करता है ।

आदशवादी लोग नियमो के अस्तित्व से क्या इन्कार करते है ? क्योकि वे प्रभुताशाली शोषक वर्गों का समथन करते हैं और इन वर्गों का हित इसी म है कि सचाई को तोड मरोड कर प्रस्तुत किया जाय । उदाहरण के लिए, यह बात साम्राज्यवादियो के हित म नही है कि आम लोगो को पूंजीवाद के अनिवाय अन्त के नियमो की सचाई से परिचित कराया जाय । इसी वजह से वे हर प्रकार के विज्ञान से डरते है ।

लोग नियमो के अनुसार काय करते हैं

कभी कभी लोग इस तरह तक करते सुनाई पडते हैं कि चूंकि प्रकृति और समाज क नियम वस्तुगत है और उन्ह बदल सकना असम्भव है, इसलिए इससे स्पष्ट निष्कष निकलता है कि, इन नियमो के सामने लोग एकदम असहाय हैं । लेकिन यह नजरिया भी अवज्ञानिक है । इसक अलावा, इस नजरिए से लोगो का केवल नुकसान ही हो सकता है क्योकि, लाजिमी तौर से अपनी जिन्दगी को बेहतर बनाने क लिए उनकी पहलकदमी तथा इच्छा को वह खत्म कर देता है । यह "सिद्धान्त' शोषक वर्गों को बहुत प्रिय है क्योकि यह निष्क्रियता और

निश्चेष्टता की सीख देता है और हर प्रकार के क्रान्तिकारी संघर्ष की उपयोगिता से इन्कार करता है। श्रमजीवी जनता की खुद अपनी शक्ति में आस्था को यह सिद्धान्त कमजोर करता है। यही वजह है कि पूंजीवादी देशों में हर सम्भव तरीके से इस धारणा का समर्थन तथा प्रचार किया जाता है कि श्रमजीवी जनता मे अपनी स्वतन्त्रता हासिल करने की "शक्ति नहीं है।"

किन्तु, अनेक शताब्दियों का अनुभव साक्षी है कि प्रकृति की शक्तियों के सामने लोग असहाय नहीं हैं। प्रकृति के विरुद्ध संग्राम में वे निरन्तर विजयी होते आये हैं। पानी की शक्ति को बहुत पहले ही मनुष्य ने अपनी इच्छा के अधीन बना लिया था और उससे अपने लिए काम कराया था। हवा की शक्ति का न जाने कब से हवा की चक्कियों और पाल वाली नावों में हम इस्तेमाल करते आये हैं। और भाप, बिजली तथा आणविक ऊर्जा, आदि को भी मनुष्य ने अपने काम में लगा लिया है। इस सबसे जाहिर है कि मनुष्य इतना असहाय नहीं है वह सचेत रूप से प्रकृति को प्रभावित कर सकता है, उसके ऊपर जीतें हासिल कर सकता है, अपने हित तथा लाभ के लिए वह उसका इस्तेमाल कर सकता है। मनुष्य प्रकृति के नियमों के हाथ का खिलौना नहीं है। वह स्वयं प्रकृति पर शासन करता है। उस पर वह मनमाने ढंग से नहीं नियन्त्रण कायम करता, बल्कि ऐसा वह अपनी गतिविधियों में प्राकृतिक नियमों का कुशलतापूर्वक इस्तेमाल करके करता है।

इस प्रकार, विश्व के नियमों के वस्तुगत चरित्र के कारण उसके अन्दर सक्रिय रूप से हस्तक्षेप करने की मनुष्य की क्षमता में कोई रुकावट नहीं पैदा होती। इसके विपरीत, प्रकृति तथा स्वयं अपने समाज दोनों को अपनी गतिविधियों से मनुष्य बदल देता है। किन्तु, वाञ्छित लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जरूरी होता है कि मनुष्य वस्तुगत नियमों के अनुसार कार्य करें। जो व्यक्ति उनके (वस्तुगत नियमों के—अनु०) विरुद्ध जाने की चेष्टा करता है उसे अनिवार्य रूप से विफलता का मुंह देखना पड़ता है।

विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का पूरा इतिहास इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि अपने व्यावहारिक काम के दौरान खोज निकाले गये नियमों का मानवों ने किस प्रकार इस्तेमाल किया है। मार्क्सवाद लेनिनवाद का वैज्ञानिक सिद्धान्त आज एक ऐसी सबल शक्ति बन गया है जो पूरी पृथ्वी पर पुरानी दुनिया को नये ढंग से बनाने के काम में करोड़ों लोगों की सहायता कर रहा है।

मानव समाज के किन्ही भी घटना चक्रों (घटना प्रवाहों) की तरफ मनमाना दृष्टिकोण अपनाने की प्रवृत्ति को—ऐसा दृष्टिकोण अपनाने की प्रवृत्ति को जिसका आधार वास्तविकता नहीं, बल्कि यह विश्वास होता है कि

सामाजिक विकास मे निर्णायक भूमिका वस्तुगत नियमो तथा वस्तुगत आर्थिक परिस्थितिया की नही होती, बल्कि मनुष्य की इच्छा शक्ति की होती है—स्वेच्छावाद कहा जाता है।

माओ त्से तुग गुट के कार्यकलाप स्वेच्छावाद की एक अच्छी मिसाल हैं। ऐतिहासिक प्रगति के वस्तुगत स्रोत की ओर बिना ध्यान दिये हुए और इतिहास के नियमित नियमो की बिना परवाह किये हुए माओ गुट के लोग इतिहास के पहिए को पीछे की ओर मोड देना चाहते हैं। "माओ के विचारो" के प्रचारक उन लोगो की श्रेणी मे आते हैं जो नियमित नियमो, कारणो तथा ठोस आर्थिक परिस्थितिया पर विचार करने से इन्कार करते हैं और कहते है कि किसी भी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मात्र उस 'महान कर्णधार" कि इच्छा, उसका सकल्प, उसकी सब विजयी स्थिरता ही पर्याप्त है। किन्तु यह रास्ता दुस्साहसिकतावाद का रास्ता है, यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण न होकर एक "वामपक्षी" भटकाव है।

प्रकृति और समाज की चेतना समेत समस्त वस्तुओ तथा घटना प्रवाहो के बीच के सर्वाधिक आधारभूत सम्बन्धो को निर्धारित करने वाले नियमो का विशेष रूप से खास महत्व है। ऐसे नियमो को सामान्य नियम कहा जाता है और मार्क्सीय द्वन्द्ववाद इन्ही नियमो का अध्ययन करता है। ये नियम है परिमाण से गुण मे सक्रमण का नियम, विरोधी तत्वो की एकता और सघर्ष का नियम, तथा निषेध के निषेध का नियम।

परिमाणात्मक परिवर्तनो से गुणात्मक परिवर्तनो मे रूपान्तरण का नियम

गुण, परिमाण तथा माप

इस बात को समझने के लिए अपने आस पास की दुनिया पर दृष्टिपात कर लेना ही काफी है कि प्रत्येक वस्तु की—वह मेज हो, कलमदान हो, पेड हो, मनुष्य हो, अथवा कोई भी अन्य वस्तु हो—कुछ ऐसी निश्चित विशिष्टताएँ, कुछ ऐसे लक्षण कुछ ऐसे विवरणात्मक चिन्ह (या निशान) होते हैं जिनसे उसकी जानकारी मिलती है, जो उसके सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुणो तथा उसके सार तत्व को व्यक्त करते हैं।

मेरे सामने जो चीज रखी है वह एक पेन्सिल है—ऐसा मैं क्यो कहता हूँ? क्योकि मेरे सामने पतली सी लकडी की एक ऐसी चीज पडी है जिसके

अन्दर शीशा है और जिसका इस्तेमाल मैं लिखने और चित्र, आदि बनाने के काम के लिए कर सकता हूँ। यही इसके मुख्य गुण है। और इन्ही के कारण यह वह चीज़ बनी है जो वह है, अर्थात इन्ही चीज़ो से उसके गुण का पता चलता है।

किसी वस्तु की उन तमाम आधारभूत विशिष्टताओ के कुल योग को जिनसे उसकी आन्तरिक प्रकृति को बतलाया जा सकता है, उस वस्तु का गुण कहते हैं।

परन्तु वस्तुओ और घटना प्रवाहो के केवल गुणात्मक पहलू ही नही होते, उनके परिमाणात्मक पहलू भी होते हैं। वस्तुओ के केवल गुणो को (अर्थात, वे किस प्रकार की हैं) ही नही हम जानना चाहते, हम यह भी जानना चाहते हैं कि वे कितनी बडी है उनकी सख्या कितनी है तथा उनकी दूसरी तमाम क्या विशेषताएँ है—क्योकि प्रकृति के घटना प्रवाहो मे जितनी गुणात्मक निश्चितता होती है उतनी ही परिमाणात्मक निश्चितता भी होती है। प्रत्येक मकान या फ्लैट के फर्श की जगह निश्चित होती है जिसे वर्ग फुटो या वर्ग गजो की एक निश्चित सख्या के द्वारा व्यक्त किया जाता है। प्रत्येक रासायनिक तत्व का अपना विशिष्ट आणविक भार होता है, प्रत्येक अणु के अन्दर उसके इलेक्ट्रानो की निश्चित सख्या होती है आदि आदि।

वस्तुओ और घटना प्रवाहो की परिमाणात्मक विशिष्टताएँ अनेक और नाना प्रकार की होती है तथा उनकी अभिव्यक्ति भी भिन्न भिन्न रूपो मे होती है। उदाहरण के लिए अगर आप यह जानना चाहते हैं कि मिस्र के आस्वान बाँध के निर्माण स्थल पर किसी खास समय पर कितनी मशीनें काम कर रही है तो इसका उत्तर एक साधारण सख्या के रूप मे—३, ४ १० या जो भी उनकी तादाद हो, के रूप मे—दिया जा सकता है। परन्तु यदि आप यह जानना चाहे कि पिछले वर्ष की तुलना मे इस वर्ष कितना चावल या कितना मटर पैदा हुआ है तो इसका आँकडा एक प्रतिशतता के रूप मे, टनो मे अथवा अन्य किसी सूचक के रूप मे, दिया जायगा।

परिमाण वस्तुओ और घटना प्रवाहो का सकेत उनकी सख्या, आकार, आयतन, आदि के द्वारा करता है।

इस बात को हम अब जानते हैं कि जब किसी वस्तु का गुण बदलता है, तब वह वस्तु खुद बदल जाती है। किन्तु उसके बाद क्या होता है—इसे समझने के लिए हमें अपने आप से यह प्रश्न पूछना चाहिए कि परिमाण मे होने वाले परिवर्तन क्या स्वय उस वस्तु मे परिवर्तन पैदा कर देते हैं? इस प्रश्न पर हम विचार करें।

आस्वान के समीप नील नदी पर बाँध बनाये जाते समय जिन लोगो ने उस

दश्य का देखा था वे उसकी कहानी को निम्न प्रकार बतलायेंगे नदी की तलहटी म पहले कुछ पत्थर के बडे-बडे टुकडे डाले गये। लेकिन तब तक बाध नही बन पाया। फिर दाबारा और तिबारा उसम बडे-बडे रोडे डाले गये। फिर भी बाध कही नजर नही आया। परन्तु फिर एक क्षण ऐसा आया जब पत्थरो के नदी मे पड जान के बाद उसके पानी क प्रवाह पर स्पष्ट असर पडने लगा। कुछ और पत्थर उसमे डाले गये और तब नदी का बाध तयार हो गया। चट्टानो के अलग अलग टुकडो की सहायता से एक बाध खडा कर लिया गया था।

अब हम देखें कि यह सब किस प्रकार हुआ। जब तक परिमाणात्मक परिवर्तन किन्ही निश्चित सीमाओ के अन्दर हो रहे थे तब तक उनके फलस्वरूप कोई नया गुण (यहाँ पर, बाध) नही पैदा हुआ था। लेकिन ज्योही ये परिवतन एक खास निश्चित परिमाणात्मक सीमा या भाप पर पहुच गये, त्योही उन्होने प्रत्यक्ष रूप से गुणात्मक परिवतन पदा करना शुरू कर दिया।

एक दार्शनिक श्रेणी के रूप मे माप क्या होता है? सभी वस्तुओ और घटना प्रवाहो म कुछ खास गुण होते हैं जिनका सम्बन्ध उन्हीके अनुरूप कमोबेश कुछ निश्चित परिमाणा से होता है। प्रत्येक अलग अलग अणु के अन्दर अलग-अलग, किन्तु उसके गुण के अनुरूप निश्चित सख्या म इलेक्ट्रान (विद्युदणु) होते है। हाइड्रोजन (उदजन) के अणु म एक इलेक्ट्रान होता है, आक्सीजन के अणु म आठ इलेक्ट्रान होत है, नाइट्रोजन के अणु म सात और यूरेनियम के अणु म बा व। प्रत्येक वस्तु का माप है। "प्रत्यक वस्तु की एक सीमा होती है।"

वस्तुओ की पारस्परिक अनुरूपता, उनकी एकतानता, उनके गुणात्मक तथा परिमाणात्मक पक्षों की एकता को ही माप कहते हैं।

इसलिए प्रत्यक वस्तु का अपना माप होता है, क्योकि आवश्यक रूप से उसके गुणो के तदनुरूप ही उसके परिमाण भी निश्चित होते ह। बिना उस चीज को उस चीज के रूप म खतम किये हुए इस एकतानता, इस अनुरूपता, इस माप को तोडा नही जा सकता। किसी वस्तु के गुण किन्ही मनमाने परिमाणो के साथ मिलकर उसी रूप म नही कायम रह सकते, और न, इसके विपरीत, किसी वस्तु के परिमाण ही मनमाने गुणो के साथ एक होकर उसी रूप मे अपरिवर्तित बने रह सकते हैं। जब तक व माप की सीमाओ क अन्तगत रहते ह, परिमाण और गुण हमेशा एक दूसरे के अनुरूप रहत हैं।

इससे एक बुनियादी नतीजा निकलता है वस्तुओं के अन्दर जब परिमाणात्मक परिवतन होते हैं तो केवल एक निश्चित समय तक, निश्चित सीमाओं के अन्तगत, माप की निश्चित सीमाओं के अन्तगत वे उन वस्तुओ के गुणो को नहीं प्रभावित करते। इन सीमाओ के अन्तगत परिमाणात्मक परिवतनो

से सम्बन्धित वस्तु अप्रभावित लगेगी—ऐसे जैसे कि उन परिवर्तनो का उसने कोई नोटिस ही नही लिया है, किन्तु फिर, ज्योही उस माप का अतिक्रमण हो जाता है त्योही परिमाणात्मक परिवर्तन उस वस्तु की गुणात्मक दशा में प्रतिबिम्बित हो उठते है। परिमाण तब गुण मे रूपान्तरित हो जाता है।

परिमाण का गुण मे रूपान्तरण

ऊपर दिये गये बाँध के उदाहरण मे हम देख चुके हैं कि परिमाणात्मक परिवर्तन अलक्ष्य रूप से, शनैः शनैः, इकट्ठे होते रहते हैं और शुरू मे सम्बन्धित वस्तु के गुणात्मक स्वरूप पर प्रभाव डालते नही प्रतीत होते। किन्तु, एक क्षण ऐसा आता है जिसमे कि परिमाणात्मक परिवर्तन, इकट्ठे होकर, उस वस्तु के गुण मे परिवर्तन ला देते हैं।

उबलते हुए पानी की केतली को सभी ने देखा होगा। शुरू मे पानी केवल थोडा सा गरम हो जाता है। फिर उसका तापमान ५०, ६०, ७० डिग्री सेन्टीग्रेड तक बढता जाता है। पर पानी पानी ही बना रहता है। बेशक, कुछ परिवर्तन इस समय भी नजर आने लगते हैं। किन्तु ये ऐसे नही होते जिनसे कि पानी पानी के अपने मूलभूत गुण को खो दे और वह पानी न रह जाय। यह प्रक्रिया ९९ डिग्री सेण्टीग्रेड तक इसी तरह चलती रहती है। परन्तु फिर ज्योही पानी का तापमान केवल एक डिग्री और बढता है, त्योही वह जोरो से उबलने लगता है और भाप मे बदल जाता है। इकट्ठा हो गये परिमाणात्मक परिवर्तनो के फलस्वरूप अब एक नये गुण की उत्पत्ति हो जाती है। पानी भाप बन जाता है।

> परिमाणात्मक परिवर्तनो के गुणात्मक परिवर्तनो मे रूपान्तरण के नियम का सार-तत्व यह है कि छोटे छोटे, पहले अलक्ष्य, परिमाणात्मक परिवर्तन धीरे धीरे इकट्ठे होकर, एक मंजिल पर, बुनियादी गुणात्मक परिवर्तनो का रूप ग्रहण कर लेते हैं जिससे कि पुराने गुणो का लोप हो जाता है और नये गुण पैदा हो जाते हैं—और फिर ये गुण और अधिक परिमाणात्मक परिवर्तनो को जन्म देते हैं।

परन्तु परिमाणात्मक परिवर्तनो का गुणात्मक परिवर्तनों मे रूपान्तरण होता कैसे है? पानी के उबलने की उस प्रक्रिया को फिर याद कीजिए जिसके द्वारा अचानक और तेजी से पानी भाप मे रूपान्तरित हो जाता है। इस बात पर भी गौर कीजिए कि जब आप चीला या आमलेट बनाने के लिए किसी अण्डे को गर्म तवे पर तोडते हैं तब उसका द्रव्य एकदम से, तेजी से, करीब करीब फौरन, किस प्रकार तवे पर जम जाता है। अथवा इस बात को देखिए कि जब कोई

राकेट अपने वेग को क्रमश बढाता जाता है तो क्या होता है। एक समय ऐसा आता है, जबकि वह लगभग पाच मील प्रति सेकण्ड की गति से अन्तरिक्ष की ओर बढता होता है, तब राकेट पृथ्वी की पकड से छूटकर "भाग जाता है" और वह एक ऐसा उपग्रह बन जाता है जो कि उस वक्त तक पृथ्वी पर वापस नही लौट सकता जब तक कि उसकी गति को फिर न कम कर दिया जाय। परिमाणात्मक परिवतनो के परिणाम स्वरूप गुणात्मक किस्म के मौलिक परिवतन उत्पन्न हो जाते हैं और ये परिवतन एक विशेष क्षण मे होते है। नये गुण म रूपान्तरण के इस क्षण को छलांग कहा जाता है।

प्रकृति और समाज दोना म नय गुणो की सृष्टि सदैव छलांग के माध्यम से होती है। निर्जीव प्रकृति ने सजीव प्रकृति को भी इसी तरह जन्म दिया था। पशु जगत क सम्पूण विकास क्रम की प्रक्रिया पशुओ के एक जाति से दूसरी जाति मे रूपान्तरण की प्रक्रिया भी, इसी प्रकार छलांगो के एक सिलसिले के माध्यम से सम्पन्न हुई थी। इस प्रकार के रूपान्तरण, अथवा इस तरह की छलांगें, मानव समाज के अन्दर भी होती हैं। आदिम साम्यवादी समाज व्यवस्था से दास समाज व्यवस्था मे, दास समाज व्यवस्था से सामन्ती समाज व्यवस्था म और पूजीवादी समाज व्यवस्था से समाजवादी समाज व्यवस्था मे रूपान्तरण का काय हमेशा छलांगो, अथवा क्रमिक विकास के सिलसिले मे अचानक क्रम भगो (interruptions) के माध्यम से हुआ है।

इसलिए, इस प्रश्न का कि परिमाणात्मक परिवतन गुणात्मक परिवतन का रूप कैसे ले लेता है, उत्तर है एक छलांग के माध्यम से। इसके अलावा और किसी प्रकार से रूपान्तरण हो नही सकता।

विकास के दो रूप

ऊपर हमने जो कुछ कहा है उसस स्पष्ट है कि किसी भी वस्तु अथवा *घटना प्रवाह का विकास अथवा उसकी क्रमिक उन्नति दो मंजिलो (अवस्थाओ),* दो भिन्न भिन्न रूपो मे होती है। उसकी एक मंजिल धीमे, अप्रत्यक्ष परिमाणात्मक परिवतनो की होती है, और दूसरी तेज, आधारभूत गुणात्मक परिवतनो की। धीमे परिमाणात्मक परिवतन सदैव पुरान गुणो और पुराने माप की सीमाओ क अन्तगत होते हैं। इस अथ मे उन्ह विकासवादी (evolutionary) परिवतनो की सज्ञा दी जा सकती है। बिना अचानक छलांगों के, बिना नये गुणों के उदय के जो समतल, क्रमश, धीरे धीरे क्रमिक प्रगति होती है उसे विकास (evolution) कहते हैं।

जिस विकास क्रम मे पुराने का मूल रूप से ध्वस हो जाता है—जैसा

कि, मौजूदा सामाजिक सम्बन्धों, वैज्ञानिक धारणाओं, औद्योगिक प्रगति की गतियों, आदि में गुणात्मक परिवर्तनों के हो जाने से होता है—उसे क्रान्ति (revolution) कहते हैं।

सुधारवाद—"दक्षिणपक्षी" संशोधनवाद की असंगतता

कुछ अधिभूतवादी सिद्धान्त कहते हैं कि प्रगति केवल क्रमिक विकास के माध्यम से ही हो सकती है—क्रमिक प्रगति की प्रक्रियाओं में छलांगों अथवा क्रम भंग का स्थान नहीं है। वे कहते हैं कि संसार में केवल परिमाणात्मक परिवर्तन ही होते हैं प्रकृति में गुणात्मक रूप से नयी कोई चीज कभी नहीं पैदा होती। यह दृष्टिकोण तथाकथित घटिया विकासवादियों का दृष्टिकोण है। क्रमिक विकास की वे एक अत्यन्त भोंडी अथवा घटिया तथा विकृत व्याख्या करते हैं।

क्रमिक विकास वाले इस घटिया दृष्टिकोण का सामाजिक जीवन की व्याख्या करने के लिए बहुत बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किया जाता है। कहा जाता है कि सामाजिक परिवर्तन केवल सपाट, मद्धिम, क्रमिक विकास के ही माध्यम से इस तरह होते हैं जिससे कि सामाजिक व्यवस्थाओं की नींवों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सुधारवादी (Reformists), दक्षिणपक्षी समाजवादी तथा मजदूरवादी (Labourites) लोग इस अधिभूतवादी नजरिए का इस्तेमाल पूंजीवादी व्यवस्था की हिमायत करने के लिए करते हैं। मजदूर वर्ग के क्रांतिकारी संघर्ष के रास्ते को वे नामंजूर करते हैं और उसकी जगह पर आंशिक सुधारों तथा टुटपुंजिया सुविधाओं के लिए इस तरह संघर्ष करने की बात करते हैं जिससे कि पूंजीवादी समाज की बुनियादों को किसी तरह धक्का न लगे।

लेनिन ने कहा था कि सुधारवाद मजदूरों को धोखा देने का पूंजीवादी तरीका है क्योंकि इस तरह के सुधारों के हो जाने के बाद भी सत्ता पूंजीपति वर्ग के ही हाथों में बनी रहती है।

पुराने सुधारवादी सिद्धान्तों को रंग रोगन लगाकर तथा नयी नयी कलई चढ़ाकर हमेशा सिद्धान्त की नयी-नयी खोजों के रूप में पेश किया जाता है। "औद्योगिक समाज" का तथाकथित सिद्धान्त इसी तरह की एक चीज है। औद्योगिक रूप से विकसित समस्त आधुनिक राष्ट्रों के अन्दर बड़े पैमाने के उद्योग धन्धे ही अधिकाधिक मात्रा में उत्पादन का मुख्य रूप बनते जा रहे हैं। कुछ पूंजीवादी लेखक फरमाते हैं कि इसके फलस्वरूप धीरे धीरे, कदम-ब-कदम, एक नये प्रकार का समाज पैदा हो रहा है। समाजवादी और पूंजीवादी दोनों प्रकार के देश क्रमशः इसी "औद्योगिक समाज" की दिशा में बढ़ रहे हैं। किसी बिन्दु पर

आगे वे मिल जायेंगे और तब एक नये समाज की स्थापना हो जायगी। तब फिर क्रान्ति की तथा पूंजीवादी निजी सम्पत्ति के उन्मूलन की कोई आवश्यकता नही रह जायेगी—सारे काम टुटपुंजिए सुधारो तथा पूंजीवादी व्यवस्था के क्रमिक "नवीकरण" के माध्यम से पूरे कर दिये जायेंगे।

किन्तु, यहां जो कुछ कहा गया है उससे यह नही समझा जाना चाहिए कि मार्क्सवादी सुधारो के खिलाफ है। सुधार ऐसे भी होते हैं जिनका जबदस्त क्रांतिकारी महत्व होता है—जैसे कि भूमि सुधारो का। भूमि सुधार क्रमश शोषण की नीव का कमजोर कर देते हैं। एशिया और अफ्रीका के अनेक नव-स्वतन्त्रता प्राप्त देशो म इस तरह के सुधार किये गये हैं। वे इस माने मे अत्यन्त प्रगतिशील कदम साबित हुए हैं कि उनकी वजह से जमीदारो भूस्वामियो की परम्परागत सत्ता की इमारतें ढह रही हैं। पर एसे सुधारो के कम्युनिस्ट निश्चित रूप से खिलाफ हैं जिनका उद्देश्य सिर्फ पूंजीवाद का मजबूत करना तथा जनता के ध्यान को क्रान्तिकारी सघर्ष से हटाना है।

इस भांति, सुधारवादी भी अधिभूतवादी हैं क्योकि सामाजिक प्रगति की प्रक्रिया के केवल एक ही पहलू को, केवल परिमाणात्मक अथवा क्रमिक विकास वाले पहलू को ही, व देख पाते हैं।

"वामपक्षी" सशोधनवाद की असगतता

इसका जो उल्टा (विरोधी) दष्टिकोण है अराजकतावादियो तथा उन आम "वामपक्षी" दुस्साहसिकतावादियो का दष्टिकोण, जिन्हे अक्सर 'वामपक्षी" सकीर्णतावादी कहा जाता है, वह भी उससे कम नुकसानदेह और अधिभूतवादी नही होता। माओ त्से तुग का गुट इसकी ठेठ मिसाल है। इस तरह के सब लोग विकासवादी प्रगति के रास्ते को एकदम नामजूर करते हैं। वे केवल "छलागो' के रास्ते को ही स्वीकार करते है। उसके लिए पहले से वे कोई तैयारी भी नही करते और न शक्तियो को धीरे धीरे बटोरते है। लेनिन ने लिखा था कि, 'अराजकतावादी सघाधिपत्यवाद (anarcho syndicalism) और सुधारवाद—दोनो को विश्व के सम्बन्ध मे पूंजीवादी दृष्टिकोण और उसके प्रभाव की सीधी सीधी उपज "माना जाना चाहिए। * सामाजिक विकास के क्षेत्र म क्रमिक विकास और क्रान्ति के आपसी सम्बन्ध के प्रश्न का ये दोनो ही बिल्कुल एकतरफा हल पेश करते हैं।

माओ त्से-तुग की अराजकतावादी, "वामपक्षी" सकीर्णतावादी कार्यवाहियां

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली खण्ड १६, पृष्ठ ३४६।–स०

बहुत नुकसान पहुँचाती हैं। यह चीज उनके इस तरह के दावों से भी स्पष्ट हो जाती है कि जहाँ उसके लिए परिस्थितिया मौजूद नही है वहा भी सत्ता पर "कब्ज़ा" किया जा सकता है तथा समाजवाद के निर्माण से सम्बन्धित मौलिक कामो को बिना प्रारम्भिक तैयारी तथा ठण्डे दिमाग से किये गये नियोजन के, "विराट छलागो" तथा "घुडसवारो के रिसालो के हमलो" के जरिए पूरा किया जा सकता है! स्वच्छावाद सदैव ही घातक होता है। इसी वजह से मार्क्सवाद लेनिनवाद दक्षिणपक्षी और 'वामपक्षी" दोनो प्रकार के सशोधनवाद के विरुद्ध समझौता विहीन सघर्ष करता है।

क्रमिक विकास और क्रान्ति की एकता का द्वद्ववाद

सुधारवाद तथा अराजकतावाद, अथवा "वामपक्षी' सकीर्णतावाद के इन एकतरफा अधिभूतवादी नजरिया के विरुद्ध, द्वद्वात्मक भौतिकवाद इस समझदारी के आधार पर काम करता है कि **विकास की प्रत्येक प्रक्रिया के क्रमिक विकास वादी तथा क्रान्तिकारी पक्षो के दरम्यान एक प्रगाढ सम्बन्ध होता है।** लेनिन ने लिखा था,

> ' वास्तविक जीवन, वास्तविक इतिहास मे ये विभिन्न प्रवृत्तिया समाविष्ट होती है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि प्रकृति मे जीवन और विकास के अन्तगत मन्थर विकास क्रम तथा द्रुत छलागो का, निरन्तरता म क्रम भग का—दोनो का समावेश होता है।

अविच्छिन्न क्रमिक परिवतन की मजिल विकास के क्रम म बहुत बडी भूमिका अदा करती है। परन्तु उसकी वजह से वतमान गुण म कोई परिवतन नही होता। गुण मे परिवतन लाने के लिए एक छलाग की, एक ऐसी क्रान्ति की जरूरत होती है जो पुराने गुण को मूलत बदल देती है।

जो कुछ हमने ऊपर कहा है उससे साफ हो जाना चाहिए कि अपने अमली काम मे हमे धीरे धीरे अच्छी तरह तैयारी करने के काय को मौलिक गुणात्मक रूपान्तरणो के काय के साथ मिलाकर आगे बढना चाहिए। गुणात्मक परिवतनो के लिए रोजमर्रा के सगठनात्मक कामो के दौरान क्रमिक रूप से हमे तैयारी करनी चाहिए। 'क्रान्तिकारिता, साहस', और सकल्पबद्धता' का मतलब यह नही है कि बिना समुचित तैयारी के आदमी दुस्साहसिकता के किसी भी गढे म आँख मूद कर फाँद जाय। विजय के लिए एक स्थायी आधार तयार करने की दृष्टि से आवश्यक है कि किसी भी प्रकार की क्रान्तिकारी कायवाही करने से पहले विकासवादी कार्यों के एक काल के द्वारा क्रमश उसके लिए अच्छी तरह जमीन तैयार कर ली जाय।

विरोधो की एकता और सघर्ष का नियम

जायज और नाजायज अन्तर्विरोध

जैसा कि इस परिच्छेद के शीषक से ही जाहिर होता है, इसके अन्तगत हम अन्तर्विरोधो के सम्ब ध मे विचार करेंगे। लेकिन किस प्रकार के अन्तर्विरोधो के सम्बन्ध मे ? इस बात को हमे तुरन्त स्पष्ट कर देना चाहिए, क्योकि "अन्तर्विरोध" शब्द के अलग-अलग अनेक माने लगाये जा सकते है।

ऐसा कौन है जिसन कभी न कभी ऐसे किसी कथन का खण्डन न किया हो जो उसे गलत मालूम पडा हो ? जब आप अपने किसी मित्र के किसी फिकरे म काई अन्तर्विरोध देखते है तो आप कहते है, 'आप तो खुद अपनी बात का प्रतिवाद कर रह है।" इसका यह अथ हाता है कि उसके कथन म आप को कोई असगति दिखलायी देती है।

बाइबिल मे, जिसे कि उसम आस्था रखन वाले लोग एक "पवित्र पुस्तक' मानते है, इस तरह की असगतिया तथा स्पष्ट अन्तर्विरोध भरे हुए हैं। उदाहरण क लिए नय टेस्टामेण्ट मे सेण्ट ल्यूक द्वारा लिखे गये ईसा के जीवन चरित्र म कहा गया है कि ईशु मसीह का बचपन गैलिला म बीता था, कि तु सण्ट जौन द्वारा लिखे गये उनक जीवन चरित्र म कहा गया है कि उनका जीवन यरशलम म व्यतीत हुआ था। यह तो स्पष्ट है कि एक ही समय मे वे दो जगह नही हो सकते थे। ईसा का एक जीवन चरित्र बतलाता है कि ईशु मसीह का बप्तिस्मा सस्कार ईसाई दीक्षा गुरु जौन ने सम्पन्न किया था, कि तु दूसर लाग साक्षी प्रस्तुत करते हुए कहने है कि जौन उस समय जेल मे थे और इसलिए बिल्कुल इस स्थिति म नही थे कि ईसाई धम म इसा को दीक्षित कर सकें। ये भी परस्पर विरोधी बातें हैं। ईसा के जीवन चरित्रो मे अनगिनत ऐसे अन्तर्विरोध पाय जाते है। इसलिए, उनम जो कुछ लिखा है उस पर विश्वास करना असम्भव हो जाता है।

हमारा चिन्तन तभी सही होता है जबकि उसमे इस प्रकार के अन्तर्विरोध नही होते। दशन के विद्यार्थिया के किसी दल के सम्बन्ध मे यदि मैं कहूँ कि उस दल के "सदस्य ने विषय को अच्छी तरह समझ लिया है", और फिर आगे यह जाड दू कि किन्तु छात्रा के उसी दल के कुछ लोगो न "उसे बुरी तरह समया है तो आपको यह आपत्ति करने का अधिकार होगा कि "एक ही समय मे एक ही दल के लोगो के बारे मे आप एकदम अलग-अलग बातें क्या करते हैं ? या तो आपका पहले वाला कथन सही है, या फिर दूसरा सही है।" आप की

यह आपत्ति बिल्कुल सही है। मैंने जो कुछ कहा था उसमे सही ही आपको साफ अन्तर्विरोध दिखलायी देता है।

इस प्रकार के अतर्विरोधो को औपचारिक तर्क वाले (formal logical) अन्तर्विरोध कहा जाता है। इस तरह के अन्तर्विरोधो का स्पष्टीकरण सही चिन्तन के विज्ञान के द्वारा, अर्थात् युक्ति सगत तर्कशास्त्र (formal logic) के द्वारा किया जाता है। चिन्तन की वह शृखला जिसमे अन्तर्विरोध होता है असगत होती है, गलत होती है।

जब हम अन्तर्विरोधो की बात करते है तब सबसे पहले उससे हमारा यही अभिप्राय हो सकता है। ऐसे अतर्विरोध अव्यवस्थित चिन्तन के चिह्न के रूप मे सामने दिखलाई देते है। इसीलिए उन्हे तार्किक अतर्विरोध (logical contradiction) कहा जाता है।

अतर्विरोध की धारणा के दूसरे अर्थ को सामने रखने से पहले हम निम्न प्रश्न पर गौर कर लेना चाहिए इस बात से कि तर्क सम्बन्धी अन्तर्विरोधो के लिए कोई गुजायश नही है—क्या यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रकृति अथवा समाज के अन्दर अन्तर्विरोध हो ही नही सकते ? इस प्रश्न के अर्थ को आप और भी अच्छी तरह से हृदयगम कर सकें इसलिए मैं आपको एक वार्तालाप सुनाऊँगा। यह वार्तालाप दर्शन की एक कक्षा मे उस समय हुआ था जिस समय कि शिक्षक ने उसमे यह कहा था कि औपचारिक तार्किक अतर्विरोधो के लिए कोई जगह हो ही नही सकती।

शिक्षक ने अपने शिष्यो से पूछा था, "क्या वस्तुओ और घटना प्रवाहो के अन्दर परस्पर विरोधी पक्ष और प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं ?"

हर्गिज नही। अभी-अभी ही तो आपने हमे बतलाया था कि उनके अन्दर कोई अतर्विरोध नही हो सकते।' एक छात्र ने उत्तर दिया।

'तब फिर अणु की सरचना (बनावट) पर विचार कीजिए। उसके अन्दर धनावेश (पाजिटिव चार्ज) वाले कण भी होते हैं और ऋणावेश (निगेटिव चार्ज) वाले कण भी। इसलिए अणु के सम्बन्ध मे मैं एक अतर्विरोधी बात कह सकता हू, वह धनात्मक और ऋणात्मक दोनो है। और यह एक वास्तविक वैज्ञानिक सचाई है।

इस बात का विरोध करते हुए आप कह सकते हैं कि अभी-अभी तो औपचारिक तार्किक अन्तर्विरोध की सम्भावना तक को आपने अस्वीकार कर दिया था और अब आप कह रहे हैं कि वह एक वास्तविक वैज्ञानिक सचाई है ! इसका क्या मतलब है ? वास्तव मे, यह एक अत्यन्त जटिल प्रश्न है जिसका

ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है कि वस्तुओं में, प्रकृति में, अन्तर्विरोध, परस्पर-विरोधी पक्ष निश्चित रूप से मौजूद रहते हैं। मनुष्य और पशुओं को ही ले लीजिए। उनके शरीरों के अन्दर एक ही समय दो परस्पर-विरोधी प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं सेलें (कोशिकाएँ) बनती भी रहती हैं और मरती भी रहती हैं। और यदि इनमें से एक भी प्रक्रिया रुक जाती है तो जीवित प्राणी की मृत्यु हो जाती है। प्रकृति में कदम-कदम पर ऐसे ही दृष्टान्त मिलते हैं। आगे हमें उनका बारम्बार जिक्र करना पड़ेगा। यह स्वयं प्रकृति के अन्दर के अन्तर्विरोध हैं। इनसे कोई बच नहीं सकता। ये औपचारिक अन्तर्विरोध नहीं है, बल्कि वास्तविक अथवा द्वन्द्वात्मक अन्तर्विरोध हैं। मार्क्सवादी दर्शन इन अन्तर्विरोधों के ही सम्बन्ध में है। मार्क्सवाद का एक मूलभूत नियम 'विरोधी तत्वों की एकता और संघर्ष' का नियम है।

इस प्रकार ऐसे अंतर्विरोध भी निश्चित रूप से मौजूद हैं जिनकी उत्पत्ति मस्तिष्क से होती है और जो हमारे चिंतन, हमारे वक्तव्यों तथा हमारे कार्यों के रूप में अपने को व्यक्त करते हैं—यह ऐसे अंतर्विरोध हैं जो हमारी असतर्कता की गवाही देते हैं। आमतौर से इन अंतर्विरोधों से हम बचने

भी कोशिश करते हैं। परन्तु बिल्कुल दूसरी तरह के अन्य अंतर्विरोध भी अस्तित्व रखते है—वास्तविकता म, प्रकृति मे पाये जाने वाले अंतर्विरोध, जिन्हे द्वन्द्वात्मक अन्तर्विरोध कहा जाता है।

विरोधी तत्व और अन्तर्विरोध किसे कहते हैं ?

हम रोजमरा के जीवन को देखें। "विरोधी तत्वो" से हमारा क्या मतलब होता है यह हर एक को स्पष्ट है। उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवा, सडक का दाहिना और बाया, भले आदमी और बुरे आदमी—ये सब विरोधी तत्वो के ही उदाहरण हैं। परन्तु हम यह क्या कहते हैं कि ये "विरोधी तत्व" हैं ? इसलिए कि इनमे से प्रत्यक जोडे का एक तत्व दूसरे तत्व को अपने से बाहर कर देता है। उदाहरण के लिए, भले को उस चीज से जिससे बुरे का निर्माण होता है जैसे एकदम पृथक (abstract) कर दिया जाता है, बाहर कर दिया जाता है। उत्तर को दक्षिण मे, बायें को दाहिने से बाहर (अलग) कर दिया जाता है।

पारस्परिक रूप से एक दूसरे को अपने से अलग रखने वाले (mutually exclusive) घटना प्रवाहों या घटना प्रवाहों के पक्षों को विरोधी तत्व कहते हैं।

आदमी सोच सकता है कि विरोधी तत्व परस्पर रूप से चूकि अपने को एक दूसरे से अलग रखते है इसलिए उनमे कोई सामान्यता नही होती। आदमी कह सकता है कि सफेद काला नही है दक्षिण उत्तर नही है। परन्तु यह तो चीजो का केवल सतही रूप है। जब आदमी गहराई मे जाता है तब वह देखता है कि जीवन तथा प्रकृति मे जो विरोधी तत्व (विरोध) पाये जाते हैं उनके बीच उनको अलग रखने के लिए कोई चीनी दीवाल नही होती। प्रत्यक को दूसरे के सन्दर्भ मे ही समझा जा सकता है। यान्त्रिक क्रिया (Mechanical action) और प्रतिक्रिया (counteraction) केवल एक दूसरे के सयोजन (या समागम) मे ही रह सकती है। किसी नाव को धक्का देने के लिए जब आप शक्ति का इस्तेमाल करते हैं तो बदले मे उतनी ही शक्ति आपको पीछे की ओर ढकेल देती है। कोई क्रिया प्रतिक्रिया पैदा किये बिना नही हो सकती। रसायन विज्ञान की अणुओ के सयोजन (मिलने) और वियोजन (अलग होने) की विरोधी प्रक्रियाओ को एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता।

एक दूसरे से जुडे विरोधी तत्वो के बीच हमेशा ही कोई न कोई सम्बन्ध रहता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि जब भी विरोधी तत्व एक दूसरे के मुकाबले मे आ जाते हैं और आपस मे कोई सम्बन्ध कायम कर लेते हैं तो उनके बीच अन्तर्विरोध पैदा हो जाते हैं, क्योंकि उनके विरोधी रुझानों, प्रवृत्तियों,

शक्तियो के बीच एक सघर्ष छिड जाता है। इसलिए, अन्तर्विरोध की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि वह दो विरोधी तत्वो का ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध है जिसके अन्तगत विरोधी तत्व उक्त अन्तर्विरोध के दो पक्षो के रूप मे प्रकट होते हैं।

विरोधी तत्वो (या विरोधो) की एकता

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट हो गया है कि विरोधी तत्व (या विरोध) एक दूसरे से जुडे रहते हैं। वास्तव मे, उनके बीच की कडी इतनी मजबूत होती है, इस तरह अटूट होती है कि उनमे से कोई भी विरोधी तत्व (या विरोध) अकेला जीवित नही रह सकता। इस कडी को हम **विरोधी तत्वों की एकता** कहते हैं। अधिभूतवादी इस एकता को अस्वीकार करते है। वे कहते हैं कि प्रत्येक विरोधी तत्व का स्वतन्त्र और अलहदा अस्तित्व है। लेकिन बात ऐसी नही है।

वतमान काल के दक्षिणपक्षी समाजवादियो तथा सशोधनवादियो की भी अधिभूतवादियो जैसी ही स्थिति है। वे कहते है कि पूजीवाद के "अच्छे" पहलू भी हैं और "बुरे' भी। उसमे जो तमाम 'बुराइया" हैं उन्हें दूर करने के लिए व सुझाव देते है कि हमे पूजीवाद की "अच्छाइयो' वाले पहलुओ का विकास करना चाहिए और "बुराइयो" वाले पहलुओ को खत्म कर देना चाहिए। तब, वे कहते हैं, 'सावजनीन खुशहाली" पर आधारित समाज की स्थापना करने मे हम सफल हो जायेंगे! यह कुछ उसी तरह की योजना है जिस तरह से कि कोई यह चाहे कि मानव शरीर म केवल नयी सेलो (कोशिकाओ) का ही बनने दिया जाय और पुरानी सेलो (कोशिकाओ) को मरने से किसी तरह रोक दिया जाय। लेकिन जिस तरह किसी जीवित प्राणी के शरीर के अन्दर इस तरह की कोई चीज नही की जा सकती उसी तरह पूजीवादी समाज के अन्दर भी ऐसी किसी चीज को कर सकना असम्भव है।

पूजीवादी समाज के अन्दर विरोधी तत्वो का अस्तित्व केवल साथ साथ ही नहीं होता, बल्कि वे एक दूसरे के साथ एकताबद्ध भी होते हैं—वे एक दूसरे के अन्दर प्रवेश करते है और मिलकर ही उस चीज की रचना करते है जिसे पूजीवादी समाज कहा जाता है। इसीलिए यह असम्भव है कि दूसरे पक्ष को ज्यो का त्यो सुरक्षित छोडकर उसके एक पक्ष को "खत्म" कर दिया जाय। ब्रिटेन की लेबर पार्टी (मजदूर पार्टी) ने अपने देश को पूजीवाद की बुराइयो से 'मुक्त करने" की बहुत कोशिश की है और अब भी कर रही है। लेकिन नतीजा कुछ नही निकला। यह बात बिल्कुल साफ है कि पूजीवाद के "बुरे" पहलुओ का,

उसके अभिशापो का अत करने के लिए स्वय पूजीवाद का ही अत करना पड़ेगा। दूसरा कोई रास्ता नही है।

विरोधी तत्वो की एकता का आधार उनका अटूटनीय पारस्परिक सम्बन्ध है। मिलजुल कर ही वे एक अविभक्त अतर्विरोधी प्रक्रिया को जन्म देते हैं। विरोधी तत्व ही एक दूसरे के अस्तित्व का निर्धारित करते है अर्थात, उनमे से प्रत्येक केवल इसीलिए अस्तित्व रखता है कि दूसरा भी अस्तित्व मे है।

हमने कहा है कि विरोधी तत्व एक दूसरे का विरोध करते हैं, उनके बीच सघर्ष चलता है। इस चीज़ को हम कुछ और गहराई से देखें।

विरोधी तत्वों का सघर्ष ही विकास का स्रोत है

विरोधी तत्वो के बीच के सघर्ष का कारण यह है कि एक तरफ तो वे एक दूसरे से जुडे तथा एकताबद्ध होते हैं और, साथ ही साथ, दूसरी तरफ, वे एक दूसरे का अस्वीकार तथा बहिष्कार (दूर) करते हैं। इसलिए, जहाँ भी विरोधी तत्व एकताबद्ध होते हैं वही उनके बीच एक सघर्ष भी चलता रहता है।

विरोधी तत्वो के बीच सघर्ष के चलते रहने का मतलब यह होता है कि सम्बधित प्रक्रिया अथवा घटना प्रवाह के अन्दर उनमे से प्रत्येक दूसरे के ऊपर हावी होने की कोशिश कर रहा है।

हमने देखा कि विरोधी तत्वो के बीच एकता और सघर्ष दोनो होते हैं। किन्तु किसी प्रक्रिया अथवा घटना प्रवाह के विकास मे कौन सा तत्व अधिक निर्णायक होता है ? हीगेल का कहना था कि विकास के क्रम मे मुख्य चीज़ विरोधी तत्वो की एकता, अथवा उनकी मूलभूत एकरूपता (अभिन्नता) होती है। दक्षिणपक्षी समाजवादी और सशोधनवादी हीगल की इस प्रस्थापना का प्रयोग करके यह सिद्ध करना चाहते हैं कि समाज मे सामजस्य बना रह सकता है, अर्थात, पूजीवादी समाज के विरोधी वर्गों के बीच जो अतर्विरोध है उन पर वे मुलम्मा चढ़ा देना चाहते है। लेकिन इस प्रयास मे उन्हे असफलता ही मिली है।

विकास की प्रक्रिया मे मुख्य भूमिका विरोधी तत्वों के सघर्ष की ही होती है, उनकी एकता की नही। यह सघर्ष सनातन है और कभी रुकता नही। दरअसल, यही विरोधी तत्वो के सम्बन्ध का आतरिक सार है। क्योकि वे (यानी विरोधी तत्व) एक दूसरे को भगाने का (बहिष्कृत करने का) प्रयास करते हैं, इसलिए उनके बीच सघर्ष चलता रहता है। इसीलिए, विरोधी तत्वों की एकता अथवा एकरूपता (अनन्यता) केवल सापेक्ष, अस्थायी, क्षणभगुर

होती है, और उनका संघर्ष, जैसा कि लेनिन ने लिखा था, "शाश्वत (निरपेक्ष) है, उसी तरह जिस तरह कि विकास और गति शाश्वत (निरपेक्ष) है।"* इसका अर्थ होता है कि विरोधी तत्वों का संघर्ष ही विकास का, गति का स्रोत है। लेनिन ने लिखा था कि "विकास विरोधी तत्वों का 'संघर्ष' है।"**

हम कुछ उदाहरण ले लें। जीवित प्रकृति को ही ले लीजिए। विकास के स्रोत के रूप में द्वंद्वात्मक अंतर्विरोध की भूमिका को यहाँ बहुत साफ साफ देखा जा सकता है। हम सब जानते हैं कि बच्चे अपने माँ बाप जैसे दीखते हैं। लेकिन वे अपने माँ-बाप की हूबहू नकल नहीं होते। प्रकृति में छाप जैसी एक ही प्रकार की चीजें नहीं बनतीं। इसकी वजह यह है कि आनुवंशिकता (heredity) के नियम के साथ-साथ, उसका विरोधी नियम, गुण परिवर्तन (mutation) का नियम भी काम करता रहता है। गुण परिवर्तन के नियम की वजह से "असदृश्यता", "अनुकरणातीतता" की, अर्थात, इस बात की गारंटी हो जाती है कि सभी जातियाँ, उप-जातियाँ बदलती रहें (गुण परिवर्तन करती रहें) जिससे कि वे निरंतर विकसित होती रहें। फिर इस प्रकार हुए परिवर्तनों को आनुवंशिकता बाद की पीढ़ियों में स्थायी बना देती है। यदि ऐसा न होता तो परिवर्तन टिक न पाते, बल्कि होते ही तुरन्त मिट जाते। इस प्रकार, सजीव प्रकृति का दो विरोधी शक्तियों—गुण परिवर्तन तथा आनुवंशिकता की शक्तियों का शाश्वत संघर्ष "आगे ढकेलता" रहता है।

प्राकृतिक वरण (natural selection) की प्रक्रिया इन दो परस्पर विरोधी तत्वों के माध्यम से ही कार्य करती है, गुण परिवर्तन की प्रक्रिया से नये उपयोगी गुण पैदा होते हैं, और आनुवंशिकता की प्रक्रिया उन्हें संचित करती जाती है और इस तरह जीवों की नयी नयी जातियों को जन्म देती जाती है। प्रकृति के स्वयं अपने आन्तरिक अंतर्विरोध ही सजीव जगत के विकास के स्रोत तथा मूलभूत प्रेरक होते हैं, कोई बाह्य शक्ति अथवा ईश्वर नहीं।

कैसा भी अंतर्विरोध हो उसका स्वयं अपना एक इतिहास होता है उसका उद्भव होता है, प्रस्फुटन (उग्रीकरण) होता है, और फिर निराकरण (समाधान) होता है। किसी भी अंतर्विरोध का निराकरण (समाधान) तब होता है जबकि उसके अन्दर के विरोधी तत्वों का आपसी संघर्ष इतना तीव्र हो जाता है कि वे एक साथ मिलकर और अधिक रह ही नहीं सकते।

पूंजीवादी समाज को खोखला बनाने वाले अंतर्विरोध जब एक समाजवादी

---

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रंथावली, खण्ड ३८, पृष्ठ ३६०।—स०

** वही।

क्रान्ति को जन्म देते हैं तो ऐसा तभी होता है जबकि उन अंतर्विरोधों के निराकरण (समाधान) का समय आ जाता है। तब विरोधी तत्वों के संघर्ष तथा अन्तर्विरोधों के निराकरण के फलस्वरूप, एक उच्चतर किस्म के समाज का उदय हो जाता है। पुराने, पूंजीवादी समाज की जगह एक नया समाजवादी समाज ले लेता है।

विरोधी तत्वों का संघर्ष और उनका निराकरण (समाधान) ही समाज के विकास का, अर्थात् सामाजिक प्रगति का स्रोत है।

विरोधी तत्वों की एकता और संघर्ष के नियम का सार तत्व यह है कि सभी वस्तुओं तथा प्रक्रियाओं में आन्तरिक रूप से परस्पर-विरोधी पक्ष—जो अटूट रूप से एकताबद्ध होते हैं किन्तु साथ ही साथ, अनवरत रूप से एक दूसरे से संघर्ष भी करते रहते हैं—अन्तर्निहित होते हैं। विरोधी तत्वों का यही संघर्ष प्रगति का आन्तरिक स्रोत, उसकी उत्प्रेरक शक्ति होता है। इस नियम को लेनिन ने द्वन्द्ववाद का हृदय और उसकी आत्मा कहा था।

अन्तर्विरोध किस किस प्रकार के होते हैं?

मूलभूत अन्तर्विरोध

आधुनिक पूंजीवादी उत्पादन की जटिल संघटना पर हम किंचित नजदीक से विचार करें। उसके तमाम विभिन्न अंग एक दूसरे से जुड़े रहते हैं और इसलिए बुनियादी तौर से पूंजीवादी उत्पादन का चरित्र सामाजिक होता है। किन्तु, साथ ही साथ, फैक्टरियां, कारखाने, खदानें तथा उत्पादन के दूसरे तमाम साधन व्यक्तिगत मालिकों के अर्थात पूंजीपतियों के हाथ में होते हैं। जिन माला को मजदूरों के हाथ तैयार करते हैं वे सब पूंजीपतियों की सम्पत्ति होते हैं। इससे हम देख सकते हैं कि उत्पादन का सामाजिक चरित्र स्वामित्व के व्यक्तिगत स्वरूप तथा सामाजिक श्रम के फलों को हड़प लेने के व्यक्तिगत (या निजी) स्वरूप के विरुद्ध है। मार्क्स ने इसे पूंजीवाद का मूलभूत (बुनियादी) अंतर्विरोध कहा था, क्योंकि अन्य तमाम उन अंतर्विरोधों का जो पूंजीवादी व्यवस्था को अन्दर से खोखला कर रहे हैं और, खास तौर से, श्रम और पूंजी के बीच के अंतर्विरोध का, यही बुनियादी अंतर्विरोध फैसला करता है।

अस्तु यह अंतर्विरोध जो किसी घटना प्रवाह के अन्य समस्त अंतर्विरोधों का निर्णय करता है उसका बुनियादी (या मूलभूत) अंतर्विरोध कहलाता है।

अब हम आधुनिक जगत के बुनियादी अंतर्विरोध के प्रश्न को ले लें। दुनिया में आज अंतर्विरोधों के अनेक समूह पाये जाते हैं (१) एक समूह उन अन-विरोधों का है जो विश्व व्यवस्थाओं के बीच, समाजवादी व्यवस्था और पूंजीवादी

व्यवस्था के बीच पाया जाता है, (२) दूसरा समूह उन अंतर्विरोधों का है जो श्रम और पूंजी के बीच पाये जाते हैं, (३) तीसरा समूह उन अंतर्विरोधों का है जो अपनी आजादी के लिए लड़ रहे उपनिवेशों व साम्राज्यवादी उत्पीड़न से मुक्त हो गये देशों तथा साम्राज्यवादी राष्ट्रों के बीच पाये जाते हैं।

लेकिन इनमें से कौन अंतर्विरोध आधुनिक दुनिया का मूलभूत या बुनियादी अंतर्विरोध है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हम इस बात को याद करना पड़ेगा कि केवल २० या ३० वर्ष पहले तक भी साम्राज्यवादी एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिण अमरीका के देशों की आजादी की लड़ाइयों का क्रूरतापूर्वक कुचलने में कामयाब हो जाते थे, किन्तु अब आजादी के इन आन्दोलनों को रोकने में अपने को वे अधिकाधिक असमर्थ पा रहे हैं।

इस बात की सच्चाई को प्रमाणित करने के लिए आज किसी खास जांच की जरूरत नहीं है कि साम्राज्यवाद अब दुनिया का सर्वशक्तिशाली भाग्य-विधाता नहीं रह गया। वे दिन हमेशा के लिए गये जबकि लन्दन, पेरिस और वाशिंगटन का सारी दुनिया में दबदबा था। अब जब भी दुनिया की कौमों के भविष्य के लिए खतरा पैदा होता है तो समाजवादी व्यवस्था उनकी रक्षा के लिए आगे आ जाती है। और साम्राजी हमलावरों को हर बार पीछे हटना पड़ता है।

इन तमाम तथ्यों का विश्लेषण करने के बाद, जून १९६९ में मास्को में हुई कम्युनिस्ट और मजदूर पार्टियों की अंतर्राष्ट्रीय बैठक द्वारा पास की गयी मुख्य दस्तावेज में कम्युनिस्ट पार्टियां इस नतीजे पर पहुँची थीं कि, "साम्राज्य विरोधी संघर्ष में विश्व समाजवादी व्यवस्था ही अब निर्णायक शक्ति बन गयी है। मुक्ति के प्रत्येक संघर्ष को विश्व समाजवादी व्यवस्था से, और सर्वोपरि सोवियत संघ से, आवश्यक सहायता मिलती है।" और चूंकि समाजवादी व्यवस्था साम्राज्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध है, इसलिए आधुनिक जगत के भाग्य का निर्णय उनके बीच का यह अंतर्विरोध ही करता है और वही मानवजाति की प्रगति के मुख्य मार्ग को निर्धारित करता है। इसलिए, स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि समाजवादी और पूंजीवादी व्यवस्थाओं के बीच का अन्तर्विरोध ही आधुनिक युग का बुनियादी अन्तर्विरोध है। विश्व साम्राज्यवाद के विरुद्ध विश्व समाजवाद का संघर्ष ही हमारे युग का मुख्य सार तथा उस वर्ग संघर्ष का मूल आधार है जो सारी दुनिया में चल रहा है।

इसीलिए माओ त्से-तुंग के गुट का यह दावा निराधार है कि हमारे युग का मुख्य अन्तर्विरोध साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के बीच का अन्तर्विरोध है—और समाजवाद तो केवल इस राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का एक

'सहारा' और उसकी एक सहायक भुजा है। वास्तव मे, इस तरह की बातें करने का अर्थ समाजवाद तथा मजदूर आन्दोलन और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलना के बीच एक खाई पैदा करने की कुचेष्टा करना है जो सफल नही हो सकती।

निस्सदेह, एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका के जनगण के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन साम्राज्य विरोधी आन्दोलन मे बहुत बडी भूमिका अदा करते हैं और साम्राज्यवाद पर अधिकाधिक सबल और सत्यानाशी प्रहार करते हैं। परन्तु जब हम वर्तमान काल के बुनियादी अन्तर्विरोध की बात करते हैं तब हम इस बात को नही भूलना चाहिए कि आधुनिक समाज की ऐतिहासिक प्रगति का निर्धारण विश्व समाजवादी व्यवस्था के द्वारा, उन शक्तियो के द्वारा होना है जो मानव समाज के समाजवादी पुनर्निर्माण के लिए साम्राज्यवाद से जूझ रही हैं। समाजवादी दुनिया आधुनिक समाज के सर्वाधिक आगे बढे हुए वर्ग, दुनिया के उस मजदूर वर्ग की सबसे अच्छी तरह सगठित शक्तियो का केन्द्र है जिसे—जसा कि हमारे शिक्षका मार्क्स, एगेल्स और लेनिन ने बतलाया था—"पूजीवाद की कब्र खादना है।'

किसी भी घटना प्रवाह के बुनियादी अन्तर्विरोध को समझने के लिए उस अलहदा करके देखने के अलावा, हमे उसके आन्तरिक और बाह्य अन्तर्विरोधो के बीच और शत्रुतापण तथा अशत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोधो के बीच भी फक करना चाहिए। अब हम इनकी जाच पडताल करें।

आन्तरिक और बाह्य अन्तर्विरोध

बहुत बार हम सुनने को मिलता है कि हुक्म दकर क्रान्ति नही करायी जा सकती। इस बात पर हम थोडा विचार करें। अगर किसी क्रान्ति का कारण और स्रोत देश की आतरिक शक्तियो मे मौजूद नही होता तो उसे उसम पूरा नही किया जा सकना। क्रान्ति की उत्पत्ति पूजीवाद के गहरे आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय अन्तर्विरोधा के गर्भ स ही हो सकती है। किसी देश का विजयी सर्वहारा वग स्वय अपनी विजय को कमजोर किये बिना किसी दूसर देश पर जबरदस्ती सुख नही लाद सकता। क्रान्ति के निर्यात का' कम्युनिस्टो ने हमेशा विरोध किया है। लेनिन ने उन त्रात्स्कीवादियो की 'वामपक्षी लफ्फाजी' का विरोध किया था जो, विश्व क्रान्ति के नाम पर माँग करते थे कि क्रान्ति की लपटो को दूमरे देशा म "पहुँचा दिया जाय।' आज क त्रात्स्कीवादी (माओ त्से-तुग गुट के लाग) जा कृत्रिम रूप से विश्व की सर्वहारा क्रान्ति की "गति को तेज करने की कोशिशें कर रहे हैं वे भी उतन ही गुमराह हैं क्योंकि इन कोशिशो का मतलब क्रान्ति का दूसरे देशा म 'निर्यात करना" तथा उनके

अदरूनी मामलो मे दखलदाजी करना होता है। कम्युनिस्ट पार्टियाँ साम्राज्य वादियो द्वारा प्रतिक्रान्ति का निर्यात करने की कुचेष्टाओ का भी सख्ती से मुकाबला कर रही हैं।

हाल के अपने अतर्राष्ट्रीय मच से* कम्युनिस्टो ने साफ साफ कहा था कि, 'विश्व समाजवादी व्यवस्था निरतर बढती हुई अपनी आर्थिक एवम सुरक्षात्मक क्षमता के आधार पर, साम्राज्यवाद को नियत्रित करती है उसके द्वारा प्रतिक्राति का निर्यात करने की सम्भावनाओ को कम करती है।" अमरीकी साम्राज्यवाद के विरुद्ध, जो जनता के समस्त क्रातिकारी आदोलनो का सबस बडा शत्रु है, आज समस्त प्रगतिशील मानवता सघष कर रही है।

व कारण जो पूजीवाद का उन्मूलन करते हैं, प्रत्येक पूजीवादी देश के अन्दर—जहाँ कि "मुट्ठी भर इजारेदारियो के हिता और सम्पूण राष्ट्र के हितो क बीच एक अमिट टकराव रहता है—स्वय मौजूद होते है।

इस प्रकार, हम देखते है कि आतरिक अतर्विरोध जो किसी घटना प्रवाह या प्रक्रिया के अन्दर पाय जाते हैं उनम और उन बाह्य अतर्विरोधो म फक होता है जो घटना प्रवाहो या प्रक्रियाओ के बीच हुआ करते है। परन्तु समस्त विकास-क्रम मे निर्णायक भूमिका आतरिक अतर्विरोधों की ही होती है। इसका मतलब यह नही है कि द्वद्ववाद बाह्य अतर्विरोधो को महत्वहीन मानता है। उनके महत्व को सिद्ध करने के लिए अनेक ऐतिहासिक तथ्य मौजूद है। उदाहरण के लिए, साम्राज्यवाद की पूरी व्यवस्था के कमजोर होन से, साम्राज्यवादी राज्यो के बीच अतर्विरोधो, अर्थात, उनके बाह्य अतर्विरोधो के बढने से उपनिवेशो मे रहने वाले लोगो के औपनिवेशिक जुए से मुक्ति प्राप्त करने के सघष को असदिग्ध रूप स भारी सहायता मिली है। किन्तु इस सघष की विजय को सुनिश्चित बनाने मे निर्णायक भूमिका आतरिक शक्तियो ने ही, अर्थात् औपनिवेशिक देशो के लोगो तथा ब्रिटिश, अमरीकी, फासीसी और डच साम्राज्यवादी पूजीपति वग के बीच के अतर्विरोधो ने ही अदा की है।

> **आतरिक अतर्विरोध किसी वस्तु या घटना के अतर या केन्द्र मे ही अतर्निहित होते हैं। बाह्य अतर्विरोध ऐसे अतर्विरोध हैं जो विभिन्न वस्तुओ, प्रक्रियाओ तथा घटनाओं के बीच हुआ करते हैं।**

आन्तरिक और बाह्य अतर्विरोधो के बीच भेद करने के अलावा, हम शत्रुतापूण तथा अशत्रुतापूण अतर्विरोधों के बीच भी अतर करना चाहिए।

---

* कम्युनिस्ट और मजदूर पार्टियो की अतर्राष्ट्रीय बैठक, मास्को, १९६९।—स०

शत्रुतापूर्ण और अशत्रुतापूर्ण अंतर्विरोध

किसी पूंजीपति और मजदूर के बीच का, जिनके परस्पर विरोधी वर्ग हित हैं, अंतर्विरोध एक चीज है, लेकिन दो ऐसे मजदूरों के बीच का अंतर्विरोध जिनके वर्ग हित एक ही हैं, बिल्कुल दूसरी चीज है। पहले मामले में जो वर्गीय अंतर्विरोध दिखलाई पडते हैं उन्हें किसी तरह दूर नहीं किया जा सकता, किंतु दूसरे मामले में जो अंतर्विरोध दिखलाई देते हैं वे मजदूर भाइयों के बीच के अंतर्विरोध हैं। ये दो भिन्न भिन्न प्रकार के अंतर्विरोध हैं और इनका समाधान करने के तरीके भी भिन्न भिन्न होते हैं। पहले वाले, यानी पूंजीपति और मजदूर के बीच के अंतर्विरोध को दूर करने के लिए पूंजीवादी शासन को उलटने की, सर्वहारा क्रांति करने की, आवश्यकता होती है। दूसरे वाले, यानी कि दो मजदूरों के बीच के अंतर्विरोध को मिटाने के लिए केवल साथियों जैसी आलोचना और आत्मालोचना से ही काम चल जाता है। पहली किस्म का अंतर्विरोध शत्रुतापूर्ण और दूसरी किस्म का अशत्रुतापूर्ण होता है।

शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोध वहाँ सामने आते हैं जहाँ संघर्ष ऐसे वर्गों के बीच होता है जिनमें समझौता नहीं हो सकता। मानव समाज में, शत्रुतापूर्ण, अर्थात असंधेय अंतर्विरोध शत्रुतापूर्ण सामाजिक शक्तियों और वर्गों के बीच के संघर्षों का रूप ले लेते हैं। जमींदारों और किसानों, पूंजीपतियों और मजदूरों, उपनिवेशों की जनता और साम्राज्यवादियों के बीच के संघर्ष इसी प्रकार के शत्रुतापूर्ण संघर्ष होते हैं। इसीलिए पूंजीवादी समाज स्वयं अपने शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोधों के कारण, जो आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार के होते हैं निरंतर अंदर से खोखले होते जाते हैं।

साम्राज्यवादी देशों और उन देशों के बीच, जिन्होंने हाल ही में अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त की है या जो अब भी अपनी आजादी के लिए लड रहे हैं, जबरदस्त शत्रुता है। एशिया, अफ्रीका, मध्यपूर्व और दक्षिण अमरीका के जनगण ने फैसला कर लिया है कि साम्राज्यवादी लूट-खसोट को अब वे और अधिक नहीं बरदाश्त करेंगे। वे अपनी आजादी के लिए लड रहे हैं। श्रम और पूंजी की पारस्परिक शत्रुता जनता और इजारेदारियों के बीच के अन्तर्विरोध बढता हुआ सैन्यवाद औपनिवेशिक व्यवस्था का विघटन, नव स्वतंत्रता प्राप्त देशों और पुरानी औपनिवेशिक ताकतों के बीच के अन्तर्विरोध, और वह चीज जो इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है यानी तेजी से तरक्की करती हुई विश्व समाजवादी व्यवस्था—ये सब चीजें साम्राज्यवाद को अंदर से खोखला और नष्ट कर रही हैं। इसकी वजह से अब वह कमजोर हो गया है और, कालान्तर में, समाप्त हो जायेगा। यही कारण है कि ऐसे शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोधों से जो

एक सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के रूप मे उसे मौत की तरफ ढकेल रहे है परेशान और टूटता हुआ आज का पूजीवाद भयकर मुसीबत और बीमारी मे मुब्तिला दिखलायी देता है।

शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोधो को कैसे हल किया जाता है ? उनका विकास एक निश्चित तरीके से होता है। वे बढते हैं और तब तक तेज होते जाते हैं जब तक कि उनकी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियो या पक्षो के बीच खुला सघर्ष नही छिड जाता।

> शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोध शत्रुतापूर्ण शक्तियो, हितो, लक्ष्यो, विचारो के बीच के असधेय अन्तर्विरोध होते हैं, और हमेशा सघर्षो और मुठभेडो को जन्म देते है, उन्ह केवल एक घमासान सघर्ष के द्वारा एक सामाजिक क्राति के द्वारा ही हल किया जा सकता है।

एसे शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोधो को पुराने सामाजिक सम्बन्धो के चौखट के अन्दर नही हल किया जा सकता। इसलिए इन सम्बन्धो को भी क्रातिकारी तरीको से खत्म कर देना आवश्यक हो जाता है।

परन्तु, इसका मतलब यह नही होता कि शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोधो का हल करने के तरीके हमेशा एक ही जैसे होते हैं। ये तरीके उन परिस्थितियो पर निर्भर करते हैं जिनके अन्तर्गत इस प्रकार के अतर्विरोधो का हल करना होता है। इसलिए हम देखते हैं कि उन्ह हल करने के लिए भिन्न भिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियो मे भिन्न भिन्न उपायो का इस्तेमाल किया जाता है। इसी वजह से जो लोग शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोधो को हल करने के एक ही तरीके को, अर्थात् खूनी क्राति के उस तरीके को जो माओवादियो को इतना प्रिय है, मानते है— वे गलत है। शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोधो को शातिमय उपायो से हल करने के विचार का सर्वहारा वर्ग न कभी परित्याग नही किया है और न आगे ही कभी करेगा किन्तु साम्राज्यवाद के विरुद्ध अशातिमय उपायो से सघर्ष करने के विचार का भी उसने परित्याग नही किया है। ऐतिहासिक परिस्थितियो की अगर यही माँग होगी कि साम्राज्यवाद का मुकाबला अशातिमय उपायो से किया जाय तो सर्वहारा वर्ग एसे उपायो का उपयोग करने मे नही हिचकिचायेगा। सृजनात्मक मार्क्सवाद का यह एक मूल सिद्धात है।

जिन देशो ने साम्राज्यवाद की बेडियो से अपने को मुक्त कर लिया है उनका अनुभव भी इस बात की पुष्टि करता है कि शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोधो को विविध तरीको से हल किया जाता है। इनमे से कुछ देशो ने (जसे कि अल्जीरिया ने) अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता उपनिवेशवादियो के विरुद्ध एक लम्बा सशस्त्र सघर्ष करके प्राप्त की थी। किन्तु भारत जैसे देशों ने एक ऐसे लम्बे और कठिन

संघर्ष के जरिए अपनी आजादी हासिल की थी जिसमें प्रत्यक्ष सशस्त्र कार्यवाहियों की आवश्यकता नहीं हुई थी।

अशत्रुतापूर्ण अंतर्विरोध शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोधों से इस बात में भिन्न होते हैं कि वे ऐसी सामाजिक शक्तियों और प्रवृत्तियों के बीच के अंतर्विरोध होते हैं जिनके मूल हित, किसी न किसी चीज के संबंध में और कुछ समय तक, सामान्य (एक ही जैसे) होते हैं।

मजदूर वर्ग और किसानों के बीच के तथा और समाजवादी समाज के आगे बढ़े और पिछड़े तत्वों के बीच के अंतर्विरोध इसी प्रकार के अंतर्विरोध होते हैं।

किसी भी समाजवादी समाज की अशत्रुतापूर्ण परिस्थितियों के अंतर्गत, उसके अंतर्विरोधों में और अधिक तीव्र तथा गहरा बनने और शत्रुतापूर्ण असमाधेय अंतर्विरोधों का रूप ग्रहण कर लेने की कोई प्रवृत्ति नहीं होती। इसके विपरीत उदाहरण के लिए मजदूर वर्ग और किसान वर्ग के बीच का अंतर्विरोध उसके (समाजवादी समाज के) अंदर घटने और कम होने लगता है—क्योंकि इन दोनों वर्गों के बुनियादी हित एक ही जैसे होते हैं। अशत्रुतापूर्ण अंतर्विरोधों का हल करने के उपाय उन उपायों से उसी तरह भिन्न होते हैं जिनका शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोधों का हल करने के लिए इस्तेमाल करना होता है जिस तरह कि ये अंतर्विरोध स्वयं एक दूसरे से भिन्न होते हैं। अशत्रुतापूर्ण अंतर्विरोधों का निराकरण करने के लिए सामाजिक क्रांतियों अथवा राजनीतिक विप्लवों की आवश्यकता नहीं होती—उनका निराकरण समझा-बुझाकर, शिक्षा के द्वारा, आत्म आलोचना के माध्यम से तथा उन दूसरे तरीकों से किया जाता है जो समाजवादी और कम्युनिस्ट निर्माण कार्य की ठोस परिस्थितियों के अंतर्गत आवश्यक समझे जाते हैं। समाजवादी समाज के अंतर्विरोधों का ठीक समय के अन्दर ही दूर कर दिया जाता है। उसके अंतर्विरोध कभी भी शत्रुतापूर्ण वर्गों और हितों के बीच समझौता विहीन मुठभेड़ों का रूप नहीं ले पाते—क्योंकि सम्पूर्ण समाजवादी समाज के अन्दर सबके हितों के बीच एक आधारभूत एकता होती है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि समाजवादी समाज के अन्दर शत्रुतापूर्ण हितों और अंतर्विरोधों के न होने का मतलब यह नहीं होता कि उसके अन्दर कोई अंतर्विरोध होते ही नहीं। किन्तु समाजवादी समाज के अंतर्विरोध अशत्रुतापूर्ण होते हैं, अर्थात ऐसे अंतर्विरोध होते हैं जिन्हें उसकी सामाजिक व्यवस्था के दायरे के अन्दर ही सफलतापूर्वक हल कर लिया जा सकता है। इसी तरह वे विकासशील देश भी, जिन्होंने उपनिवेशवाद से अपने को मुक्त कर लिया है

अपने समस्त सामाजिक अंतर्विरोधों को हल कर ले सकते हैं—बशर्ते कि वे विकास के गैर पूंजीवादी रास्ते पर चलने का संकल्प कर लें।

इस भांति, विरोधी तत्वों की एकता और संघर्ष का नियम विकास के आन्तरिक स्रोत को उजागर कर देता है। अब हम प्रश्न कर सकते हैं विकास का मार्ग क्या बिल्कुल सीधा होता है, अथवा उसकी प्रक्रिया ऐसी अधिक जटिलतापूर्ण होती है जिसमें जो पुराना है उसका अन्त हो जाता है और किसी नयी चीज का उदय होता है ?

आगे हम इसी प्रश्न पर विचार करेंगे।

निषेध के निषेध का नियम

निषेध क्या है ?

हम जानते हैं कि मृत्यु, विनाश, क्षय, बुढ़ापा ऐसी चीजें हैं जिन्हें हम रोज देखते हैं। प्रकृति के चाहे जिस घटना प्रवाह को हम ले लें हम देखेंगे कि उसकी कभी न कभी शुरुआत होती है, फिर ऐसा काल आता है जिसमें उसका विकास होता है, वह बढ़ता और शक्ति ग्रहण करता है, और, अन्त में, एक ऐसा काल आता है जिसमें वह बूढ़ा और अनावश्यक हो जाता है। अपनी रचना लुडविग फायरबाख तथा शास्त्रीय जर्मन दर्शन की समाप्ति में एंगेल्स ने लिखा था कि द्वन्द्वात्मक दर्शन के अनुसार "कोई भी चीज परिमित, पूर्ण, पवित्र नहीं है।" प्रत्येक वस्तु पर अवश्यम्भावी निषेध की, विलोप की छाप होती है, और, जन्मने और मरने की सतत प्रक्रिया तथा निम्नतर से उच्चतर की ओर होने वाली अन्तहीन प्रगति के अलावा, ऐसी और कोई चीज नहीं है जो अवश्यम्भावी निषेध की इस प्रक्रिया के सामने टिक सके।

नवीनीकरण, पुराने घटना प्रवाहों के निर्वाण और नये घटना प्रवाहों के अभ्युदय की इस सतत प्रक्रिया को ही हम निषेध कहते हैं। पुरातन की जगह नवीन की स्थापना का अर्थ होता है कि पुरातन का निरन्तर निषेध होता रहता है।

संसार को मर कर यदि काल के गाल में नहीं चला जाना है तो पुरातन का सतत् निषेध होते रहना और उसकी जगह पर किसी नये की स्थापना का होते रहना स्पष्टतया आवश्यक है।

निषेध का निषेध

प्रकृति और समाज में जो नये घटना प्रवाह पैदा होते हैं वे भी इसी प्राकृतिक मार्ग से गुजरते हैं, समय बीतने के साथ वे पुराने पड़ जाते हैं और फिर नये घटना प्रवाह और शक्तियाँ उनकी जगह ले लेती हैं। जो कभी नया था और पुराने के निषेध के रूप में पैदा हुआ था उसका खुद का अब किसी नये तथा और अधिक शक्तिशाली के द्वारा निषेध कर दिया जाता है। इसे निषेध का निषेध कहा जाता है, और विश्व में चूंकि घटना प्रवाहों की संख्या अनन्त है इसलिए निषेध की प्रक्रिया भी बिना किसी अन्त और बिना किसी रुकावट के निरंतर चलती रहती है।

इस सबका व्यवहार में क्या अर्थ होता है? निम्न उदाहरण पर गौर कीजिए जब कोई फसल लगाई जाती है तो वह कई दौरों से गुजर कर तैयार होती है। पहले बीज अंकुरित होते हैं तब पौधे बढ़ते हैं और उसके बाद फसल पक कर तैयार होती है। बीज जब अंकुरित हो जाते हैं तब वे बीज नहीं रह जाते अर्थात बीजों का निषेध हो जाता है। उनकी जगह वे पौधे ले लेते हैं जो उनसे पैदा होते हैं। लेकिन फिर आगे चलकर पौधों में फूल खिलते हैं, वे फल दार बनते हैं, और, अन्त में, वे फल पैदा करते हैं। तब पौधा सूख जाता है। यह द्वितीय निषेध है यह निषेध का निषेध है।

यहाँ पर इस चीज का नोट करना जरूरी है कि निषेध की उक्त प्रक्रिया के फलस्वरूप धरती के अन्दर बीजों की केवल विनष्टि नहीं हुई है, बल्कि नये बीज, दस या बीस गुनी अधिक संख्या में नये बीज पैदा हुए हैं। निषेध के निषेध के नियम का क्या महत्व है यह इस परिणाम से स्पष्ट हो जाता है। जब यह प्रक्रिया शुरू हुई तब हमारे पास क्या था? कुछ बीज। उसके परिणामस्वरूप अब हमारे पास क्या है? और अधिक बीज। लगता है कि प्रक्रिया ने अपनी पुनरावृत्ति की है, उसका आवर्त (चक्र) जैसे पूरा हो गया है, हम फिर वहीं वापस पहुँच गये हैं जहाँ से चले थे। लेकिन स्पष्ट है कि कुछ विकास भी हुआ है। जब हमने शुरू किया तब हमारे पास बीजों की केवल एक निश्चित अपेक्षा कृत छोटी संख्या थी, किन्तु अब, प्रक्रिया की समाप्ति के बाद हमारे पास एक पूरी फसल आ गयी है। इसे मात्र पुनरावृत्ति नहीं कहा जा सकता। यह तो सृजन है। प्रक्रिया की शुरुआत (बीज का बोना) और उसका अन्त (फसल का काटना) विकास की दो गुणात्मक रूप से अलग अलग मंजिलें हैं—नीचे की (निम्नस्तरीय) और ऊँची (उच्चस्तरीय) मंजिलें हैं। इन दोनों मंजिलों के बीच जो विकास हुआ है वह हम फिर वहीं वापस नहीं ले जाता जहाँ से हम

चले थे। इस प्रक्रिया मे कही विराम नही होता, बल्कि निरन्तर नीचे से ऊपर की ओर, सरल से अधिक सश्लिस्ट (जटिल) की ओर विकास होता रहता है।

इस तरह, निषेध के निषेध का नियम बतलाता है कि विकास के क्रम मे प्रत्येक उच्चतर मंजिल पुरानी मंजिल को एक सीढ़ी ऊपर उठाकर और उसमे जो कुछ भी सकारात्मक है उसे सुरक्षित रखते हुए, उस मंजिल का निषेध अथवा उसे निरस्त कर देती है।

द्वन्द्वात्मक निषेध। सवखण्डनवाद और सशयवाद की आलोचना

सब प्रकार के निषेध विकास के स्रोत या जनक नही होते। बीज का बोने और उसके उगने के लिए ऐसी आवश्यक परिस्थितिया तयार करने के बजाय जिनसे कि बीज का द्वन्द्वात्मक ढग से निषेध हो सके, मान लीजिए कि उस बीज का हम किसी यान्त्रिक साधन से, जसे कि उसे कुचल कर, नष्ट कर देते हैं। निश्चित रूप से यह भी बीज का निषेध ही होगा, किन्तु यह उसका द्वन्द्वात्मक निषेध नही होगा। यह विकास के स्रोत का काम नही करेगा। इससे तो केवल एक घटना प्रवाह का, एक वस्तु का केवल विनाश हो जायगा। लेनिन ने इस तरह के निषेध को "निष्प्रयोजन निषेध कहा था।

जीवन मे इस किस्म के निषेध से अक्सर हमारा साक्षात्कार होता है। ऐसे भी लोग हैं जो हर चीज का नकारते है, जो कभी प्रसन्न नही होते, जो किसी भी चीज मे विश्वास नही करते। ऐसे लोगो को **सवखण्डनवादी** (निहिलिस्ट) कहा जाता है। ऐसे भी लोग होते है जो हर चीज पर शक करते हैं, जो हर चीज को अविश्वास की दृष्टि से देखते है। इन्हे **सशयवादी** कहा जाता है। ये भी निषेध करते हैं, किन्तु इनका निषेध भी "निष्प्रयोजन" सशयवादी किस्म का निषेध होता है। लेनिन ऐसे निषेध को "खोखला निषेध" कहते थे और हमेशा इसका विरोध करते थे। **निषेध द्वन्द्वात्मक केवल तभी होता है जबकि वह विकास के स्रोत का काम करता है, जबकि उस हर चीज को जो सकारात्मक, स्वस्थ, मूल्यवान है वह बरकरार रखता है और उसकी सुरक्षा करता है।**

निषेध को स्वय कोई लक्ष्य नही होना चाहिए। केवल निषेध के लिए निषेध तो सवखण्डनवाद (नास्तिवाद या नाशवाद) होता है। द्वन्द्वात्मक निषेध का मुख्य महत्व ही यह है कि बिना विकास की मंजिल को पूर्णतया अस्वीकार किये हुए, बिना उसमे जो अच्छा है उसे फेंके हुए, उसे "पराजित करके" वह आगे "बढ जाता है।" निषेध, अगर वह द्वन्द्वात्मक होता है, प्रत्येक सकारात्मक और उपयोगी वस्तु को बनाये और सुरक्षित रखे रखता है।

सर्वखण्डनवादी और संशयवादी दूसरी तरह से सोचते और काम करते हैं। समाजवादी देशों के अभ्युदय को देखकर पूंजीवादी राजनीतिक महानुभावों की जो प्रतिक्रिया हुई थी उससे भी इस बात का आसानी से पता चल जाता है। उनमें कुछ ने खुलकर अक्तूबर क्रान्ति का विरोध किया था। अनेक वर्षों तक सोवियत सत्ता के अस्तित्व को ही मानने से वे इन्कार करते रहे। संशयवादियों के दिल में तो आज भी इस बारे में शक है कि मेहनतकश लोग स्वयं अपने एक नये समाज का निर्माण कर सकते हैं। वे इस बात में भी शक करते हैं कि जिन देशों ने औपनिवेशिक उत्पीड़न से अपने को मुक्त कर लिया है वे किसी नये जीवन का निर्माण कर सकते हैं।

सोवियत संघ ने जब औद्योगीकरण के राष्ट्र व्यापी कार्यक्रम की शुरुआत की थी तब पूंजीवादी दुनिया के अनेक राजनीतिज्ञों ने कहा था कि वह मात्र एक हवाई योजना थी, एक ऐसा सपना था जो कभी पूरा नहीं हो सकेगा। लेकिन वर्ष गुज़र गये और सर्वखण्डनवादियों और संशयवादियों दोनों के मुंह काले हो गये। अब इस बात में रत्ती भर भी शक नहीं रह गया कि सोवियत संघ एक अत्यन्त शक्तिशाली औद्योगिक राष्ट्र है।

मार्क्सवाद लेनिनवाद के दुश्मन अक्सर कम्युनिस्टों को ऐसे विध्वंसकों के रूप में चित्रित करते हैं जो किसी प्रकार का सकारात्मक, सृजनात्मक काम नहीं कर सकते। किन्तु यह सच नहीं है। जनता शोषण की जिस व्यवस्था से घृणा करती थी उसे कम्युनिस्टों ने केवल इसीलिए नष्ट किया है जिससे कि वे एक नयी समाज व्यवस्था का—समाजवाद और कम्युनिज्म की सर्वाधिक न्यायपूर्ण व्यवस्था का—निर्माण कर सकें। निषेध का उपयोग हमेशा कम्युनिस्ट केवल निर्माण के निमित्त ही करते हैं। इसीलिए, इतिहास में कम्युनिस्टों ने संसार की कायापलट और नवरचना करने वाली आज तक की सबसे बड़ी और महान सृजनात्मक शक्ति के रूप में स्थान प्राप्त किया है। जो कुछ भी प्रतिक्रियावादी है, जो कुछ भी अपनी उपयोगिता समाप्त कर चुका है उसका कम्युनिस्ट निषेध करते हैं, किन्तु जो कुछ भी मूल्यवान है उसकी वे रक्षा करते हैं।

उदाहरण के लिए विश्व संस्कृति की किसी भी प्रकार उपेक्षा करने के विरुद्ध कम्युनिस्ट पार्टी ने सदैव संघर्ष किया है। लेनिन ने बतलाया था कि मज़दूर वर्ग की संस्कृति का निर्माण उलूल जलूल तरीके से शून्य से नहीं किया जा सकता। उसके भव्य प्रासाद का निर्माण पिछली सांस्कृतिक प्रगति के आधार पर, उसकी स्वाभाविक परिणति के रूप में ही किया जा सकता है। समाजवादी संस्कृति पूंजीवादी संस्कृति का निषेध तो करती है, किन्तु इस काम को वह इस तरह करती है कि पूंजीवादी संस्कृति में जो कुछ भी मूल्यवान है वह बचा रह,

सुरक्षित रहे। इसीलिए माओ त्से-तुग गुट के कारनामे मार्क्सवाद विरोधी, लेनिनवाद विरोधी माने जाते हैं। अपनी "सास्कृतिक क्रांति" के द्वारा चीनी राष्ट्र की तथा विश्व के दूसरे तमाम राष्ट्रो की सास्कृतिक धरोहर का, उत्तराधिकार मे मिले समस्त दाय का वह अन्त कर देना चाहता है।

विकास की प्रगतिशील प्रकृति

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे स्पष्ट हो गया होगा कि निषेध के निषेध के माध्यम मे जो विकास होता है उसका चरित्र प्रगतिशील होता है। यह बात प्रकृति और मानव समाज दोनो के क्षेत्र मे होने वाली प्रगति के सम्बन्ध म लागू होती है। प्रकृति मे हम देख सकते हैं कि अचेतन ससार से चेतन ससार की उच्चतर अवस्था तक तथा प्राणि जगत म प्रथम जीवित प्राणियो से मनुष्य के प्रादुर्भाव की अवस्था तक किस प्रकार प्रगतिशील दिशा मे सक्रमण हुआ है। मानव समाज न आदिम साम्यवाद से समाजवाद की व्यवस्था तक, अथात् कम्युनिज्म की प्रथम अवस्था तक का रास्ता तय किया है। विज्ञान के क्षेत्र म भी विकास की दिशा इसी तरह प्रगतिशील रही है। आदिम मनुष्य का जो ज्ञान प्राप्त था उसकी उस ज्ञान के साथ कोई तुलना ही नही की जा सकती जा आधुनिक विज्ञान से मनुष्य को मिला है।

हर क्षेत्र मे हमे इसी नियम शासित रुझान के दशन होते है। विकास हमेशा प्रगतिशील होता है—**निम्नतर से उच्चतर की ओर, सरल से सश्लिष्ट की ओर होता है। निषेध के निषेध के नियम का यही सार है।** मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्व दृष्टिकोण की मुख्य विशेषता का, अर्थात उसकी आधारभूत आशावादिता का यही मूलाधार है। आशावादिता एक ऐसा दार्शनिक दष्टिकाण है जो यह मानता है कि मानव जीवन एक ऐसे प्रगतिशील माग पर आग बढ रहा है जो उसे निरन्तर पूणता क शिखर की आर ल जा रहा है। इस आशावादिता की उत्पत्ति सीधे सीधे निषध के निषेध की द्वद्वात्मक समझदारी स हाती है क्योकि जो लाग निषेध को निषेध के लिए ही नही मानते और यह मानत है कि निषेध प्रगति का आधार है उनका सासारिक दृष्टिकाण अनिवाय रूप से आशावादी होता है। मार्क्सवादी विश्व दृष्टिकोण ठीक ऐसा ही आशावादी दष्टिकोण है।

जो लोग आदशवादी पूजीवादी दृष्टिकोण को अपना कुतुबनुमा मानते है उनके दिल निराशा से परिपूण होते हैं। जीवन म सब कुछ उन्ह अधकारपूण और आनन्द विहीन नजर आता है। पूजीवादी व्यवस्था को पतोन्मुख दशा म पाकर कुछ पूजीवादी दाशनिक और समाजशास्त्री इसे सम्पूण मानव समाज के

ही संकट और पतन की निशानी बतलाते हैं। वे आने वाले "आणविक महा विध्वंस", "सभ्यता के अंत", "विश्व की समाप्ति", आदि-आदि की बातें करते हैं। वे मानव प्रगति से इन्कार करते हैं, इसीलिए ऐसी बातें करते हैं। इस तरह की बातें करना पश्चिम में आज एक फ़ैशन बन गया है। परन्तु विज्ञान और व्यवहार पूंजीवादी दार्शनिकों के नैराश्य भरे इन कथनों का खण्डन करते हैं और सिद्ध करते हैं कि मानवजाति की उत्तरोत्तर प्रगति एक वस्तुगत तथा अखण्डनीय नियम है।

अब सहज प्रश्न उठता है कि जबकि ऐसा भी देखने को मिलता है कि मानव समाज के अन्दर कभी कभी प्रतिक्रियावादी शक्तियों की जीत हो जाती है और प्रगतिशील शक्तियों को पीछे हटने के लिए विवश होना पड़ता है, तब इस बात का दरअसल क्या अर्थ होता है कि उत्तरोत्तर प्रगति ही सामाजिक विकास की खास विशेषता है? सामाजिक विकास के प्रगतिशील चरित्र की धारणा की हिमायत करता हुआ भी मार्क्सवाद लेनिनवाद यह कभी नहीं कहता कि ऐतिहासिक प्रगति सदा एक सीधे मार्ग का ही अनुसरण करती है। इतिहास का पहिया कभी-कभी पीछे की ओर भी घूम जाता है। ऐसे भी अवसर कभी-कभी आते हैं जबकि इस या उस देश में, अथवा कई देशों में एक साथ भी, प्रतिक्रियावादी शक्तियों की जीत हो जाती है। १६३३ में नाज़ी जर्मनी में ऐसा ही हुआ था। जब "काले कर्नलों' ने सत्ता पर कब्ज़ा कर लिया था तब यूनान में भी ऐसा ही हुआ था। परन्तु पीछे की तरफ़ ले जाने वाले ऐसे कदम ऐतिहासिक प्रगति की सामान्य धारा को नहीं बदल पाते। विकास की दिशा, पूरे तौर पर देखा जाय तो, हमेशा ऊपर की ओर, आगे की ओर ही होती है। प्रतिक्रियावादी शक्तियों की जीत सदैव अस्थायी ही होती है। दूसरे विश्व युद्ध में सोवियत सेना के हाथों जर्मन नाज़ीवाद की पराजय इसी बात का प्रमाण है। समाज की प्रगतिशील शक्तियों का निरन्तर विजय की दिशा में बढ़ाव सामाजिक विकास का एक नियम है। यही नियम सामाजिक प्रगति की दिशा को निर्धारित करता है। इतिहास में जो कुछ नया और प्रगतिशील है उसे अनन्त काल तक दबाये रख सकना असम्भव है। जो कुछ नया है उसकी विजय होना उतना ही नियम शासित, आवश्यक तथा अनिवार्य है जितना कि रात के बाद दिन का आना।

मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद के मूलभूत नियमों से परिचय प्राप्त कर लेने के बाद अब हम कुछ ऐसी धारणाओं पर विचार करेंगे जो द्वन्द्ववाद के विज्ञान का अभिन्न अंग हैं। इन धारणाओं को श्रेणियाँ कहा जाता है।

मार्क्सीय द्वन्द्ववाद को मूलभूत श्रेणियाँ

दार्शनिक श्रेणियाँ क्या होती हैं ?

आम धारणाओ के बिना मनुष्य का काम नही चल सकता । उदाहरण के लिए, जीवशास्त्री जीवित प्राणियो का अध्ययन करते हैं, ये प्राणी सेलो (कोशिकाओ) से बने होते है । इन जीवशास्त्रियो को अनिवाय रूप से इस प्रश्न का उत्तर देना पडता है कि सामान्य रूप मे सभी सेलो (कोशिकाओ) के गुण क्या हैं, उनमे सामान्य रूप से कौन सी चीज पायी जाती है ? इसलिए आवश्यक हो जाता है कि जीवशास्त्री सेल (कोशिका) की एक सामान्य वैज्ञानिक धारणा की स्थापना करें । 'सेल' (कोशिका) की धारणा एक सामान्य धारणा है, क्योकि उसके अन्दर न केवल किसी खास जीवित प्राणी की प्रत्येक सेल की समस्त आधारभूत लाक्षणिक विशेषताएँ केन्द्रीभूत हो जाती हैं, बल्कि तमाम जीवित प्राणियो की सेलो (कोशिकाओ) की समस्त आधारभूत लाक्षणिक विशेषताएँ भी मौजूद होती हैं । भौतिकी के सम्बन्ध मे भी यही बात लागू होती है । उदाहरण के लिए, भौतिकी विभिन्न प्रकारो की ऊर्जा का अध्ययन करती है और फिर ऊर्जा क्या है इसकी एक सामान्य परिभाषा या धारणा प्रस्तुत करती है ।

इस तरह की सामान्य धारणाओ को जो परिघटनाओं और वस्तुओ की सब सामान्य विशिष्टताओं तथा पहलुओं की अभिव्यक्ति करती हैं—श्रेणियाँ कहा जाता है ।

प्रत्येक विज्ञान स्वय अपनी वैज्ञानिक धारणाओ अथवा श्रेणियो की रचना करता है ।

किन्तु, अलग अलग विज्ञानो द्वारा स्थापित की गयी श्रेणियाँ क्या हमारे लिए पर्याप्त है ? प्रत्येक विज्ञान सामान्य धारणाओ का अध्ययन स्वय अपने दायरे के अन्दर ही करता है । परन्तु हम देख चुके हैं कि कुछ ऐसे भी अत्यन्त सामान्य गुण हैं—जैसे कि गति, अन्तर्विरोध, भूत, आदि—जो ससार मे सभी वस्तुओ तथा सभी घटना प्रवाहो (परिघटनाओ) मे सामान्य रूप से पाये जाते हैं । फिर वह कौन सा विज्ञान है जो इन सब सामान्य धारणाओ को सूत्रबद्ध करता है ? भौतिकी (भौतिक शास्त्र) इसको नही कर सकती, वह अपने कार्य-क्षेत्र को ज्ञान की उसी शाखा के दायरे म सीमित रखती है जिससे उसका सम्बन्ध है । यही स्थिति रसायन शास्त्र, जीव-शास्त्र तथा दूसरे तमाम विज्ञानों की है ।

वस्तुओ के सब सामान्य गुण—"भूत", "गति", 'विस्तार" (अन्तरिक्ष, अवकाश), "काल", "गुण", "परिमाण", "अन्तर्विरोध", आदि जैसी दार्शनिक श्रेणियों के रूप मे व्यक्त होते है ।

दार्शनिक श्रेणियाँ सर्वाधिक सामान्य धारणाएँ होती हैं।

इस प्रकार हम देख सकते है कि हम भौतिकी अथवा रसायन शास्त्र द्वारा स्थापित की गयी श्रेणियो तक ही नही, यहाँ तक कि तमाम अलग अलग विज्ञानो द्वारा स्थापित की गयी श्रेणिया के कुल योग तक भी नही अपने को सीमित कर सकते। दार्शनिक श्रेणियो अथवा धारणाओ (अवधारणाओ) की सृष्टि घटना प्रवाहो के सब सामान्य गुणो को अभिव्यक्त करने के प्रयास के दौरान ही की जाती है। अब हम इनके विषय मे थोडा विस्तार से विचार करेंगे।

हेतु और परिणाम

अपने दैनिक जीवन और काम के सिलसिले मे हम निरन्तर इस बात पर विचार करना पडता है कि इस अथवा उस घटना प्रवाह का हेतु (कारण) क्या हो सकता है ? यह उन प्रश्नो मे से हैं जिनमे अपने चारो तरफ घटने वाली घटनाओ की आन्तरिक प्रकृति को समझने मे, उनके मूल तक पहुँचने मे हमे सहायता मिलती है। प्राचीन यूनानी दार्शनिक डिमाक्रिटस ने अकारण नहीं यह लिखा था कि, 'फारस (ईरान) का बादशाह बनने के बजाय मैं कम से कम एक वस्तु के वास्तविक कारण (हेतु) का पता लगाना ज्यादा पसन्द करूँगा।"

तब, फिर, दार्शनिक श्रेणिया के रूप मे "हेतु' (कारण) और "परिणाम" क्या होते है ? हम अनुभव से जानते हैं कि शून्य से कोई चीज नही पैदा हो सकती। प्रत्येक घटना प्रवाह या परिघटना की उत्पत्ति का स्वय अपना स्रोत हुआ करता है, कोई ऐसी चीज हुआ करती है जो उसे पैदा करती है। इसी को उसका 'हेतु' (या कारण) कहा जाता है। "हेतु" (कारण) उसे कहते हैं जो किसी दूसरी वस्तु अथवा घटना प्रवाह को पैदा करता है, अथवा उसे घटित कराता है। और "हेतु" (कारण) जिसे पैदा करता है उसे उसका परिणाम (effect) या कार्य (action) कहा जाता है।

"हेतु" (कारण) और मात्र बहाने के बीच के फर्क को हम जानना चाहिए। बहाना क्या होता है ? इस समझाने के लिए निम्न एतिहासिक उदाहरण अत्यन्त उपयोगी होगा। लगभग १३० वर्ष पहले की बात है। अल्जीरिया मे स्थित फ्रांस के एक राजदूत ने ऐसा उद्दण्ड आचरण किया था कि अल्जीरिया के शासक (Bey) से वह बर्दाश्त न हो सका और उसने राजदूत के चेहरे पर अपने पखे से प्रहार कर दिया। शासक का यह काम राजनयिक सभ्याचार के बिल्कुल अनुरूप नही था, किन्तु इतना गम्भीर भी नही था कि उसके लिए युद्ध छेड दिया जाय। परन्तु फ्रांसीसी उपनिवेशवादी तो ऐसे ही किसी मौके की तलाश मे थे जिसको लेकर कोई झगडा खडा हो जाय और उन्हें इस बात का

अवसर मिल जाय कि अल्जीरिया को गुलाम बनाने के लिए वे अपनी फौजें भेज दें। इस प्रकार, एक ऐसी घटना जो अपने आप म महत्वहीन थी, अल्जीरिया की जनता के जीवन के लिए एक मुसीबत बन गयी। यह स्पष्ट है कि वह घटना तो मात्र एक बहाना थी। फ्रासीसी हस्तक्षेप का वास्तविक कारण कुछ दूसरा ही था। वह यह था कि फ्रासीसी उपनिवेशवादियो की लोलुप दृष्टि अल्जीरिया की धन-सम्पदा पर बहुत दिनो से लगी हुई थी और इस मौके का फायदा उठा कर उन्होने बलपूर्वक उस पर कब्जा कर लिया। पखे वाली घटना अगर न हुई होती तो उस "बहुमूल्य मोती' पर—उन दिनो अल्जीरिया को इसी नाम से पुकारा जाता था—कब्जा करन के लिए वे कोई दूसरा बहाना ढूढ निकालते।

इस तरह बहान और कारण (हेतु) म अतर होता है। कारण (हेतु) अन्य वस्तुओ को पैदा करता है, उनकी शुरुआत करता है, इस या उस घटना प्रवाह को घटित कराता है। बहाना मात्र एक निमित्त होता है, एक ऐसी परिस्थिति (या मौका) होता है जिसका दूसरे किन्हीं कामो के लिए इस्तेमाल कर लिया जाता है। किन्तु बहाना ऊपर से देखने मे किन्ही घटनाओ का वास्तविक कारण जसा लग सकता है। इसके अलावा, बहाने का बहुधा घटनाओ के असली कारणो को ढकने के लिए एक पर्दे के रूप मे भी इस्तेमाल किया जाता है। असली स्थिति का छिपाने से जिन लोगो का फायदा होता है वे महज बहाने को ही कारण (हेतु) के रूप म पेश करने मे नही चूकते।

इस प्रकार, "कारण" (हेतु) और "परिणाम" की दार्शनिक श्रेणियां ऐसी दो वस्तुओं अथवा घटना प्रवाहो के सबध को व्यक्त करती हैं जिनमे एक—जिसे कारण (हेतु) कहा जाता है—निरपवाद रूप से दूसरे को—जिसे परिणाम कहा जाता है—पैदा करता है। ऐसे सबध या रिश्ते को कारणवाची (हेतुक) सबध (causal relationship) कहा जाता है।

कारणता

कारणवाची सबध ऐसी ही वस्तुओ के बीच होते हैं जिनका वास्तव मे अस्तित्व होता है। कारण (हेतु) और परिणाम के सबधों की वस्तुगत प्रकृति ही उनकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता होती है। आदशवादी, निस्सन्देह, कारण और परिणाम के सम्बन्धो के वस्तुगत चरित्र से (उनकी वस्तुगतता) से इन्कार करते है। वे कहते हैं कि कारणता (अथवा कार्य कारण सम्बन्ध) की धारणा मनुष्य का दिमागी आविष्कार है जिसका इस्तेमाल अपन चिन्तन को अधिक "मितव्ययी" (economical) तथा 'सुविधाजनक" बनाने के लिए तथा "प्राकृतिक घटना प्रवाहो की अस्तव्यस्तता" के अन्दर क्रम (या व्यवस्था) लाने

के लिए वह करता है। मनोगतवादी आदर्शवादी बर्कले ने कार्य-कारण सम्बन्ध (कारणता) की सम्पूर्ण धारणा का ही खण्डन करने की चेष्टा की थी। उसके बाद ह्यूम और काण्ट ने भी इसी प्रकार की कोशिशें की थी। वे दोनो ही कार्य कारण सम्बन्ध (कारणता) मे वस्तुगत अस्तित्व को स्वीकार नही करते।

पूँजीवादी दार्शनिक कारणता (कार्य-कारण सम्बन्ध) के भौतिकवादी सिद्धान्त पर क्या हमला करते हैं? इसलिए कि उससे अपरिहार्य रूप से अनीश्वरवादी, वैज्ञानिक नतीजे निकालते हैं। ससार मे यदि हर चीज प्राकृतिक कारणो से पैदा होती है, तो फिर प्रकृति की व्यवस्था मे किसी परम शक्ति की, किसी अभौतिक शक्ति की कोई जगह नही रह जाती।

कारणता (कार्य-कारण सम्बन्ध) के वस्तुगत चरित्र को अस्वीकार करने मे आदर्शवादी क्यो गलती करते हैं? हम उनके तर्कों पर कुछ अधिक विस्तार से विचार करें। वे कुछ इस तरह तर्क करते हैं जलती हुई मोमबत्ती को जब भी कोई छूता है तो वह जल जाता है। परन्तु इससे यह नही सिद्ध होता कि भविष्य मे भी उसका स्पर्श करने से आदमी जरूर ही जल जायेगा। चाहे करोड बार भी उसे छूने से आदमी जल गया हो, पर, हो सकता है कि, एक करोड एकवी बार उसे छूने से आदमी न जले! अर्थात्, यद्यपि आदमी के अब तक जलने का सबध हमेशा मोमबत्ती से रहा है, परन्तु इसका मतलब यह नही होता कि जलने का कारण मोमबत्ती ही है!

ये दो वस्तुएँ, जलती हुई मोमबत्ती और लोगों का जलना, केवल साथ-साथ चलती हैं, लेकिन इनसे यह नतीजा नही निकाला जाना चाहिए कि उनके बीच कोई कार्य-कारण (कारणता) का सम्बन्ध है।

उनका यह तर्क मिथ्या है, क्योकि किसी वस्तु का कारण क्या है इसका निर्णय हम केवल कुछ साधारण निरीक्षणो के आधार पर नही करते, बल्कि एक व्यापक ऐसे अनुभव और व्यवहार के आधार पर करते हैं जिससे कि न केवल हमे इस बात का पक्का भरोसा हो जाता है कि आग हमेशा जलाती है, बल्कि जिससे कि हम इस बात की भी समझदारी प्राप्त हो जाती है कि ऐसा क्यो होता है।

कारणता (कार्य-कारण सम्बन्ध) के विषय मे दूसरी चीज यह कहनी है कि वह ससार की एक आम विशेषता है कारणता का नियम भौतिक जगत का एक आम नियम है।

ऐसे कोई घटना प्रवाह नहीं होते जो इस नियम का अनुसरण न करते हों, अर्थात जिनको पैदा न किया गया हो और जिनकी उत्पत्ति भौतिक न हो। आदमी का स्वय अपना अनुभव भी बतलाता है कि कारणता (कार्य-कारण

सम्बन्ध) के नियम मे कोई अपवाद नही होते। जब भी कोई चीज घटती है तो हम हमेशा उसके कारणो को जानने की कोशिश करते है। हर आदमी मानता है कि आग के बिना धुआ नही होता।

कारणता (कार्य कारण सम्बन्धो) के विषय मे तीसरी उल्लेखनीय चीज यह है कि ये सम्बन्ध सक्रिय होते है। कोई कारण जो किसी परिणाम को जन्म देता है, स्पष्टतया एक सक्रिय शक्ति ही हो सकता है। किन्तु विकास की किसी भी प्रक्रिया मे परिणाम की भी भूमिका निष्क्रिय नही होती। सूर्य की किरणें यदि गीले कपडो की किसी कतार पर पडती है तो इसका एक ही परिणाम हो सकता है—वे कपडे सूख जाते हैं। वही किरणें अगर मोम पर पडें तो इसका भी एक ही परिणाम—दूसरा परिणाम—हो सकता है—मोम गल जाता है। सूर्य की ऊर्जा अगर किसी पौधे पर पडती है तो कुछ तीसरी ही तरह के परिणाम निकलते है—उसके प्रभाव के अन्तर्गत पौधे में जीवन के लिए आवश्यक जीवन-प्रद प्रक्रियाएँ शुरू हो जाती है। तब फिर इस सबसे यही नतीजा निकलता है कि कोई कारण (cause) दूसरी वस्तुओ तथा घटना प्रवाहो के सम्बन्ध मे ही कोई प्रभाव (परिणाम) उत्पन्न कर सकता है। इसीलिए हम कारण और परिणाम (या हेतु और परिणाम) के संबधो की बात करते है।

इस सबका सार यह निकला कि कारणता (कार्य-कारण) के संबध वस्तुगत, सामान्य तथा सक्रिय होते हैं।

हेतु और परिणाम की अन्योन्य क्रिया

हेतु और परिणाम एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, भूत चेतना को जन्म देता है किन्तु फिर, चेतना उसके साथ सक्रिय संबध मे आबद्ध होकर, भूत को प्रभावित करती है। हेतु और परिणाम की अन्योन्य क्रिया हेतु और परिणाम की पारस्परिक निर्भरता, तथा उनके द्वारा एक दूसरे को प्रभावित करने के, रूप मे व्यक्त होती है।

परन्तु इसका अर्थ यह नही होता कि हेतु और परिणाम (कारण और फल) एक दूसरे को बराबर मात्रा मे प्रभावित करते हैं, क्योकि कारणता (कार्य-कारण) के किसी भी सम्बन्ध के अन्दर निर्णायक भूमिका सदैव कारण ही अदा करता है। यद्यपि परिणाम की भी भूमिका महत्वपूर्ण होती है, किन्तु होती है वह गौण ही। इस चीज को समझना अत्यन्त आवश्यक है। हेतु-परिणाम के किसी भी सम्बन्ध के अन्दर किसे कारण माना जाय और किसे परिणाम—इसका बहुत असर पडता है। यह चीज उतनी ही महत्वपूर्ण है जितना कि किसी विज्ञान के लिए यह तै करना कि चेतना का जन्म भूत से होता है या भूत का चेतना से।

परन्तु, किसी हद तक यह भी निश्चित है कि हेतु (कारण) के ऊपर परिणाम के प्रभाव की भी उपेक्षा नही की जा सकती।

हेतु और परिणाम के किसी भी सम्बन्ध पर अलग-अलग रूप में नहीं, बल्कि उन वस्तुओ अथवा घटना प्रवाहो के सदर्भ मे रखकर ही विचार किया जाना चाहिए जिन्होने उसे पैदा किया है और जिन्हे वह खुद जन्म देता है। इसीलिए आवश्यक है कि कारणता (कार्य कारण) के प्रत्येक सम्बन्ध को परिणाम और कारण दोनो के रूप मे देखा जाना चाहिए। वह उस चीज का कारण है जो उससे पैदा हुई है किन्तु उसका वह परिणाम है जिसने उसे पैदा किया है। इस भांति हम देख सकते है कि हेतु और परिणाम (कारण और फल) विरोधी ध्रुवो पर स्थित एक दूसरे से अलग थलग नही है। वे पारस्परिक रूप से एक दूसरे पर प्रभाव डालने वाली वस्तुओ तथा घटना प्रवाहो की एक जटिल शृंखला की कडियाँ हैं। लोगो को साक्षर और शिक्षित बनाने के लिए स्कूलो की आवश्यकता होती है और एक साक्षर, शिक्षित व्यक्ति ऐसे दूसरे लोगो को पढा लिखा सकता है जो अब भी निरक्षर है। इस उदाहरण से हेतु और परिणाम की अन्योन्य क्रिया की, उनकी पारस्परिक निर्भरता तथा पारस्परिक प्रभावशीलता की बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है।

अन्योन्य (पारस्परिक) प्रक्रिया की धारणा का एक और भी अर्थ है। यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। एक ऐसे खेत से, जिसे जोता जा चुका है, अधिक बडी फसल प्राप्त होती है और बडी फसल के आधार पर उपभोग के लिए अधिक भोजन तैयार किया जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अच्छी तरह जोता गया खेत हल के सदर्भ मे एक परिणाम होता है, और अधिक बडी फसल के सदर्भ मे वह हेतु (या कारण) होता है और फिर यह अधिक बडी फसल जनता के और अधिक मगल का कारण बनती है। यहाँ हम हेतु और परिणाम के सबधो की एक वास्तविक शृखला के दर्शन होते है। और, इस सबध मे, एगेल्स की तरह हम भी कह सकते है कि,

> विश्व में अन्योन्यता (interaction) की प्रक्रिया सर्वव्यापी है और वह हेतु और परिणाम के लगातार एक के दूसरे मे बदलते रहने की प्रक्रिया के रूप मे अभिव्यक्त होती रहती है, यहां, या इस समय जो कारण (हेतु) है वह वहाँ या आगे चलकर परिणाम बन जायगा, और यहाँ या इस समय जो परिणाम है वह वहाँ, या आगे चलकर कारण (हेतु) बन जायगा।

कार्य कारण (हेतु परिणाम) सबधो की जटिल शृखलाओ के अन्दर से उनकी प्रधान बुनियादी कडियो को ढूढ निकालना बहुत महत्वपूर्ण होता है। उदाहरण के लिए जब हम अमरीका की काली नीग्रो बस्तियो मे होने वाले दगो

मुक्ति दिला देता है। अनिवार्यता और आकस्मिकता क्या है? निम्न उदाहरण पर विचार कीजिए। नवम्बर १६१८ म जमनी मे एक क्राति हुई थी। किन्तु सोशल डेमोक्रेटो (सामाजिक जनवादियो) की गद्दारी के कारण वह विफल हो गयी थी। इस सबध म लाल पताका नामक एक पत्र ने १५ जनवरी, १६१६ को जमन मजदूर वग के नेता काल लीबनेख्त का एक लेख प्रकाशित किया था। जिन लोगो ने क्राति म हिस्सा लिया था उनको सबोधित करते हुए उन्होंने लिखा था "शात रहो! हम अब भी जीवित हैं, हम हारे नही है। और अगर फिर वे हमे शृखलाओ म बाध देते है, तब भी हम यही मौजूद रहग! और हमारी जीत होगी अपने लक्ष्य की प्राप्ति होने तक हम लोग जिन्दा रहें या न रह, लेकिन हमारा कायक्रम जिन्दा रहेगा, मुक्त मानवजाति की दुनिया म, हर चीज के बावजूद, फतह होगी।"

जमनी के मजदूर वग के नेता की इन जोशीली पक्तियो म अनिवार्यता की भावना, 'हर चीज के बावजूद", समाजवाद और कम्युनिज्म की विजय की अपरिहायता की भावना बहुत ही ओजस्वी ढग से व्यक्त हुई है। कम्युनिज्म के दुश्मनो के दिलो को दहलाने वाले इस विश्वास के पीछे कौन सी शक्ति छिपी है? वह नियमो के ज्ञान की शक्ति है। इस बात के सबध मे हमे कोई सदेह नहीं है, या है, कि हर रात केवल कुछ ही घटो तक रहेगी, उसके बाद वह बीत जायगी और फिर सूय उदय होगा और सुबह होगी? इस सबध म भी हमे कोई शक नही है कि जाडे का मौसम चाहे जितना लम्बा हो, कठोर हो उसके बाद वसन्त अवश्य आयेगा। इन चीजो के सबध मे हमारे विश्वास का आधार अनेक शताब्दियो का अनुभव, और प्रकृति और समाज के नियमो का ज्ञान है। बारी बारी से दिन और रात का आना जाना अपनी धुरी पर पृथ्वी के घूमते रहने के कारण होता है। और एक के बाद दूसरे मौसमो का आगमन सूय के चारो तरफ पृथ्वी द्वारा परिक्रमा करते रहने के कारण होता है। कम्युनिस्ट विजय पूजीवाद के उन आतरिक अतविरोधो से पैदा होती है जो अदर से उसे खोखला करते रहते हैं। उन्ही की वजह से अनिवाय रूप से पूजीवाद की मृत्यु हो जाती है और उसके स्थान पर समाजवाद की स्थापना हो जाती है। अस्तु यह बात एकदम निश्चित है कि पूजीवाद को हटाकर सारी दुनिया मे समाजवाद उसकी जगह ले लगा। यह सामाजिक प्रगति का एक वस्तुगत नियम है, और इसीलिए मुक्ति की दुर्निवार प्रक्रिया को रोकने म साम्राज्यवाद अपने को असमथ पाता है।

अनिवार्यता की दाशनिक श्रेणी बतलाती है कि घटना प्रवाहों के बीच इस प्रकार के अयायाथथी सबध बराबर बने रहते हैं। अनिवार्यता वह नही है जो

हो सकती है या नही भी हो सकती, बल्कि वह है जिसका होना अनिवाय है—क्योकि उसकी उत्पत्ति उन गहरे कारणो से होती है जो वस्तुओं की आतरिक प्रकृति के अन्दर से पैदा होते हैं।

परन्तु ससार मे हर चीज अगर अनिवायता के कारण होती है, तो आकस्मिकता के लिए भी क्या कही कोई स्थान है ? क्या दुघटनाएँ (या अप्रत्याशित घटनाएँ) घट सकती हैं ? कोई आदमी मोटर की दुघटना मे फँस जाता है और इससे उसकी मृत्यु हो जाती है। हम क्यो कहते है कि ऐसी घटनाएँ दुघटनाएँ होती हैं ? मोटर के टकराने की घटना की तुलना उस तरह की घटना से कीजिए जिसका हमने ऊपर जिक्र किया था और जिसे हमने अनिवाय बतलाया था। इससे स्पष्ट हो जायगा कि अनिवाय घटना प्रवाह के पीछे तैयारी होती है और उसका कारण पिछले विकास का पूरा क्रम होता है और इसलिए (याद कीजिए कि "हर चीज के बावजूद") वह घटित हुए बिना रह नही सकता, परन्तु, इसके विपरीत, आकस्मिक घटनाएँ अकेली, क्षण भगुर ऐसी घटनाएँ होती है जो अनिवाय नही होती। कोई आकस्मिक घटना घट सकती है या नही भी घट सकती। क्या उस आदमी का पूरा जीवन अनिवाय रूप से उसे मोटर की टक्कर से हान वाली मौत की तरफ ले जा रहा था ? जाहिर है कि ऐसा नही था। ऐसी घटनाओ को अनिवाय घटनाएँ नही कहा जा सकता। वे दुघटनाएँ है।

अक्तूबर १९५७ मे सोवियत सघ ने पहले स्पूतनिक को छोडकर जब अन्तरिक्ष का माग प्रशस्त किया था तो पश्चिम के कुछ पूजीवादी प्रचारको ने कहा था कि सोवियत सघ ऐसा कर सका यह मात्र एक सयोग की बात है उसकी इत्तफाकिया सफलता है ! पर क्या सचमुच बात ऐसी ही थी ? हर्गिज नही। इस सफलता की जड मे समाजवाद की समस्त उपलब्धियाँ थी और वह सतत प्रोत्साहन था जो पार्टी और सरकार की ओर से सोवियत सघ मे निरन्तर विज्ञान को प्राप्त होता है। स्पूतनिक की सफलता इन्ही चीजो की वजह से सभव हुई थी और स्पूतनिक की उडान ने इस बात को सिद्ध कर दिया था कि सोवियत सघ का इन्जीनियरिंग विज्ञान उन्नत है तथा गणित, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र और धातु विज्ञान मे भी उसन काफी प्रगति की है। तब फिर वह सयोग किस तरह था ?

इसलिए, इस बात को जानने के लिए कि अमुक चीज या घटना आकस्मिक है अथवा अनिवाय, आवश्यक है कि पहले इस बात का पता लगा लिया जाय कि उसकी उत्पत्ति आतरिक कारणो से हुई है या बाह्य कारणो से। उदाहरण के लिए, अगर एक प्रचण्ड तूफान किसी उद्यान को नष्ट कर देता है

तो उसे क्या कहा जायेगा—अनिवार्य अथवा आकस्मिक ? निस्सन्देह, तूफ़ान तो अपने रास्ते पर चलेगा। परन्तु उसके परिणामस्वरूप क्या यह लाज़िमी है कि उद्यान का सत्यानाश हो जाय ? कोई भी तूफ़ान बिना कारण के नहीं उठता। किन्तु जहां तक उस उद्यान या बाग का संबंध है उसके संदर्भ में तो वह एक बाह्य, क्षणिक कारण होता है अर्थात् एक ऐसा कारण होता है जिसकी उत्पत्ति बाग या उद्यान से संबंधित किसी भी चीज़ में नहीं होती। अस्तु, उद्यान का ध्वंस एक संयोग (एक दुर्घटना) होता है, वह रत्तीमात्र भी अनिवार्य नहीं होता। आदमी देख सकता है कि आकस्मिकता और अनिवार्यता परस्पर विरोधी है। किन्तु इससे क्या यह नतीजा निकाला जा सकता है कि आकस्मिकता और अनिवार्यता के बीच सामान्य कुछ नहीं है ?

अनिवार्यता और आकस्मिकता में सामान्य क्या है ?

अधिभूतवादी दलील देते हैं कि जो अनिवार्य है वह आकस्मिक नहीं हो सकता और जो आकस्मिक है वह अनिवार्य नहीं हो सकता। साधारण सहज बुद्धि में भी यह बात तर्क-संगत लगती है। लेकिन क्या यह सही है ? इसका उत्तर है नहीं, आकस्मिकता और अनिवार्यता में बहुत कुछ सामान्य (common) होता है। वास्तव में, वे एक दूसरे के साथ घनिष्ट रूप से जुड़ी हुई हैं। एक को दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। नीचे का उदाहरण ले लीजिए।

कुछ वर्ष बीते जब सारी दुनिया में यह खबर फैल गयी थी कि एक अमरीकी बमबारी करने वाले वायुयान से, जिसमें आग लग गयी थी, स्पेन की धरती पर कुछ हाइड्रोजन बम (उदजन बम) गिर पड़े थे। इस "दुर्घटना" के फलस्वरूप दक्षिणी स्पेन के किसानों और मछुओं का सब-कुछ स्वाहा हो गया था। परन्तु इस घटना पर जब हम और अधिक गहराई से विचार करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि वह मात्र एक साधारण दुर्घटना (या संयोग) की बात नहीं थी। आणविक हथियारों को लिए हुए अमरीकी बमबार जहाज़ चौबीसों घण्टे आसमान में चक्कर लगाते रहते हैं—ऐसी हालत में यह अनिवार्य था कि किसी न किसी दिन इस तरह की भयंकर दुर्घटना कहीं घटित हो। और यह भी आकस्मिक नहीं है कि इस तरह की दुर्घटनाएँ अक्सर और बारम्बार घटित होती रहती हैं। मृत्यु के आणविक दूतों को लेकर लोगों को डराने के लिए बराबर उड़ा जायगा तो ऐसी दुर्घटनाओं का होना अनिवार्य ही है।

ऊपर से दिखने वाली किसी दुर्घटना के पीछे देखने से ही इस बात का पता चल सकता है कि क्या ऐसी कोई नियम-शासित अनिवार्यता है जिससे

उसका होना जरूरी हो गया था। वास्तव म, प्रकृति अथवा समाज म ऐसी कोई भी आकस्मिक घटनाएँ नही होती जिनके पीछे ऐसी कोई अनिवाय नियम शासित प्रक्रिया न छिपी हो जिसकी वजह से उनकी उत्पत्ति हुई है। इसीलिए एगल्स न कहा था कि आकस्मिकता अनिवायता की अभिव्यक्ति का एक स्वरूप तथा उसकी पूरक होती है।

वस्तुओं के विकास की आम धारा का अनिवायता ही निश्चित करती है। किन्तु अनिवायता के पूरक का काम आकस्मिकता अनक एसी मौलिक विशिष्टताओं तथा विलक्षणताओं के माध्यम स करती है कि उनस उस स्वरूप की स्थापना हा जाती है जिसके द्वारा अनिवायता की अभिव्यक्ति होती है।

विज्ञान का काम चूकि घटना प्रवाहों के विकास की मुख्य प्रवृत्तियों का उजागर करना होता है, इसलिए वह अपना ध्यान अनिवायता को प्रकट करने, नियम शासित नियमितता को उद्घाटित करने की क्रिया पर सकेन्द्रित करता है और, इसलिए, वह मात्र आकस्मिक खोजों से सतुष्ट नही हो सकता। वैज्ञानिक के लिए आवश्यक होता है कि अपने शोध-काय को वह इस तरह कर जिससे कि उसे सयोग (या आकस्मिकता) पर न निभर रहना पडे और जिसस कि अपन लक्ष्य की ओर विश्वास और ज्ञान के साथ, तथा अधेरे म टटोलने की प्रक्रिया स बचता हुआ, वह आगे बढ सके। उदाहरण के लिए, प्रत्येक भूगभशास्त्री इस बात को जानता है कि यदि खान खोजन वालो ने पूर्वेक्षण का काम बिना किसी तरतीब के उल्टा जलूल ढग स किया होता तो उसके विज्ञान क क्षेत्र म जो अनेक खोजें हुई है वे न हो पाती। भूगभशास्त्रीय पूर्वेक्षण क काय को सफल बनाने के लिए आवश्यक होता है कि पृथ्वी की परता की बनावट को शासित करन वाल नियमो का अध्ययन किया जाय और व्यावहारिक काम म उनसे माग दशको का काम लिया जाय। ऐसा करने से मात्र "सौभाग्य पर उनकी निभरता समाप्त हो जाती है और खान खोजने वाला की सफलता सुनिश्चित बन जाती है।

अवाञ्छनीय आकस्मिक घटनाओं के विरुद्ध सघर्ष

अनेक आकस्मिक घटनाएँ मनुष्य के लिए हितकर होती है, किन्तु सूखा, बाढ तथा अन्य प्राकृतिक विपत्तियों की तरह की अनेक आकस्मिक घटनाएँ एसी भी होती हैं जो उसके लिए दु ख और विनाश का कारण बन जाती है। अनिवायता का, नियम शासित नियमितता का अध्ययन करके विज्ञान इस प्रकार की विपत्तियो के प्रभाव को रोकने की कोशिश करता है। पूछा जा सकता है कि "क्या ऐसा कर सकना सम्भव है ? आकस्मिकता एक वस्तुगत श्रेणी है, है न ? तब फिर ऐसी किसी चीज के प्रभाव को कसे रोका जा सकता है जो मनुष्य पर

नही निभर करती ?" निस्सन्देह, आकस्मिकता को समाप्त करने म हमेशा हम नही सफल हो सकते । परन्तु उसके अवाञ्छनीय परिणामो को अवश्य हम खत्म कर सकते हैं और जहाँ भी सम्भव हो सके वहाँ हमे उन्हें खत्म करने का प्रयास करना चाहिए । अभी तक मौसम के ऐसे मनमाने-पन को खत्म करना सम्भव नही हो सका है जिसकी वजह से भारी नुकसान पहुँचता रहता है । लेकिन अवाञ्छनीय आकस्मिकता के प्रभाव को उस हद तक कम कर सकना अवश्य सम्भव हो गया है जिस हद तक वह उन परिस्थितियो पर निभर करता है जिनके माध्यम से वह व्यक्त होता है । अर्थात्, ऐसी परिस्थितियो का निर्माण करने म निश्चित रूप से हम मदद दे सकते हैं जिनसे आकस्मिकता के हानिकारक परिणामो को कम से कम किया जा सकता है अथवा एकदम रोक दिया जा सकता है ।

सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी और उसकी सरकार अपने अमली कार्यों से इस बात की पूरी कोशिश करती है कि ऐसी कोई दुघटना न होने पाये जिसके लिए वे पहले से ही तैयार न हों । सोवियत सघ के आन्तरिक जीवन तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो दोनो ही के सबध मे वह ऐसी ही कोशिश करती है। सोवियत सरकार ने चेतावनी देते हुए बारम्बार यह कहा है कि हमे सावधान रहना चाहिए कि कही ऐसा न हो कि हाइड्रोजन बमो से लदे किसी बमबार के नियत्रण यत्र मे किसी दोष के पैदा हो जाने से, अथवा उडान के समय उसके चालक के दिमाग म अचानक किसी फितूर के पैदा हो जाने से, अथवा ऐसे ही किसी दूसरे हास्यास्पद आकस्मिक कारण से गलती हो जाय और विश्व युद्ध की ज्वाला प्रज्वलित हो उठे । इसीलिए सोवियत सरकार ने निरन्तर आग्रह किया है कि *युद्ध या शाति के प्रश्न को अधी आकस्मिकता के आश्रय न रहने* दिया जाय, बल्कि ऐसी परिस्थितियो की स्थापना की जाय जिनसे आणविक युद्ध तथा हर प्रकार की ऐसी दुघटनाएँ जिनसे उसकी आग लग सकती है अनिवाय रूप से असम्भव हो जायें । आणविक अस्त्रो की वद्धि को रोकने की सधि इसी दिशा म उठाया गया एक महत्वपूर्ण कदम है । इसीलिए ससार के सभी राष्ट्रो ने भी उसका स्वागत किया है ।

इस प्रकार अवाछनीय दुघटनाओ के सम्मुख मनुष्य सवथा असहाय नही है । उनकी विनाशकारी शक्ति को रोकने अथवा उसे कम करने की क्षमता उसम है ।

सम्भावना और वास्तविकता

व्यावहारिक काय म अक्सर हमे इस प्रश्न का सामना करना पडता है कि

अमुक योजना, लक्ष्य, अथवा अभिलाषा पूरी हो सकती है या नही। जो चीजें पूरी हो सकती हैं, जिन्हे वास्तविकता का रूप दिया जा सकता है उनके बारे मे कहा जाता है कि वे सम्भव हैं।

सोवियत वैज्ञानिक त्सिओलकोव्स्की ने जब अन्तरिक्ष यात्रा के सिद्धान्त को स्थापित कर दिया और राकेटो का निर्माण होने लगा तब उडकर चाँद तक पहुँचने की भी सभावना पैदा हो गयी। बाद म, जब एक सोवियत राकेट चाँद पर आहिस्ता से उतरने म कामयाब हो गया, तब यह सम्भावना वास्तविकता बन गयी।

इस प्रकार, सम्भव उसे कहते हैं जो अभी तक वास्तविक नहीं बना, किन्तु जिसके वास्तविक बन जाने का पूरा आधार है। वास्तविक उसे कहते हैं जो पूरा हो चुका है, जिसे वस्तुगत नियमों ने, प्राकृतिक अनिवार्यता ने, अस्तित्व मे ला दिया है।

> क्या सम्भव है, और क्या वास्तविक है—इनका निणय पूरे तौर से जीवन की ठोस परिस्थितियो से होता है। क्या हो सकता है और क्या नही—इसका निणय मानवीय इच्छा से नही, बल्कि उन नियमो, परिस्थितियो तथा कारणो से होता है जो यथाथ जीवन म पाये जाते है।

निम्न उदाहरण ले लीजिए अमरीका का पूजीवादी प्रचार कहता है कि वह "सबके लिए समान अवसरा" का देश है। हर आदमी के लिए धनी बनने की वहाँ "एक ही जैसी सुविधा" है। लेकिन सच्चाई से यह बात कितनी दूर है। अनेक पीढिया का अनुभव साक्षी है कि वहाँ पर धनी और धनी होते जा रहे हैं और गरीब और गरीब। पूजीवादी समाज के नियमो का यही परिणाम हो सकता है, उनका दूसरा कोई अजाम नही हो सकता। दक्षिण अफ्रीका के गणतत्र मे जो कुछ हो रहा है उस पर एक नजर डाल लेना ही इस बात को समझने के लिए काफी है कि पूजीवादी "स्वग" मे "समान अवसरो" वाला पूजीवादी प्रचार कितना खोखला है। समान अवसर पाने की बात तो दूर रही, दक्षिण अफ्रीका मे कोई काला आदमी साधारण इन्सान की तरह भी जीवन यापन नही कर सकता—उसके वहाँ कोई अधिकार नही हैं।

एक दूसरा उदाहरण ले लें। क्या चमत्कार (करिश्मे) दिखलाये जा सकते है? चमत्कार या करिश्मा उसे कहते हैं जो प्राकृतिक नियमो का खण्डन करता है और जिसे उन नियमो के जरिए नही समझाया जा सकता। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि प्राकृतिक अथवा सामाजिक नियमो के विरुद्ध एक भी चीज या घटना नही घट सकती। इसलिए, चमत्कारो की सम्भावना म विश्वास करने का मतलब असम्भव मे विश्वास करना है।

सम्भव केवल वही हो सकता है जो प्रकृति और समाज के नियमों के अनुरूप हो। जो वास्तविक है वह प्रकृति और समाज के नियमों के भी अनुरूप होता है। सम्भव और वास्तविक दोना वस्तुगत श्रेणियां हैं, क्योंकि वे ऐसी वस्तुओं और घटना प्रवाहों के गुणों की अभिव्यक्ति करती हैं जो हमारी चेतना से बाहर तथा स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं।

परन्तु सम्भावना का वास्तविकता के साथ घाल-मेल नहीं किया जाना चाहिए। जो सम्भव है उसे ठीक इसीलिए सम्भव माना जाता है कि वह अब तक वास्तविकता नहीं बना है। डाक्टरी पढने वाले एक छात्र के लिए इस बात की सम्भावना है कि वह डाक्टर बन जायगा। परन्तु अगर वह सोचता है कि इस सम्भावना की वजह से उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि अपने ज्ञान तथा अपनी कार्य-कुशलता में वह वृद्धि करे, तो वह वास्तव में कभी डाक्टर नहीं बन सकेगा। कपोल कल्पना करना, सम्भव को वास्तविक मान बैठना एक भारी गलती है।

सम्भावना को वास्तविकता में बदलना

सम्भव को वास्तविक बनाने के लिए किस चीज़ की दरकार होती है? हम जानते हैं कि किसी सम्भावना के उत्पन्न होने के लिए उपयुक्त परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। किन्तु सम्भावना के पैदा हो जाने के बाद, उसके लिए परिस्थितियों के परिपक्व हो जाने के बाद भी, क्या केवल इतना ही काफी होता है कि अपने आप वह सम्भावना वास्तविकता में बदल जाय? नहीं, इतना काफी नहीं है। जहां तक सामाजिक जीवन की बात है तो उसके अन्दर तो सम्भावनाओं को वास्तविकता का रूप देने के लिए लोगों को अब भी बहुत काम करना है।

सामाजिक जीवन में किसी सम्भावना को वास्तविकता में परिणत करने (बदलने) के लिए आवश्यक होता है कि (अ) कुछ विशेष वस्तुगत परिस्थितियाँ मौजूद हों, और (आ) उन्हीं के अनुरूप मनोगत परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए मनुष्य काफी काम करें।

मजबूती से कदम उठाने के लिए परिस्थितियां जब तैयार हो जायें तभी वह वक्त आता है जबकि सम्भावना को वास्तविकता में बदलने के लिए पूरी ताकत लगा दी जानी चाहिए।

अक्तूबर क्रांति की वेला में लेनिन द्वारा कहे गये उन अमर शब्दों की जानकारी किसे नहीं है जिनमें उन्होंने यह घोषणा की थी कि अब एक भी क्षण और अधिक प्रतीक्षा करना असम्भव है, कि तुरन्त तथा संकल्पपूर्ण कदम उठाना अत्यन्त आवश्यक हो गया है—कि 'देर के मानी मौत होंगे!' मजदूर वर्ग के लिए

सत्ता पर अधिकार करने के लिए आवश्यक वस्तुगत परिस्थितिया तैयार हो चुकी थी, और अब सब कुछ इस बात पर निर्भर करता था कि उसमे (मज़दूर वर्ग म) उन परिस्थितियो का लाभ उठाने की योग्यता थी या नही, अर्थात, अब सब कुछ बोल्शेविको तथा जनता के सगठन तथा सघर्ष की उनकी तैयारी के ऊपर निर्भर करता था।

इतिहास मे ऐसे उदाहरणो की कमी नही है जबकि क्रान्ति के दौरान दिखलायी गयी सकल्प-हीनता तथा की गयी गलतिया के फलस्वरूप क्रान्ति विफल हो गयी थी। परिस कम्यून का अनुभव भी यही बतलाता है। लेनिन ने लिखा था कि इतना ही काफी नही है कि सही नारे दे दिये जायँ कामा को सही सही तय कर दिया जाय, यह भी आवश्यक है कि उन कामा को पूरा कराने के लिए जनता, जनता के समुदाय, सघर्ष के मैदान म उतरने के लिए तैयार हा और उन कार्यों का पूरा कराने के व्यावहारिक उद्देश्य के लिए वे अच्छी तरह सगठित हा। सक्षेप मे, सम्भावनाओ को साकार बनान के लिए, उन्ह वास्तविकता म बदलने के लिए न केवल वस्तुगत, बल्कि मनोगत परिस्थितिया की भी आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, कम्युनिस्ट समाज का निर्माण करने की सम्भावना यदि आज हमार सामन साकार हो रही है तो उसकी वजह रोज़ाना का वह ठोस काम है जिसम सोवियत जनता और उसका हिरावल दस्ता—वहा की कम्युनिस्ट पार्टी—निरन्तर जुटी रहती है।

रूप और सार

रूप और सार क्या हैं ?

प्रत्येक वस्तु, घटना प्रवाह अथवा प्रक्रिया की कुछ अपनी निजी मूलभूत विशिष्टताएँ होती हैं जो मिलकर उसके सार (या अन्तवस्तु) की रचना करती हैं।

वतमान युग का मुख्य सार पूजीवाद से समाजवाद की ओर सक्रमण है। इस प्रक्रिया की शुरुआत अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति से हुई थी। विश्व इतिहास की वतमान मजिल के सार तत्व तथा चरित्र का निर्धारण इसी चीज़ से होना है। अथवा, किसी कलाकृति को ल लीजिए उसका सार उसकी विषय वस्तु म व्यक्त सामाजिक सम्बन्धा का निचोड होता है।

तो क्या किसी वस्तु के सार (अथवा अन्तवस्तु) के लिए अलग से अपने-आप बना रहना (अस्तित्व रखना) सम्भव है ? इस प्रश्न पर हम थाडा विचार

करें। कल्पना कीजिए कि हमारे सामने एक इमारत का ऐसा निर्माण स्थल है जिस पर मकान के सारे भाग उसका 'सार' मौजूद है। तो क्या हम कह सकते हैं कि हमारे सामने एक मकान खड़ा हुआ है ? साफ है कि ऐसा हम नहीं कह सकते। मकान वहाँ तभी खड़ा हो सकेगा जबकि उसके तमाम भागों को ठीक से जोड़कर लगा दिया जायगा और वह एक मकान की आकृति तथा रूप ग्रहण कर लेगा।

इससे लगता है कि यह जरूरी है कि सार (content) को एक रूप में ढाल दिया जाय। उसके अनुरूप रूप से अलहदा वह अस्तित्व नहीं रख सकता। प्रत्येक वस्तु तथा घटना प्रवाह का एक सार और एक रूप—दोनों होते हैं।

किसी वस्तु का रूप उसके सार (या अन्तवस्तु) का, उसका जो उसके अस्तित्व को सम्भव बनाता है, आन्तरिक संगठन अथवा ढांचा होता है।

रूप और सार (form and content) का अस्तित्व उनकी एकता ही में होता है। वे हमेशा घनिष्ट रूप से एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। अब यह प्रश्न उठता है कि इस एकता में प्रमुख भूमिका कौन अदा करता है ?

यह समझना कठिन नहीं है कि किसी वस्तु अथवा घटना प्रवाह का रूप उसके सार (उसकी अन्तवस्तु) पर निर्भर करता है। इस चीज का निम्न उदाहरण में भी देखा जा सकता है। हाल में मुक्त हुए अनेक देशों में कृषि के विकास से सम्बन्धित नये कामों को—उपज को पैदा करने और बाजार में बेचने वाली, तथा कृषि के लिए आवश्यक मशीनों, आदि की सप्लाई की व्यवस्था करने वाली किसानों की तरह-तरह की सहकारी समितियों और पारस्परिक सहायता समितियों की स्थापना करके—पूरा करने की कोशिश की जा रही है। किन्तु सहकारिता के किस खास रूप को कहाँ पर अपनाया जाना चाहिए यह चीज सम्बन्धित देश की वस्तुगत परिस्थितियों पर ही निर्भर करेगी—सहकारिता के रूप को उस देश की वस्तुगत परिस्थितियों के ही अनुरूप होना होगा। भौतिकवादी द्वन्द्ववाद की इस बात की अगर अवहेलना की जायगी तो गलतियाँ और विफलताएँ ही हाथ लगेंगी। माओ त्से-तुंग के गुट ने सार पर अर्थात् चीन के कृषि उत्पादन के विकास के स्तर पर विचार किये बिना ही और सारे विरोध के बावजूद जब संगठन के एक रूप में कम्यून की एक प्रणाली चालू कर दी थी तो उससे न केवल देश के लिए आवश्यक खाद्यान्नों की सप्लाई के सिलसिले में, बल्कि समाजवाद के लिए खतरा पैदा हो गया था।

सार की भूमिका के निर्णायक होने की वजह यह है कि किसी चीज के रूप का निर्माण उस चीज के भागों (अंगों) की एकता, अथवा बनावट अथवा तरतीब से होता है, क्योंकि किसी वस्तु के भागों की यह एकता ही उसका सार

होती है। हम कह सकते है कि सार ही रूप को, जिसके बिना उसकी कल्पना नही की जा सकती, जन्म देता है। इसीलिए, रूप सार के लिए कोई बाहरी चीज नहीं है, बल्कि, वास्तव मे—उसकी आन्तरिक सरचना (बनावट) का प्रतिनिधित्व करने की वजह से—सार का ही एक भाग है।

रूप और सार में अन्तर्विरोध

फिर, रूप यदि सार (अन्तवस्तु) के ऊपर निर्भर करता है और उसके साथ एकता म ही अस्तित्व रखता है, तब, जैसा कि अक्सर देखा जाता है, ऐसा कैसे हो सकता है कि एक वस्तु अथवा प्रक्रिया का रूप आगे की ओर उसकी प्रगति अथवा विकास क माग मे, अर्थात, उसके सार के विकास के माग म, रुकावट डालने लगता है एक ब्रेक का काम करने लगता है? अगर हम इस तथ्य को ध्यान मे रखें कि चूकि हर वस्तु हमेशा गतिशीलता अथवा विकास की दशा म रहती है इसलिए उसका सार (उसकी अन्तवस्तु) भी कभी स्थिर नही रहता, एक क्षण म जो वह था दूसरे क्षण म ठीक वही कभी नही रहता—तो इस चीज को समझने म बहुत कठिनाई नही होगी। सार के साथ साथ रूप भी विकास करता है, किन्तु वह अधिक बेलोच (rigid), कम लचीला (flexible), कम चलनशील (mobile) होता है। उसकी प्रवत्ति सार से पीछे रह जाने की होती है। और चूकि रूप और सार परस्पर विरोधी होते है, इसलिए अन्ततोगत्वा, उनका विरोध एक अन्तर्विरोध की शक्ल ले लेता है जिसे दूर करना आवश्यक हो जाता है।

नये आविष्कार पहले पुराने रूपो के ही अन्दर ढाले जाते हैं। जो प्रथम मोटर बनी थी वह घोडे द्वारा खीची जाने वाली बग्घी की हूबहू नकल थी। सिलाई की पहली मशीन म, "यान्त्रिक हाथ" बने हुए थे! परन्तु, फिर एक ऐसा वक्त आ जाता है जबकि पुराना रूप नये गुणा के, नये सार के, आगे के विकास की गति को धीमा कर देता है अथवा एकदम रोक देता है। मोटरो के "स्ट्रीमलाइन" किये जाने से पहले यानी उनके सुवाही बनाये जाने से पहले, उनकी पुरानी डिजाइन उनकी गति को सीमित बनाये रखती थी।

रूप और सार के बीच बढते हुए अन्तर्विरोधो को हल करने की आवश्यकता का सामाजिक जीवन म भी हम सामना करना पडता है। उदाहरण के लिए, कुछ स्वतन्त्र अफ्रीकी देशो म नये जीवन का निर्माण करने के काम मे वहा की सरकार के कबीलाई रूप से भारी रुकावट पडती थी। इसलिए आवश्यक हो गया था कि पुराने उस रूप के स्थान पर किसी नये रूप की, राजनीतिक पार्टिया

की प्रतिनिधिपूर्ण सरकार, अथवा स्थानीय चुने हुए प्रतिनिधियों की सरकार के रूप की स्थापना की जाय।

रूप और सार के संघर्षों का कैसे समाधान किया जाता है ? सामाजिक जीवन मे *उनके समाधान के तरीके अलग अलग होते हैं। उनका समाधान शांति* पूर्ण ढग से भी हो सकता है और गैर शांतिपूर्ण ढग से भी। इस चीज का फैसला देश और काल पर निर्भर करता है। समाजवादी समाज व्यवस्था मे रूप और सार के पारस्परिक संघर्षों को पार्टी तथा सरकार की पहलकदमी के आधार पर, पुराने रूप को धीरे धीरे बदलकर, हल कर लिया जाता है। लेकिन ऐसा केवल तभी किया जा सकता है जबकि रूप और सार के पारस्परिक सम्बन्ध का सही सही ढग से समझ लिया जाय। यह चीज खास तौर से ध्यान मे रखने की है कि रूप जो भूमिका अदा करता है उसे हमेशा सही सही नही समझा जाता। उसकी भूमिका का बढा चढाकर मूल्याकन हमेशा विशेष रूप से नुकसानदेह साबित हो सकता है। रूप की भूमिका को बढा चढाकर देखने की गलती को रूपवाद की गलती कहा जाता है।

आपने लोगो को यह कहते सुना होगा कि "अदालत अदालत है।" परन्तु यह कथन फौजदारी के पूंजीवादी कानून की अदालती कार्यवाहियो की प्रकृति की गलत समझदारी को व्यक्त करता है। इस समझदारी के अनुसार तो अदालत को मुकदमो के फैसले तथ्यो के आधार पर कम अदालती कार्यवाही के रस्मी पालन के आधार पर अधिक तै करने चाहिए।

जब कोई कलाकार सार को रूप से जुदा नही कर पाता तो अक्सर उसकी कला मे भी रूपवाद का दोष उभर आता है। कुछ चित्रकार ऐसे चित्र बनाते हैं जिनमे कोई सार नही होता। वे कैनवस के ऊपर बस मनमाने ढग से इधर उधर रग फैला देते है और फिर घोषणा कर देते है कि प्रदर्शन के लिए चित्र तैयार हो गया! रूपवाद का चरम रूप तथाकथित एब्सट्रैक्ट आर्ट (अमूर्त या अव्यक्त कला) होता है। परन्तु वास्तविक कला के लिए वास्तव मे ऐसे कलात्मक रूपो *की आवश्यकता होती है जो अपने सार के पूर्णतया अनुरूप हो।*

रूपवाद की केवल कलाओ के क्षेत्र मे ही नही अभिव्यक्ति होती है बल्कि दूसरे लोगो और काम के प्रति कुछ लोगो के दृष्टिकोण मे भी होती है। जहा भी वह पैदा हो, रूपवाद हमेशा हानिकारक होता है। जीवित मनुष्य की आवश्यकताओ और मागो को समझने मे रूपवादी असमर्थ होता है। व्यावहारिक जीवन मे रूपवादी ठीक उसी तरह का होता है जिस तरह का वह नौकरशाह होता है जो प्रत्येक अच्छी और फलप्रद पहलकदमी को प्रारम्भ मे ही कुचल देता

है और उसे नष्ट कर देता है। इसीलिए रूपवाद के विरुद्ध संघर्ष करना हमारे लिए आवश्यक है।

भौतिकवादी द्वंद्ववाद के मूलभूत नियमों तथा श्रेणियों पर हमने विचार कर लिया है, इसलिए अच्छा होगा यदि इसी सन्दर्भ में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के ज्ञान के सिद्धान्त (theory of knowledge) में सम्बन्धित मूलतत्व (essence) और उसके दृश्य रूप (appearance) की श्रेणियों की भी जांच-पड़ताल हम कर लें।

अध्याय ८

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ज्ञान का सिद्धान्त

मूलतत्व और दृश्य रूप

विज्ञान तथा रोज का व्यवहार हमे बतलाते हैं कि सभी वस्तुओ और प्रक्रियाओ के दो पहलू होते हैं एक तो उनका आन्तरिक पहलू होता है, जो हमारी दृष्टि से ओझल होता है, और दूसरा उनका बाह्य पहलू होता है जो हम दिखलायी देता है। शुरू शुरू मे अपनी ज्ञानेन्द्रियो के माध्यम से जब किन्ही वस्तुओ से हम परिचय प्राप्त करते हैं तब हम उनके केवल कुछ प्रत्यक्ष (या दृश्यमान) लक्षण, यानी उनके बीच के केवल बाह्य सम्बन्ध ही दिखलायी देते हैं। हम केवल उसे ही देखते हैं जो हमारी नजर के सामने होता है। दूसरे शब्दो मे, हम केवल दृश्यरूपो (appearances) की ही दुनिया को देखते है।

परन्तु न तो विज्ञान और न रोजमरा का व्यवहार ही अलग अलग घटना-प्रवाहो, तथ्यो तथा घटनाओ को जिस प्रकार वे सतह पर दिखलायी देती हैं केवल उसी तरह देखने और उनका विवरण प्रस्तुत करने तक अपने को सीमित कर सकता है, उनके लिए आवश्यक होता है कि घटना प्रवाहो के मूलभूत, स्थायी नियमो का, कार्य कारण सम्बन्धी उनकी पारस्परिक निर्भरता (causal dependence) का उनके आन्तरिक सम्बन्धो (internal relations) का पता लगाने की वे चेष्टा करें। प्रकृति और समाज के नियम प्रत्यक्ष नही दिखलायी देते क्योकि वे वस्तुओ के दृश्यरूपो से मेल नही खाते। प्रक्रियाओ के विकास को शासित करने वाले नियमो को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है कि उनकी आन्तरिक प्रकृति का ज्ञान प्राप्त किया जाय, अर्थात्, उनके दृश्यरूपो के

पीछे प्रवेश करके इस बात का पता लगाया जाय कि उनके अन्दर कौन चीज मूलभूत तथा बुनियादी है, इस बात को समझा जाय कि किसी वर्ग विशेष के घटना प्रवाहो की सर्वाधिक लाक्षणिक वस्तु (characteristic) क्या है ?

किसी घटना प्रवाह का मूलतत्व वस्तुगत ससार के आन्तरिक सम्बन्धो को व्यक्त करता है और इसी से घटना प्रवाहो की अन्तहीन विविधता के लिए आधार प्राप्त होता है। दृश्यरूप मूलतत्व का व्यक्त रूप, उसका बाह्य रूप होता है।

परन्तु मूलतत्व दृश्यरूप से पहले नही उत्पन्न होता और न उससे अलग स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्व रख सकता है। मूलतत्व तथा दृश्यरूप एक ही वास्तविकता के अलग अलग पहलुओ को व्यक्त करते हैं मूलतत्व उसका आन्तरिक तथा बुनियादी पहलू होता है, और दृश्यरूप उसका बाह्य तथा तुरन्त दृष्टिगत होने वाला पहलू।

विज्ञान का काम दृश्यरूप का अध्ययन करके मूलतत्व का उद्घाटन करना है। उदाहरण के लिए पूजीवादी व्यवस्था मे मजदूर वर्ग के शोषण की समस्या को हम ले लें। यह शोषण छिपा रहता है, उस पर पर्दा पड़ा रहता है। सतह पर मजदूर और पूजीपति के सम्बन्ध माला के ऐसे स्वतन्त्र स्वामियो जैसे सम्बन्ध होते हैं जिन्हे समान अधिकार प्राप्त हैं। ऊपर से देखने पर ऐसा भी लग सकता है कि मजदूर और पूजीपति के बीच एक मामूली समझौता हो गया है—मजदूर काम करता है और पूजीपति उसके काम की उसे पूरी मजदूरी दे देता है।

शोषण के मूलतत्व को खोलकर सामने रखने तथा सर्वहारा वर्ग और पूजीपति वर्ग के आपसी सम्बन्ध के असली आधार को जाहिर करने के लिए मार्क्स की महान प्रतिभा की आवश्यकता हुई थी। उत्पादन की पूजीवादी पद्धति के मूलतत्व का अध्ययन मार्क्स की कृति, पूजी मे गहराई से किया गया है।

मार्क्स ने यह सिद्ध कर दिया है कि पूजीपति जिस मजदूर को किराये पर रखता है उसे उसके पूरे काम की नही, बल्कि केवल उसके एक अश की मजदूरी देता है। काम के जिस अश के लिए वह कुछ नही देता वही अतिरिक्त मूल्य होता है जिसे पूजीपति हजम कर जाता है। सक्षेप मे, पूजीपति मजदूर का शोषण करता है। यही वजह है कि पूजीवादी समाज व्यवस्था मे आज हमे गरीबी, भूख और बेकारी के साथ ही साथ धन दौलत और बेशुमार फिजूल खर्ची के एक ही जगह दर्शन होते है।

समाज के जीवन से सम्बन्धित घटनाओ के मूलतत्व को वे प्रतिक्रियावादी शक्तिया जिनके दिन लद चुके है अक्सर जान बूझकर विकृत करने की, अथवा उस पर पर्दा डालने की कुचेष्टा करती है। साम्राज्यवादी उन देशो का जिन्हान

औपनिवेशिक उत्पीडन से अपने को मुक्त कर लिया है, "सहायता" देने के प्रस्ताव करते हैं। किन्तु, वास्तव मे, सहायता देन की आड मे साम्राज्यवादी इस बात की कोशिश करते है कि विकासशील दशा को आर्थिक साधनो की मदद से फिर गुलाम बना लिया जाय। साम्राज्यवाद के मूलतत्व को जान बूझकर विकृत रूप मे, तोड मरोड कर प्रस्तुत किया जाता है उमे विकासशील दशा के 'मित्र' क रूप मे पेश किया जाता है।

अज्ञेयवाद को गालोचना

वैज्ञानिक विश्लेषण हमशा वस्तुआ और घटनाओ के असली तत्व का खालकर सामन रखने और उसका अध्ययन करने म हमारी सहायता करता है। पर तु एस भी दाशनिक हैं जो इस बात से इन्कार करते है कि वास्तविक ससार को जाना जा सकता है। व ज़ोर देकर कहते है कि समार सैद्धान्तिक रूप से ही अज्ञेय है। इन लोगो को अज्ञेयवादी* कहा जाता है। ह्यूम और काण्ट अज्ञेयवाद के सब प्रथम प्रतिनिधि थे। काण्ट कहते थे कि सभी वस्तुएँ हमस छिपी हुई हैं, व एक प्रकार से अपनी खोलो के अन्दर मजबूती से बन्द ह और उनकी आन्तरिक अन्त वस्तु को, उनके मूलतत्व को जान पाना असम्भव है। 'अपन ही अन्दर छिपी वस्तुआ' तक आदमी कभी नही पहुँच सकता। केवल उनका बाह्य रूप ज्ञेय है। अज्ञेयवाद क इस दशन का पूजीवादी दुनिया म बहुत प्रचार किया जाता है।

पूछा जा सकता है कि ऐसे विचारो के मौजूद होने की वजह क्या है। ज्ञान, निस्स देह प्रकाश देता है, लेकिन प्रकाश हर आदमी का पसन्द नही है। ससार जब मानवीय मस्तिष्क की शक्तिशाली टाच के प्रकाश से आलोकित हो उठता है तब अनक लाग बहुत सी ऐसी चीजें दखन और करने लगते हैं जिन्हे व न पहल देख सकत थे और न कर सकते थ—और ठीक यही चीज इन लोगा को जो अन्धकार के बीज बोते है जो जनता क उत्पीडक है, नापसन्द है ठीक इसी चीज़ से तो वे डरत हैं। जिस व्यक्ति ने दासता के सामाजिक राजनीतिक तथा

---

* दशन क इस रुझान की लेनिन न निम्न प्रकार व्याख्या की थी अज्ञेय वादी (Agnostic) एक यूनानी शब्द है यूनानी भाषा म a का मतलब 'नही' और 'gnosis का मतलब 'ज्ञान होना है। अज्ञेयवादी कहता है मैं नहीं जानता कि एसी कोई वस्तुगत वास्तविकता (सचाई) है जो हमार सवदना के माध्यम स प्रतिबिम्बित, मूर्तमान हाती है। मैं घोषणा करता हूँ कि इस चीज को जानने का कोई उपाय नही है ' (वी० आइ० लनिन, सम्पूण ग्रन्थावली, खण्ड १४ पृष्ठ १२८)

अन्य रूपों से अपने को मुक्त कर लिया है वह, ज्ञान के प्रकाश में, स्वयं अपने जीवन का निर्माण कर सकता है। यह मात्र संयोग की बात नहीं है कि जिन कौमों ने औपनिवेशिक जुए को उतार कर फेंक दिया है, जिन्होंने फ्रांसीसी, अंग्रेज, अमरीकी तथा अन्य उत्पीडकों को अपने देश से खदेड कर बाहर कर दिया है, उन्होंने तुरन्त निरक्षरता को दूर करने का भी अभियान आरम्भ कर दिया है। वे ज्ञान के प्यासे हैं। और उनकी यह प्यास प्रतिक्रियावादियों, साम्राज्यवादियों उत्पीडकों को भयभीत करती है। उनके हितों की रक्षा जाने या अनजाने ये अज्ञेयवादी करते हैं जो इस बात को अस्वीकार करते हैं कि संसार को जाना जा सकता है।

परन्तु विज्ञान और व्यवहार अज्ञेयवाद के दर्शन का खण्डन करते हैं। एंगेल्स ने अपनी कृति, 'लुडविग फायरबाख तथा शास्त्रीय जर्मन दर्शन का अन्त" में लिखा था कि व्यवहार, प्रयोग तथा उद्योग अज्ञेयवाद के खण्डन का पूर्णतम प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। प्रकृति के घटना प्रवाहों के सम्बन्ध में अपनी समझदारी के सही होने की बात को हम उसका पुनरुत्पादन करके, अर्थात् उसका पुनर्निर्माण करके प्रमाणित कर सकते हैं। काण्ट की मायावी, "अज्ञेय वस्तुओं' (अपने ही अन्दर छिपी वस्तुओं) को विज्ञान तथा जीवन ने स्वयं खोल कर सामने रख दिया है। उदाहरण के लिए, एक ज़माना था जब विटामिनों को केवल पौधों से प्राप्त किया जा सकता था, उस समय वे भी एक प्रकार की "अज्ञेय वस्तुएँ' हुआ करती थीं। परन्तु अब, जबकि रसायन उद्योग चाहे जितनी मात्रा में उनका उत्पादन करने लगा है तब यह "अज्ञेय वस्तु ज्ञेय वस्तु" बन गयी है, "स्वयं अपने लिए" वाली वस्तु 'हमारे लिए वस्तु' बन गयी है अर्थात् उसकी प्रकृति का पता चल गया है, हमने उसकी जानकारी हासिल कर ली है। और जब हम इस बात को याद करते हैं कि विज्ञान ने इस प्रकार के लाखों कार्बनिक (प्राङ्गारिक) यौगिकों (organic compounds) की खोज निकाला है तब हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है कि लाखों "अपने लिए वस्तुओं' (अज्ञेय वस्तुओं) के रहस्य का पता लगा लिया गया है और उन्हें जान लिया गया है। इस भांति, अज्ञेयवाद का अविजय दुर्ग ध्वस्त हो गया है। संसार ज्ञेय है या नहीं—इस प्रश्न का उत्तर स्वयं व्यावहारिक अनुभव ने दे दिया है।

काम के दौरान, उत्पादन सम्बन्धी अपनी क्रियाशीलता के दौरान, मनुष्य अपने आस पास की दुनिया के मूलतत्व तक प्रवेश करता है और उसे समझना सीखता है।

संज्ञान (इन्द्रिय बोध) की अवस्थाएँ

मनुष्य संसार का संज्ञान (बोध) कैसे प्राप्त करता है? कल्पना कीजिए कि आप किसी सहकारी कृषि के फार्म के काम का अध्ययन करने के लिए

भेजा गया है। आप अपना काम वहाँ कैसे शुरू करेंगे? तब आप तथ्य इकट्ठा करेंगे, यानी इस बात का पता लगाना आरम्भ करेंगे कि उस सहकारी फार्म में कितने लोग काम करते हैं, मशीनों की संख्या कितनी है, उनका उपयोग किस तरह किया जाता है, फसल कितनी होती है आदि। और तब इसके बाद सहकारी फार्म की जिन्दगी और काम के सम्बन्ध में कोई खास नतीजे आप निकालेंगे। जाँच पड़ताल के किसी भी काम को हम इसी तरह शुरू करते हैं। वे सब लोग जो प्रकृति के नियमों का अध्ययन और ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करते हैं सबसे पहले तथ्य इकट्ठे करते हैं—यह काम चाहे प्रयोग के द्वारा वे करें चाहे मात्र निरीक्षण के द्वारा किन्तु करते उन्हें वे ज्ञानेन्द्रियों के ही द्वारा हैं। ज्ञान प्राप्त करने की यह पहली अवस्था होती है—इन्द्रिय बोध की अथवा जीवित बोध की।

काफी संख्या में तथ्य जब इकट्ठा कर लिए जाते हैं तब मस्तिष्क उनका विश्लेषण करता है, उनकी तुलना करता है, उनका मिलान करता है और कुछ निष्कर्ष निकालता है। ज्ञान प्राप्ति की यह दूसरी अवस्था—तर्क सम्मत ज्ञान प्राप्ति की अथवा शुद्ध तर्क सम्मत चिन्तन की अवस्था होती है। लेकिन पहली और दूसरी ये दोनों ही अवस्थाएँ व्यावहारिक काम पर आधारित होती हैं। जिन तथ्यों का हम विश्लेषण करते हैं उन्हें हम व्यवहार के ही द्वारा प्राप्त करते हैं। और, इसके उल्टे क्रम में हम देखें तो, इन तथ्यों से हम जो ज्ञान प्राप्त करते हैं उसकी व्यावहारिक जीवन में ही हमें आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, जिस सहकारी फार्म का हमने अध्ययन किया था उसके काम को सुधारने और उसकी फसलों को बढ़ाने के लिए ही इस ज्ञान की हमें जरूरत पड़ती है।

इस प्रकार ज्ञानोपार्जन इन्द्रिय बोध और तर्क बोध की दो अवस्थाओं के माध्यम से होता है, और ये दोनों ही अवस्थाएँ व्यवहार पर आधारित होती हैं।

लेनिन ने लिखा था, "जीवित बोध से शुद्ध चिन्तन की ओर, और इससे व्यवहार की ओर—सत्य के सज्ञान की प्राप्ति का, वस्तुगत सचाई के सज्ञान की प्राप्ति का—यही द्वन्द्वात्मक मार्ग है।"*

विज्ञान के इतिहास में निम्न घटना का वृत्तान्त मिलता है। एक बार एक बीमार स्त्री को एक अस्पताल में लाया गया। उसकी सभी ज्ञानेन्द्रियाँ लकवा ग्रस्त हो गयी थीं। वह न देख सकती थी न सुन सकती थी और न उसे गंध अथवा स्वाद का ही कोई बोध होता था। उसके एक हाथ में केवल स्पर्श की इन्द्रिय काम कर रही थी। बाहरी संसार का वह केवल इसी एक माध्यम से

---

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड ३८, पृष्ठ १७१।

ज्ञान प्राप्त कर सकती थी। लेकिन यह ज्ञान कितना कम था इसे भली भांति समझा जा सकता है। अधिकांश समय रागिणी अचेत रहती थी। इससे क्या सिद्ध होता है? इससे यह सिद्ध हो जाता है कि हमारी ज्ञानेन्द्रिया ही वे साधन है, व मार्ग हैं जिनके माध्यम से अपने चतुर्दिक ससार का ज्ञान हम प्राप्त करते हैं। बाह्य ससार हमारी ज्ञानेन्द्रियो को प्रभावित करके सवेदना पैदा करता है। और, अपनी सवेदनाओ को छोडकर और कोई तरीका नहीं है जिससे ससार के विषय में हम कुछ भी जान सकते है।

हमारी यदि एक ज्ञानेन्द्रिय खराब हो जाय तो दूसरी ज्ञानेन्द्रिया किसी हद तक उसकी कमी का पूरा कर सकती है। किन्तु यदि हमारी सारी ही ज्ञानेन्द्रिया हम से छिन जाती हैं तो हम असहाय हो जाते है। ससार के विषय में फिर हम कुछ भी नहीं जान सकते। सवेदना है क्या?

जब गरम पानी किसी के हाथ से छू जाता है तो वह व्यक्ति गर्मी की सवेदना का अनुभव करता है। जब हम किसी लाल चीज को देखते है तो हमारे अन्दर उसके अनुरूप लाली की सवेदना होती है। सब का अस्तित्व अपने समस्त गुणो के साथ वस्तुगत और हमसे स्वतन्त्र होता है। लेकिन जब वह हमारी ज्ञानेन्द्रिया पर प्रभाव डालता है तो उसकी वजह से रग, गध, स्वाद आदि की सवेदनाएँ पैदा होती है। **वस्तुओ के, बाहरी ससार के, हमारी ज्ञानेन्द्रियों पर पडने वाले प्रभाव के परिणाम को ही सवेदनाएँ** कहा जाता है। इसी वजह से हमारे चतुर्दिक ससार का हम सच्चा, ठीक ठीक ज्ञान वे कराती है।

लेकिन इस बात का क्या प्रमाण है कि हमारी सवेदनाएँ ससार का सही सही ही ज्ञान हमे कराती है? इसका प्रमाण व्यवहार है। हमारी सवेदनाएँ अगर हम सही सही सूचना न दें तो बाहरी ससार मे पायी जाने वाली चीजो का व्यावहारिक उपयोग हम न कर सकें। उदाहरण के लिए, हमारी ज्ञानेन्द्रियो के अनुसार जो पदार्थ हमारे शरीर के लिए लाभदायक है, वे हानिकर साबित हो सकते हैं, और, इसी तरह यदि ज्ञानेन्द्रिया से प्राप्त होने वाला ज्ञान सही न हो तो जो वस्तुएँ हमारी ज्ञानेन्द्रियो के अनुसार हमारे लिए बुरी हैं, वे अच्छी साबित हो सकती हैं।

हमारी आख जिस वस्तु को हम देखते है उसकी मानो फोटो जैसी तस्वीर उतार लेती है। यदि कोई वस्तु चलती है तो हमारे रटिना (नेत्र पटल) पर चल रही वस्तु की प्रतिमूर्ति दिखलायी देती है। अगर वह वस्तु अचल अवस्था में होती है तो अचल अवस्था में ही नेत्र पटल (रटिना) पर वह दृष्टिगोचर होती है। आँख ससार मे घटित होने वाली प्रत्येक वस्तु को प्रतिबिम्बित करती है और उसकी नकल उतार लेती है। दूसरी ज्ञानेन्द्रियाँ भी इसी प्रकार काम करती

है। इससे स्पष्ट है कि अज्ञेयवादियों का यह कहना गलत है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ संसार में जो कुछ घट रहा है उसकी अविश्वसनीय साक्षी है।

परन्तु संवेदनाओं का चाहे कितना ही भारी महत्व क्यों न हो, केवल उनके जरिए संसार का ज्ञान पाना असम्भव है। चिन्तन के माध्यम से मनुष्य सहज इन्द्रिय बोध से आगे जाता है उसके जरिए वह ऐसे ऐसे क्षेत्रों में प्रवेश करता है जहाँ इन्द्रिय-बोध कभी नहीं पहुँच सकता। चिन्तन की सहायता से मनुष्य वस्तुओं और घटना प्रवाहों के आन्तरिक सम्बन्धों को, अर्थात उनके विकास के नियमों की जानकारी प्राप्त कर ले सकता है। संवेदनाएँ बाहरी विश्व के साथ मनुष्य का सीधा सम्बन्ध जोड़ती हैं, किन्तु उसका मस्तिष्क बाहरी विश्व को अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिम्बित करता है। इसका अर्थ यह होना है कि तर्कशास्त्र के नियम अप्रत्यक्ष जानकारी पर आधारित होते हैं। उदाहरण के लिए, इस बात का पता लगाने के लिए कि आया कोई मनुष्य अपनी जान को जोखिम में डाले बिना अन्तरिक्ष यान में यात्रा कर सकता है पहले पशुओं को लेकर प्रयोग करने पड़े थे। इन प्रयोगों से जो जानकारी प्राप्त हुई उसके आधार पर सोवियत वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकाला था कि मनुष्य सुरक्षित रूप से अन्तरिक्ष की उड़ान पर जा सकता है। प्रथम अन्तरिक्ष यात्रियों की सफलताओं ने पूरी तरह से सिद्ध कर दिया है कि उनके निष्कर्ष सही थे।

तथ्यों के बिना निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते।

तथ्य ही वह हवा है जिसमें वैज्ञानिक सांस लेते हैं। संवेदनाएं तथ्य प्रस्तुत करती है। फिर मस्तिष्क उनका सामान्यीकरण करता है (generalises) और उनसे ठोस तर्कपूर्ण नतीजे निकालता है।

मानवीय तर्क की शक्ति न होती तो भिन्न भिन्न प्रकार के, एक दूसरे से असम्बद्ध, तथ्यों के मात्र इधर उधर बिखरे अम्बार ही दिखलायी पड़ते। परन्तु सामान्यीकृत अथवा सारांश रूप में प्राप्त तथ्य हमारे चतुर्दिक फैली अथवा घटित होने वाली वस्तुओं तथा घटनाओं के कारणों तथा उनकी नियम शासित नियमितताओं की गहरी जानकारी हमें प्रदान करते हैं, अर्थात वे हमें घटना प्रवाहों के मूल तत्व तक पहुँचा देते हैं। मस्तिष्क इन्द्रिय बोध द्वारा जाने गये घटना प्रवाहों की केवल मूलभूत विशिष्टताओं (essential features) का चयन करके काम करता है। यही कारण है कि प्रखर तर्कपूर्ण चिन्तन में केवल वही रहता है जो आधारभूत ढंग से प्रासंगिक होता है।

इन्द्रियाँ मस्तिष्क के लिए आधार सामग्री, तथ्य इकट्ठा करती है। मस्तिष्क उनके आधार पर आम (सामान्य) नतीजे निकालता है उनका सामान्यीकरण करता है। इन्द्रियों के बिना मस्तिष्क, दिमाग काम नहीं कर सकता। किन्तु

मस्तिष्क की नियमकारी (नियन्त्रणकारी) सक्रियता (regulating activity) के बिना इन्द्रिय-जन्य ज्ञान भी नही प्राप्त किया जा सकता। **सज्ञान प्राप्त करने की व्यवहार पर आधारित एक ही एकीकृत अविभाज्य प्रक्रिया की—इन्द्रियो के द्वारा और मस्तिष्क के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की—दो विशिष्ट अवस्थाएँ हैं।** इन दो अवस्थाओ (या मजिलो को) एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता, यद्यपि दर्शन के इतिहास मे ऐसा करने की बारम्बार कोशिशें की गयी है। कुछ दार्शनिको का, जो तर्क बुद्धिवादी (rationalists) कहलाते हैं, कहना है कि मनुष्य केवल मस्तिष्क की ही सहायता से ससार को समझ सकता है। तर्कबुद्धिवादी उन तथाकथित इन्द्रिय ज्ञानवादियो (sensualists) अथवा अनुभव सिद्धवादियो (लटिन भाषा मे **sensus** का अर्थ "इन्द्रिय" और यूनानी भाषा म empiria का अर्थ "अनुभव" होता है) के विरुद्ध है जिनका विचार यह है कि लोग अपना समस्त ज्ञान अपनी ज्ञानेन्द्रियो की सहायता से, केवल इन्द्रिय जन्य अनुभव के माध्यम से ही प्राप्त करते है और इन्द्रियो द्वारा इकट्ठा की गयी आधार सामग्री म मस्तिष्क कोई नयी चीज नही जोडता।

परन्तु तर्क बुद्धिवादी और अनुभव सिद्धवादी दोनो ही ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया मे मस्तिष्क तथा इन्द्रियो की सापेक्ष भूमिकाओ की समस्या का केवल एकतरफा हल प्रस्तुत करते हैं। परन्तु हम किसी भी एक की भूमिका का दूसरे की भूमिका के मुकाबले मे बढा चढाकर नही देखना चाहिए।

इन्द्रिय-जन्य (sensual) तथा तर्क बुद्धि सगत (rational) दोनो ही प्रकार का ज्ञान बराबर महत्व रखता है और ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया म उन्हे एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता।

सज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया मे व्यवहार की भूमिका

मानव समाज का प्रारम्भ काम से, व्यावहारिक सक्रियता से हुआ था। जिन्दा रहने के अपने सघर्ष के दौरान मनुष्य को जिस चीज की भी जानकारी प्राप्त करने की जरूरत थी वह उसे दिन दिन के व्यावहारिक अनुभव से मिलती गयी। जीवन का हमारा अपना अनुभव भी इसी बात का प्रमाणित करता है। मनुष्य जब पैदा होता है तो उसे कोई ज्ञान नही होता। ज्ञान वह अपने व्यावहारिक अनुभव के क्रम म विश्व के विविध घटना प्रवाहो के साथ साक्षात्कार करने तथा उनके साथ सामञ्जस्य स्थापित करने की प्रक्रिया के जरिए हासिल करता है। कोई शिशु जब आग को छूने की कोशिश करता है तो उस समय तक आग के गुणो की कोई चेतना उसे नही होती। किन्तु अनुभव से जल्दी ही उसके गुणो का

वह समझ जाता है और फिर आग के पास जाने की कोशिश नहीं करता। उसे कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

परन्तु व्यवहार का मतलब प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तिगत अनुभव से कुछ अधिक होता है। मार्क्सवाद से पहले के भौतिकवाद ने इसी सिलसिले में गलती की थी। व्यवहार से वह अलग अलग मनुष्यों के केवल निजी व्यावहारिक अनुभव का मतलब लगाता था। मार्क्सवाद से पहले के इन भौतिकवादियों को लगता था कि विश्व में अनेक 'रॉबिन्सन क्रूसो' रहते हैं। वे एक दूसरे से पृथक, अलग अलग रहते हैं और, इसलिए, पूर्णतया केवल स्वयं अपने प्रयासों के जरिए ही विश्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विवश हैं। परन्तु सचाई यह नहीं है। व्यवहार में हम न केवल उसका उपयोग करते हैं जिसे हम सीधे सीधे स्वयं अपने अनुभव से सीखते हैं, बल्कि दूसरे लोगों के अनुभव का भी, सम्पूर्ण मानवजाति के अनुभव का भी लाभ उठाते हैं। इसीलिए मार्क्सवाद सामाजिक व्यवहार की बात करता है। सामाजिक व्यवहार का अर्थ मानव का वह समस्त व्यवहार होता है जिसके दौरान मनुष्य भौतिक विश्व को प्रभावित करते हैं तथा उत्पादन, वैज्ञानिक प्रयोग, वर्ग संघर्ष, आदि के जरिए उसे बदलते हैं।

संज्ञान (ज्ञान) प्राप्त करने की प्रक्रिया में व्यवहार के महत्व का आधार यह तथ्य है कि अंतिम विश्लेषण में समस्त ज्ञान मनुष्य की सामाजिक, व्यावहारिक क्रियाशीलता में ही प्राप्त होता है। विज्ञान के इतिहास में इस बात के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ज्यामिति (रेखागणित) का जन्म कैसे हुआ था? पुरातन काल से मनुष्य भूमि पर काम करते आये हैं और अपने रहने के लिए किसी न किसी प्रकार के घर बनाते आये हैं। इन कामों के लिए उन्हें हमेशा विभिन्न रूपों और आकारों के प्लाटों (भूमि के टुकड़ों) को नापना पड़ता था। धीरे धीरे उन्हें पता चला कि अगर किसी प्लाट की आकृति एक विशेष प्रकार की होती थी उसकी आकृति यदि एक त्रिभुज (triangle) अथवा समलम्ब चतुर्भुज (trapezium) की तरह की होती थी तो उसे नापने में एक विशेष तरीके से मदद मिलती थी। किसी भी विज्ञान का इसी तरह—व्यावहारिक अनुभव के सामान्यीकरण के गर्भ से जन्म होता है। कुछ घटना प्रवाह और घटनाएँ घटित होती हैं। उनका व्यावहारिक अध्ययन करने से सामान्यीकरण के लिए आधार प्राप्त होता है और फिर उससे सिद्धान्त का, ज्ञान का जन्म होता है। वैज्ञानिक ज्ञान, सिद्धांत, पूरे तौर से व्यवहार पर ही आधारित होता है।

ऐसी हालत में आप पूछ सकते हैं इस सब का अर्थ क्या यह होता है कि मनुष्य एक ऐसा निष्क्रिय निश्चेष्ट (जड) प्राणी है जो आँखें बन्द करके पड़ा रहता है और बाहरी संसार एकतरफा ढंग से उसके ऊपर प्रभाव डालता रहता

है ? मार्क्सवाद से पहले के अधिभूतवादी भौतिकवादी व्यावहारिक अनुभव का सिर्फ यह अर्थ लगाते थे कि उसके माध्यम से बाहरी संसार मनुष्य को प्रभावित करता रहता है। परन्तु मार्क्स ने व्यवहार की और अधिक गहरे ढंग से व्याख्या करते हुए यह बतलाया था कि उसके जरिए बाह्य संसार मनुष्य को प्रभावित करता है और मनुष्य खुद भी बाहरी दुनिया को प्रभावित करता है।

व्यवहार ज्ञान का न केवल आधार है, बल्कि वह उसकी प्रेरक शक्ति भी है। उदाहरण के लिए, जिंदगी अगर कृषि वैज्ञानिकों से यह कहती है कि वे इस बात का पता लगाएँ कि किसी भूमि विशेष पर सबसे अच्छी तरह कैसे खेती की जा सकती है, तो इस व्यावहारिक काम से कृषि विज्ञान के विकास को भी अत्यधिक प्रेरणा मिलेगी। व्यावहारिक समस्याओं का हल करते समय विज्ञान को सदा नये-नये सामान्यीकरण करने पड़ते हैं। इससे वह सिद्धान्त को अधिकाधिक समृद्ध और उन्नत बनाता जाता है। लेनिन ने जब यह कहा था कि व्यवहार सैद्धान्तिक ज्ञान से ऊपर होता है तथा ज्ञान के सिद्धान्त का वास्तविकता की तरफ एक सही व्यावहारिक दृष्टिकोण पर आधारित होना चाहिए, तब उनका यही मतलब था।

अब प्रश्न उठता है इस चीज़ से क्या उत्पादन तथा मनुष्य की क्रान्तिकारी गतिविधियों के क्षेत्र में सिद्धान्त का, विज्ञान का महत्व घट जाता है ? संशोधनवादी तथा मार्क्सवाद लेनिनवाद के दुश्मन यह सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि सज्ञान प्राप्त करने के सन्दर्भ में मार्क्सवादी लेनिनवादी जब यह कहते हैं कि उसके लिए मूल महत्व व्यवहार का होता है तब वे सिद्धान्त की महत्ता को अस्वीकार करते हैं। ये लोग कहते हैं कि मार्क्सवादी मात्र "संकुचित व्यवहारवादी' हैं, सिद्धान्त की वे "अवहेलना' करते हैं। पर यह बात सर्वथा गलत है। मार्क्सवादी लेनिनवादी पार्टियों ने सिद्धान्त को सदा ही सर्वाधिक महत्व दिया है। लेनिन स्वयं बराबर इस बात पर ज़ोर देते थे कि व्यवहार के पथ को सिद्धान्त ही आलोकित करता है।

इस प्रकार, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद में व्यवहार अथवा सिद्धान्त किसी भी एक अकेले का महत्वपूर्ण मानने की कोई गुंजायश नहीं है। सिद्धान्त और व्यवहार के बीच एक द्वंद्वात्मक एकता होती है। उन्हें अलग अलग कर सकना असम्भव है। सिद्धान्त का जन्म व्यवहार से होता है। किन्तु सिद्धान्त भी व्यवहार की सहायता करता है और उसे समृद्ध बनाता है। व्यवहार के बिना कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता। और न एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त के बिना कोई क्रान्तिकारी व्यवहार ही हो सकता है। व्यवहार के बिना सिद्धान्त मृत होता है। इससे भी बुरी चीज यह है कि व्यवहार के अभाव में सिद्धान्त एक निरर्थक बात

बन जाता है। परन्तु वैज्ञानिक सिद्धान्त के बिना व्यवहार अंधा होता है—क्योंकि अपने-आप उसमें, खुद में, दूर दृष्टि नहीं होती। देश की बात तो छोड़ दीजिए, सिद्धान्त के बिना किसी फैक्टरी अथवा सहकारी समिति को भी कुशल ढंग से चला सकना असम्भव होता है।

सिद्धान्त और व्यवहार की अटूट एकता ही ज्ञान के मार्क्सवादी सिद्धान्त की कोण-शिला है।

सत्य क्या है ?

हम कैसे विचार कर सकते हैं कि मनुष्य ज्ञान प्राप्त करने के क्रम में जो ज्ञान हम प्राप्त होता है वह सच्चा ज्ञान है ?

रोजमर्रा के जीवन के अनुभव से हम जानते हैं कि किसी कथन को केवल तभी सच्चा माना जाता है जबकि वह वास्तविकता से मेल खाता है। वे समस्त वक्तव्य जो वास्तविकता (या सचाई—अनु०) से मेल खाते हैं, सही होते हैं। सत्य असत्य का, अथवा गलत विश्वास का, विरोधी होता है। हमारे वक्तव्य तब गलत होते हैं जब वे कोई ऐसी चीज कहते है जो वास्तविक जीवन में वैसी नहीं है। मार्क्सवाद लेनिनवाद के अनुसार, सत्य वह है जो सचाई को (वास्तविकता को—अनु०) सही सही व्यक्त करता है। हमारा ज्ञान यदि वस्तुगत संसार से मेल खाता है, तो वह सच्चा है। वस्तुगत सत्य से मार्क्सीय दर्शन का यही अर्थ होता है।

अपनी कृति, भौतिकवाद तथा अनुभव सिद्ध आलोचना में लेनिन ने वस्तुगत सत्य मानवीय विचारों के सार-तत्व के उस भाग को कहा है जो कर्ता (subject) पर नहीं निर्भर करता, मनुष्य और मनुष्यजाति पर नहीं निर्भर करता।

इसका मतलब क्या हुआ ? इसका मतलब यह है कि मनुष्य के बिना कोई सत्य नहीं हो सकता। इसके बावजूद, वह चीज जो सत्य का सार तत्व है, मनुष्य पर नहीं निर्भर करती। सत्य की प्राप्ति मनुष्य के चतुर्दिक के संसार में होती है। वक्तव्यों तथा सम्मतियों की सचाई का निर्णय मानवीय इच्छा द्वारा नहीं, बल्कि वस्तुगत सचाई के साथ उस चीज के साथ उनके मेल खाने से होता है जो संसार में मनुष्य से स्वतंत्र रूप से अस्तित्व रखती है।

इसीलिए लेनिन कहते हैं कि वस्तुगत सत्य मनुष्य और मनुष्यजाति से स्वतंत्र है, दूसरे शब्दों में यह मनुष्य की मनमानी चाह से स्वतंत्र है। मनुष्य सत्य की सृष्टि नहीं करता बल्कि वस्तुगत संसार में जो मौजूद है उसको मनुष्य उसे प्रतिबिम्बित करता है।

मनुष्य के पास इस बात की क्या गारण्टी है कि उसका ज्ञान सच्चा है सच्चाई से मेल खाता है ? अर्थात् हमारे ज्ञान की सच्चाई को जाँचने की कसौटी उसको परखने का साधन क्या है ? इसकी कसौटी सामाजिक व्यवहार है। हमारे विचारों, हमारे सिद्धान्तों और हमारी परिकल्पनाओं की सच्चाई या असत्यता की परीक्षा करने का एकमात्र सही साधन मनुष्य का व्यावहारिक कर्म है। मार्क्स ने लिखा था,

"मनुष्य को अपने चिन्तन के सच होने का अर्थात् उसकी वास्तविकता और सत्ता का, उसकी इहलौकिकता का प्रमाण व्यवहार में देना चाहिए।"*

वास्तविकता के अध्ययन से जो ज्ञान हम प्राप्त करते हैं उसकी पुष्टि जब व्यवहार से हो, तभी हम विश्वास कर सकते हैं कि वह सच्चा है, और उस पर सन्देह करने की जरूरत नहीं है। इसके विपरीत, वे परिकल्पनाएँ और सिद्धान्त जो जीवन में, व्यवहार में सही नहीं साबित हो सकते, गलत हैं झूठे हैं। उदाहरण के लिए, लेबर पार्टी वाले तथा अन्य तमाम प्रकारों के सशोधनवादी चाहे जितनी बार और चाहे जितने समय तक रट लगाये रहें कि पूँजीवादी समाज से समाजवादी समाज की तरफ बिना क्रान्ति के "धीरे धीरे" संक्रमण किया जा सकता है, किन्तु इस लक्ष्य को प्राप्त करने में वे कभी सफल नहीं होंगे—उसी तरह जिस तरह कि आज तक नहीं हुए हैं। बिल्कुल सीधी बात है कि उनका सिद्धान्त झूठा है। और झूठे सिद्धान्त समय की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। हर जगह और हमेशा सिद्धान्त की कसौटी व्यवहार ही होता है। वह सिद्धान्त जिसकी व्यवहार पुष्टि करता है सचाई के अनुरूप होता है, और इसलिए उस पर हमेशा अमल किया जा सकता है।

अब आवश्यक है कि हम इस प्रश्न पर विचार करें कि वस्तुगत सत्य का ज्ञान हमें कैसे प्राप्त होता है पूरे सत्य को क्या हम एक साथ, तत्काल जान ले सकते हैं, अथवा उसका ज्ञान हमें धीरे धीरे, अंश अंश करके होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हम निरपेक्ष (अथवा परम) सत्य और सापेक्ष सत्य के सम्बन्ध को देखना होगा।

प्रत्येक मनुष्य प्रकृति का अध्ययन उन साधनों के माध्यम से करता है जो उसे सुलभ होते हैं जो मानव समाज ने उसके लिये जुटा दिये हैं। एक ऐसा भी समय था जब वैज्ञानिकों के पास साधारण तराजू अथवा थर्मामीटर (तापमापी) तक नहीं थे, माइक्रोसकोपों (सूक्ष्म दर्शकों), टेलिसकोपों (दूर दर्शकों), आदि

---

* कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, जर्मन विचारधारा, मास्को, १९६८, पृष्ठ ६६५।—स०

की तो बात ही छोड दीजिए। उससे समार का जानने की सम्भावनाए भी सीमित थी। पर तु आधुनिक विज्ञान क पास अब अत्य त जटिल उपकरण (यत्र) मौजूद हैं। और, इस विषय मे भी क्या कोई स दह हा सकता है कि भविष्य म वैज्ञानिक उपकरण (यत्र) और भी अधिक उनत हा जायेंग तथा प्रकृति क सम्ब ध म आज मनुष्य जितना जानना है उसस कही अधिक जानन लगगा? इसलिए, हम "परम (absolute), "पूण" (complete) तथा "नि शप' (exhaustive) ज्ञान की बात नही कर सकत। अधिकाशतया समस्त ज्ञान सापेक्ष (relative), अपूण (incomplete) और अशुद्ध (inexact) होता है। प्रत्येक वैज्ञानिक सिद्धा त, प्रत्यक सत्य पर उसकी ऐतिहासिक सीमाओ की छाप हाती है। इसीलिए मानवीय ज्ञान को इतिहास के हर युग मे उसी युग क अनुरूप और सापेक्ष माना जाना चाहिए।

जब प्रश्न उठता है क्या ज्ञान पूण और अ तिम नही हो सकता? ज्ञान यदि केवल सापक्ष ही हो सकता है, तो क्या परम सत्य (absolute truth) पूण (complete), अ तिम (full) और सवव्यापी (comprehensive) सत्य जसी कोई चीज हो ही नही सकती?

कुछ दाशनिक इस प्रश्न का उत्तर इस तरह देते है चूकि जो भी ज्ञान हम प्राप्त करते है वह समय गुजरने के साथ पुराना पड जाता है और यहां तक कि उसका खण्डन भी हो जाता है इसलिए साफ है कि परम सत्य जसी कोई चीज नही होती, सत्य केवल सापेक्ष होता है। हमारा ज्ञान सदा परिवतन की दशा म रहता है। अ त मे, हर वस्तु का निर्वाण हो जाता है शेष कुछ नही रह जाता। इसलिए समस्त ज्ञान सापक्ष हाता है। जो दाशनिक इस प्रकार तक करते है उ हे **सापेक्षतावादी** (relativists) कहा जाता है।

दूसरे दाशनिक कहते हैं कि जा सत्य पुराने पड जात है और जिनके साथ विशेषण जोडन की जरूरत होती है वे सत्य है ही नही। असली" सत्य कभी पुराने नही पडते वे शाश्वत होते है उनकी जानकारी हो जान के बाद वे सवकालीन हाते हैं। इसके अतिरिक्त य दाशनिक कहते हैं कि हमे कवल परम, पूण, अक्षत तथा अ तिम सत्यो के बारे म ही विचार करना चाहिए। ऐसे दाश निक जडसूत्रवादी (या कठमुल्ला) होते हैं। सत्य से उनका मतलब कुछ ऐसे जड सूत्रा से होता है जो शाश्वत, अपरिवतनीय तथा निर्विकल्प हात हैं। लकिन सापेक्षतावादियो और जड सूत्रवादियो दोना के ही तक एकपक्षीय तथा अधिभूत वादी हात हैं। परम सत्य से सम्पूण ज्ञान का कभी काई मतलब नही लगा सकता। वास्तव म, इस बात पर क्या कोई विश्वास कर सकता है कि कोई भी समय ऐसा आयेगा जब मानवजाति सम्पूण सृष्टि के अपन अध्ययन को पूरा

कर लेगी और हर चीज को जान लेगी—और, इस प्रकार, परम सत्य को पा लेगी ? मनुष्य कभी भी प्रकृति के विषय मे सब कुछ नही जान सकता, क्योकि प्रकृति का कोई अत नहीं है और वह सतत रूप से बदलती रहती है। इसीलिए मानवीय ज्ञान के भविष्य के सम्बन्ध म कोई सीमाएँ निर्धारित करना हास्यास्पद है।

तब क्या परम सत्य तक, पूर्ण और शाश्वत सत्य तक, मनुष्य कभी पहुँच ही नहा सकता ? परम सत्य से आपकी मुराद यदि शाश्वत सत्य की यह अधिभूतवादी धारणा है कि उसे (अर्थात शाश्वत सत्य को) जान लन के बाद फिर मनुष्य के सीखन के लिए कुछ शेष नही रह जाता—तो इस तरह के "पूर्ण" सत्य का कही भी अस्तित्व नही है। परन्तु इस प्रश्न के सम्बन्ध म यदि आप द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनायें, तो आप देख सकेंगे कि सापक्ष सत्यो को इकट्ठा करके और, इस प्रकार, क्रमश, प्रकृति के समस्त घटना प्रवाहो तथा नियमो के ज्ञान क अधिकाधिक समीप पहुँच कर मनुष्य परम सत्य को प्राप्त कर सकता है। **जिस प्रकार कोई भी पूर्ण वस्तु अपने अशो के जोड से बनती है, उसी प्रकार ज्ञान के विकास के अन्तहीन क्रम मे, परम सत्यो की भी स्थापना सापेक्ष सत्यो के ही योग से होती है।**

परम सत्य की यह व्याख्या कि वह विकास के क्रम मे प्राप्त किय गये सापेक्ष सत्यो का योग हाना है, परम सत्य को सापेक्ष सत्य से पृथक करन की अधिभूतवादी कोशिशा क विरुद्ध है। यह व्याख्या इस बात को सिद्ध करती है कि सापक्ष और परम सत्यो के बीच कोई अलघ्य दीवार नही है। सज्ञान (जानकारी) प्राप्त करने के क्रम मे, सापक्ष सत्यो का अन्वेषण करते हुए **इसी ढग से** परम सत्य के अमूल्य कणो को हम प्राप्त करते है। "जीवन का उदभव निर्जीव भूत से हुआ था", "चिन्तन की इन्द्रिय मस्तिष्क है", "समस्त पिण्ड अणुओ से बनते हैं'—य तथा इसी तरह के अगणित दूसरे वक्तव्य पूर्णतया सत्य है, विज्ञान तथा व्यावहारिक अनुभव द्वारा वे प्रमाणित हो चुके है और उनका खण्डन नही किया जा सकता। व परम सत्य क असली कण है। परन्तु, इसका मतलब यह नहीं हाता कि वे भी अन्तिम सत्य है, क्योकि यह मान लेना गलत होगा कि परम सत्य ऐतिहासिक परिस्थितियो पर नही निर्भर करता, कि समय बीतने के साथ साथ उसका विस्तार करने, उसमे जोडने तथा उसकी पुन परिभाषा करने की जरूरत नही रह जाती, कि उसमे न कुछ जोडा जा सकता है और न उसमे से कुछ निकाला जा सकता है कि भावी वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक प्रगति का उस पर कोई प्रभाव नही पडेगा। इस प्रकार के अन्तिम, चरम सत्य अस्तित्व नही रखते। इसलिए उनकी खोज करना व्यर्थ होगा। इसका अर्थ यह है कि **प्रत्येक सापेक्ष**

सत्य मे परम सत्य के कण मौजूद रहते हैं। प्रत्येक वैज्ञानिक खोज, प्रत्येक वज्ञानिक सत्य, प्रत्यक वज्ञानिक नियम के मूल्य मे सापक्ष तथा परम सत्यो की एकता होती है।

इस सबसे यह निष्कप निकलता है कि वस्तुगत सत्य का सज्ञान हम एक दम, पूण रूप से, नहीं प्राप्त करते, बल्कि धीरे-धीरे, सापेक्ष सत्यों का सज्ञान प्राप्त करते हुए करते हैं। विकसित होते हुए सापेक्ष सत्यो के योग से हमे सम्पूण प्रकृति तथा उसके इस या उस विशेष स्वरूप का पूण, गहन तथा परम ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सिखलाता है कि सत्य सदैव ठोस होता है। ठोस सत्य ऐसा सत्य होता है जो एक निश्चित अग के घटना प्रवाहों तथा उनके विकास को परिस्थितियो के सार तत्व को सही रूप मे प्रतिबिम्बित करता है।

इसके विपरीत, अमूत (निरपक्ष) "सत्य" उन ठोस परिस्थितियो की उपेक्षा करता है जिनमे घटना प्रवाह विकसित होते हैं। जडसूत्रवादियो की यही खामियत है। उदाहरण के लिए, इस तरह के प्रश्न का कि शाति और जनवाद के लिए सघप करने के सही तरीके क्या हैं—कोई अमूत (या हवाई) उत्तर नही दिया जा सकता। इस प्रश्न का तब तक कोई सही सही उत्तर नही दे सकता जब तक कि उन ठोस परिस्थितियो का उल्लेख नही किया जाता जिनके अतगत इस सघप को किया जाना है। इस सम्बन्ध म आदमी को उन फर्कों पर भी विचार करना होगा जो जिन देशो ने पूजीवादी उत्पीडन से अपने को मुक्त कर लिया है उनके तथा उन देशो के बीच पाये जाते हैं जो अब भी मुक्ति, आदि के लिए सघप कर रहे हैं।

सृजनात्मक मार्क्सवाद हमसे माग करता है कि अपने सम्पूण काय मे हम ठोस परिस्थितियों तथा ऐतिहासिक परिस्थितियो का अच्छी तरह ध्यान रखें। वास्तव मे, वास्तविक घटना प्रवाहों के प्रति ठोस ऐतिहासिक दृष्टिकोण का यही मूल तत्व है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद

अध्याय सात

ऐतिहासिक भौतिकवाद—समाज के विकास का दार्शनिक विज्ञान

ऐतिहासिक भौतिकवाद क्या है ? उसका मूलतत्व क्या है ?

ऐसा कौन सा चिन्तनशील व्यक्ति होगा जिसने कभी न कभी अपने से यह न पूछा हो कि वे सूत्र जिनके मेल से सामाजिक जीवन के मिश्रित तथा बहुरंगी ताने बाने की रचना होती है कैसे एक साथ बुन जाते है ।

प्रकृति मे विराट किन्तु अन्धी भौतिक शक्तिया काम करती हैं । प्रकृति मे प्रत्येक वस्तु स्वत स्फूत ढग से, अर्थात अचेतन ढग से घटित होती है—चाहे हम आकाशीय पिण्डो को ले लें, चाहे पौधो और पशुओ की दुनिया को । परन्तु सामाजिक जीवन स्पष्टतया प्राकृतिक जीवन से भिन्न होता है क्योकि उसका निर्माण मनुष्य करते हैं । और मनुष्य ऐसा कुछ निश्चित आवश्यकताओ को लेकर करते हैं, वे किन्ही निश्चित उद्देश्यो को प्राप्त करने की कोशिश करते है, उनका मार्ग विचारो से निर्देशित होता है अर्थात, सक्षेप मे, वे सचेत रूप मे काम करते है । इसके अलावा, व्यक्तियो के काम आम जनता, वर्ग तथा पार्टी के कामो से मिलकर एकाकार हो जाते है ।

सामाजिक जीवन के क्रम मे प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी, विकसित और अविकसित, सही और गलत विचारो के बीच टक्कर होती है, असख्य वैयक्तिक,

वर्गीय, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय हित एक दूसरे से टकराते है। अच्छे और बुरे, ऊँचे और नीचे, उदात्त और अधम मानवीय उत्कठाओ और गाढाभिलाषाओ का एक प्रचण्ड सागर लहराता रहता ह। किन्तु इस सब म क्या कोई व्यवस्था है, कोई दिशा है, अथवा सामाजिक जीवन क्या एक ऐसा गडबडमाला है जो हमेशा-हमेशा तक हमारी समझ स बाहर बना रहेगा ? विज्ञान तथा मानव जाति क अस्तित्व की शताब्दियो का अनुभव—दोनो ही बतलात है कि इतिहास की भूल भुलैयाँ म भी एक प्रकार का क्रम पाया जाता है एक प्रकार की नियम शासित नियमितता पायी जाती है।

मानव समाज क्या है, उसकी प्रगति किस प्रकार क नियमो द्वारा शासित होती है, और इन नियमो को कैसे जाना और मानवीय व्यवहार म इस्तमाल किया जाता है—इन सब प्रश्नो के उत्तर मार्क्सवादी लेनिनवादी दर्शन क उस भाग द्वारा दे दिये गय ह जिसका सम्बन्ध इतिहास क क्रम म उदित और विकसित होन वाले सम्पूर्ण समाज के ज्ञान क आम सिद्धान्त तथा उसे प्राप्त करन क तरीके स है। मार्क्सवादी दर्शन के इस भाग को **ऐतिहासिक भौतिकवाद** कहा जाता है।

जिस प्रकार प्रकृति का, जिसमे नाना प्रकार के घटना प्रवाह, प्रक्रियाएँ तथा सम्बन्ध पाये जाते है, प्रकृति विज्ञान की नाना शाखाओ द्वारा अध्ययन किया जाता है, उसी प्रकार मानव समाज का भी अध्ययन अनेक सामाजिक विज्ञानो द्वारा, जैसे कि राजनीतिक अर्थशास्त्र, विधि शास्त्र, इतिहास, नृशास्त्र, भाषा विज्ञान आदि द्वारा किया जाता है। प्रत्येक सामाजिक विज्ञान सामाजिक जीवन के किसी एक पक्ष अथवा क्षेत्र का अध्ययन करता है। और यद्यपि सब मिलकर सामाजिक विज्ञान सामाजिक जीवन के सभी पक्षो को अपनी परिधि म ले लेत है किन्तु इस ज्ञान के सीधे सीधे कुल योग से एक अखडित इकाई क रूप मे पूरे समाज की, एक दूसरे को प्रभावित करने वाली प्रक्रियाओ की एक व्यवस्था के रूप मे समूचे समाज की समझदारी नही प्राप्त होती। अर्थशास्त्र और राजसत्ता के विकास के, तथा कानून भाषा, आदि के विशिष्ट नियमो क काम करने के साथ साथ और उन्ही के साथ मिलजुलकर, सामाजिक प्रगति के कुछ और अधिक सामान्य नियम भी काम करते हैं। इन सामान्य नियमो का अध्ययन कोई विशिष्ट सामाजिक विज्ञान नही करता। और इन सामान्य नियमो का, जो सम्पूर्ण सामाजिक सघटना के अगो को जोडकर एक अविच्छिन्न जीवित इकाई बनात है—ज्ञान बिना समाज के जीवन के विभिन्न पक्षो क पारस्परिक सम्बन्धो को समझ सकना और यह बतला सकना असम्भव है कि पूरी व्यवस्था के अन्दर इस या उस घटना प्रवाह की जगह कौन है।

कहा जा सकता है कि समाज एक ऐसे छायादार वृक्ष की तरह है जिसकी अनेक शाखाएँ है। प्रत्येक सामाजिक विज्ञान इस वृक्ष के किसी खास अंग का— उसकी जडा, शाखाओ, पत्तो, तने, आदि का अध्ययन करता है। अगर हम उसके अलग अलग अंगो का अध्ययन न करें तो हम उन नियमो को नही समझ पायेंगे जो सम्पूर्ण वृक्ष के विकास को सचालित करते है। किन्तु चूंकि वृक्ष के किसी अंग का जीवन सम्पूर्ण वृक्ष की दशा पर निर्भर करता है, इसलिए यह भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि पूरे वृक्ष के विकास को सचालित करने वाले आम नियमो की जानकारी प्राप्त की जाय। समाज के अध्ययन के विषय मे भी यही बात लागू होती है। उसकी विविधता मे हम हमेशा उसकी एकता को ढूंढने की कोशिश करनी चाहिए।

समाज मे भौतिक और वैचारिक दोनो प्रकार के घटना प्रवाह होते है, उसमे सामाजिक सत्ता और सामाजिक चेतना दोनो होते है और उनके बीच एक निश्चित सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध का अध्ययन सामाजिक प्रगति की प्रेरक शक्तियो का उदघाटन करने मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। परन्तु, सामाजिक चेतना और सामाजिक सत्ता के सम्बन्ध का विशेष रूप से कोई भी विशिष्ट सामाजिक विज्ञान अध्ययन नही करता। लेकिन जब तक सामाजिक चेतना और सामाजिक सत्ता के सम्बन्ध को सही सही ढग से नही समझ लिया जाता तब तक न तो सामाजिक घटना प्रवाहो को जानने के (उनका सज्ञान प्राप्त करने के) तरीके का पता लगाया जा सकता है और न सामाजिक जीवन का जन हित मे क्रांतिकारी ढग से रूपान्तरण करने के साधनो का ही खोज निकाला जा सकता है। इसके अलावा, उन दार्शनिक श्रेणियो का भी कोई खास सामाजिक विज्ञान अध्ययन नही करता जो सामाजिक जीवन की आम सरचना (बनावट) को तथा जिस प्रकार से वह पैदा होती है और विकास करती है उसको प्रतिबिम्बित करती है। उस प्रक्रिया की विशिष्ट विशेषताओ का भी कोई खास सामाजिक विज्ञान अध्ययन नही करता जिसके माध्यम से सामाजिक घटना-प्रवाहो की जानकारी प्राप्त की जाती है। ये सब काम ऐतिहासिक भौतिकवाद के काम हैं। इन चीजो के अध्ययन के लिए आवश्यक आम सिद्धान्त से वही हमें लैस करता है।

इस सबका साराश यह है ऐतिहासिक भौतिकवाद वह दार्शनिक विज्ञान है जो सामाजिक सत्ता के साथ सामाजिक चेतना के सम्बन्ध का तथा मानवजाति के सामाजिक विकास के सर्वाधिक सामान्य नियमो तथा प्रेरक शक्तियो का निरूपण करता है। उसका सम्बन्ध सामाजिक विज्ञान और सामाजिक रूपान्तरण के सामान्य सिद्धान्त तथा तरीके से है।

सामाजिक इतिहास का वैज्ञानिक ज्ञान बतलाता है कि पूंजीवाद की जगह समाजवाद की स्थापना होना अवश्यम्भावी है। इससे अपने महान उद्देश्य की अंतिम विजय के सम्बन्ध में महनतकश जनता का विश्वास बढ़ता है। इनसे सामाजिक घटना प्रवाहों की उनके सम्पूर्ण आन्तरिक सम्बन्धों के साथ जांच पड़ताल कर सकना और, इस प्रकार, अलग अलग घटनाओं से आगे दूर तक की ऐतिहासिक सम्भावनाओं को देख सकना तथा इस बात को जान सकना भी सम्भव हो जाता है कि भविष्य में क्या होने वाला है। ऐतिहासिक भौतिकवाद से हमें उस तरीके का ज्ञान मिलता है जिसकी मदद से वैज्ञानिक रूप से सही प्रमाणित नीतियों को हम विकसित कर सकते हैं, वर्ग संघर्ष तथा क्रांतिकारी कार्यवाहियों के लिए मजदूर वर्ग और उसकी पार्टी की सही सही रणनीति और कार्यनीति निर्धारित कर सकते हैं तथा समाजवाद और कम्युनिज्म के निर्माण की योजना बना सकते हैं।

ऐतिहासिक भौतिकवाद की रचना मार्क्स और एंगेल्स ने की थी। उसका सृजन उन्होंने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के साथ साथ विश्व के सम्बन्ध में एक पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टिकोण के एक अभिन्न अंग के रूप में किया था—उसका सृजन उन्होंने सामाजिक वास्तविकता की जानकारी (संज्ञान) प्राप्त करने तथा उसका क्रांतिकारी रूपान्तरण करने की एक पद्धति के रूप में किया था। ऐतिहासिक भौतिकवाद के जन्म के लिए सामाजिक चिन्तन के सम्पूर्ण पिछले विकास ने जमीन तैयार कर दी थी।

मार्क्स और एंगेल्स की महान ऐतिहासिक देन यह थी कि वही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने आदर्शवाद (भाववाद) का सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र से निकाल बाहर किया था और समाज पर लागू होने वाले दर्शन की मूल समस्या के हल के लिए एक भौतिकवादी समाधान प्रस्तुत किया था। अर्थात उन्होंने ही यह बात बतलायी थी कि श्रम, भौतिक मूल्यों का उत्पादन, ही मानव जीवन का आधार तथा मानव समाज की प्रगति का स्रोत है। श्रम ने ही वनमानुष को मनुष्य बनाया था। श्रम ही सामाजिक उन्नति की बुनियादी शर्त है। इतिहास की नयी भौतिकवादी व्याख्या का खुलासा करते हुए एंगेल्स ने लिखा था,

'डारविन ने जिस तरह जैव जगत के विकास के नियम का पता लगाया था उसी तरह मार्क्स ने मानव इतिहास के विकास के नियम का पता लगाया। उन्होंने इस सीधी सादी बात का—जो कि अभी तक विचार धारा के भारी झाड़ झंखाड़ के नीचे छिपी हुई थी—पता लगाया कि इसके पहले कि मानव जाति राजनीति, विज्ञान, कला, धर्म, आदि में दिलचस्पी ले सके उसके लिए आवश्यक है कि वह खाये, पिये, उसके सर पर साया तथा

तन पर कपडे हो। इसलिए, किसी भी कौम (जनगण—अनु०) की राजकीय सस्थाओ, कानून सम्बन्धी धारणाओ, कला, और यहाँ तक कि धर्म सम्बन्धी विचारो का भी विकास जीवन यापन के तात्कालिक भौतिक साधनो पर, और इसीलिए उस कौम (या जनगण—अनु०) द्वारा सम्प्राप्त युग मे प्राप्त किये गये आर्थिक विकास की मात्रा पर आधारित होता है। अतएव उन सबकी व्याख्या इसी आधार के प्रकाश मे की जानी चाहिए—न कि इसके उल्टे ढग से, जैसा कि अब तक किया गया है।' *

मार्क्सवाद ने स्पष्ट कर दिया है कि समाज के बारे मे मात्र परिकल्पनाएँ करना और उसके विकास के इतिहास का जीवन मे मनुष्य की वास्तविक गतिविधियो के बाहर और उनसे ऊपर कही ढूढने की कोशिश करना निरर्थक है। उसने स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य स्वय अपना इतिहास बनाते हैं, कि ऐतिहासिक प्रक्रिया के पीछे कोई अलौकिक शक्तियाँ नही होती। मार्क्सवाद के सस्थापको ने लिखा था,

'इतिहास कुछ नही करता, उसके पास कोई विराट धन सम्पदा नहीं है 'वह कोई लडाइया नही लडता'। इन सबको मनुष्य, वास्तविक जीवित मनुष्य ही करता है, वही सब चीजो का स्वामी होता है और लडता है 'इतिहास कोई अलग-थलग ऐसा व्यक्ति नही है जो स्वय अपने खास उद्देश्यो के लिए मनुष्य का इस्तेमाल करता हो अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए मनुष्य द्वारा की जाने वाली गतिविधियो के अलावा इतिहास और कुछ नहीं है।' **

साथ ही साथ, आदमी अगर अलग थलग मनुष्य को अपना प्रस्थान बिन्दु मानकर सामाजिक जीवन की पेचदार भूल भुलैयाँ और सामाजिक विकास की राहो तथा प्रेरक शक्तियो को समझने का प्रयास करे तो उन्हे समझ सकना असम्भव होगा। व्यक्तियो की विशिष्ट विशेषताएँ सम्पूर्ण समाज की विशेषताओ को समझने मे मदद नही देती। निस्सन्देह, समाज व्यक्तियो से मिलकर बना है। परन्तु ऐसा क्यो है कि इतिहास की एक मजिल मे लोगो के बीच एक प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध पाये जाते हैं और दूसरी मजिल मे दूसरी प्रकार के? सामाजिक व्यवस्थाओ—राजनीतिक प्रणालियो, स्वामित्व के स्वरूपो तथा, यहा तक

---

* मार्क्स और एगेल्स, सग्रहीत रचनाएँ, तीन खण्डो मे, खण्ड ३ मास्को १९७०, पृष्ठ १६२।—स०

** कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एगेल्स पवित्र परिवार, मास्को, १६५६ पृष्ठ १२५।—स०

कि, शादी विवाह के रूपों में भी परिवर्तन किस वजह से होते हैं ? इस बात को समझने के लिए कि इतिहास उसी रास्ते पर क्यों चलता है जिस पर वह चलता है, आदमी के लिए आवश्यक है कि वह व्यक्तियों की गतिविधियों से नहीं, बल्कि, सामूहिक सामाजिक कार्य से, सामाजिक वर्गों के कार्यकलापों से अपनी खोज बीन के काम को शुरू करे। इसके अलावा, काम हमेशा जनता ने, जन समुदायों ने ही किया है, और इस कारण वही इतिहास के वास्तविक बनाने वाले हैं—बादशाह फौजी नेता अथवा विधायक नहीं। और उसके निर्माताओं के रूप में किन्हीं रहस्यपूर्ण नैसर्गिक शक्तियों की तो बात करना भी निरर्थक है।

मार्क्सवाद ने सिद्ध कर दिया है कि वैज्ञानिक समाजशास्त्र उस सचेत मानवीय प्रयास की उपेक्षा नहीं कर सकता जो ऐतिहासिक प्रक्रिया का मनोगतवादी पक्ष होता है। परन्तु प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था की सामाजिक चेतना तथा संस्थाएँ उस व्यवस्था के सामाजिक अस्तित्व को और, सर्वोपरि, उस समय प्रचलित उत्पादन के तरीके को ही प्रतिबिम्बित करती हैं।

सामाजिक जीवन के प्रवाह में हर नयी मानव पीढ़ी जब प्रवेश करती है तो हर बार उसे पता चलता है कि विरासत में उत्पादन सम्बन्धी तथा सामाजिक सम्बन्धों की जो वस्तुगत व्यवस्था उसे प्राप्त हुई है वह उसकी इच्छा से स्वतंत्र है तथा उसका निर्माण उसके पैदा होने से पहले उत्पादन की शक्तियों ने जो स्तर प्राप्त कर लिया था उससे हुआ था। ऐतिहासिक रूप से स्थापित हुए सम्बन्ध ही आने वाली पीढ़ियों के स्वरूप तथा उनके रहन सहन की आम परिस्थितियों को निर्धारित करते हैं।

परन्तु, मार्क्सवाद ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि नये सामाजिक विचार तथा राजनीतिक संस्थाएँ एक बार उत्पन्न हो जाने के बाद अपेक्षाकृत स्वतंत्र हो जाती हैं और सामाजिक विकास में स्वयं बड़ी भूमिका अदा करने लगती हैं। जन समुदायों के हृदय में घर कर लेने पर विचार एक भौतिक शक्ति बन जाते हैं और फिर जन समुदायों को काम करने के लिए प्रेरित—अनुप्राणित करने लगते हैं। यह बतला कर कि सामाजिक चेतना सामाजिक सत्ता पर निर्भर करती है और इस बात की व्याख्या करके कि सामाजिक विकास के क्रम में वस्तुगत तथा मनोगत कारक एक दूसरे पर किस प्रकार प्रभाव डालते हैं—मार्क्सवाद ने ही सबसे पहले इतिहास का सर्वतोमुखी ढंग से, पूर्ण रूप से अध्ययन करने की अत्यन्त गम्भीर परिपाटी के सिद्धान्त की नींव डाली थी। पहली बार इतिहास की व्याख्या विकास की एक नियम शासित वस्तुगत प्रक्रिया के रूप में, सामाजिक संरचनाओं की एक अनिवार्य शृंखला के रूप में उसके द्वारा की गयी थी।

समाज से सम्बन्धित विचारों की दुनिया में मार्क्सवाद की वजह से जो

क्रान्तिकारी उपलब्धि मार्क्स ने की थी उसका वर्णन लेनिन ने निम्न शब्दों में किया था

'इतिहास और राजनीति से सम्बन्धित विचारों की दुनिया में पहले जो अराजकता और मनमानापन व्याप्त थे उनकी जगह अब एक अद्भुत रूप से पूर्ण तथा सामञ्जस्यपूर्ण वैज्ञानिक सिद्धान्त ने ले ली थी—एक सिद्धान्त जो बतलाता है कि, उत्पादक शक्तियों की वृद्धि के फलस्वरूप, सामाजिक जीवन की एक व्यवस्था के अन्दर से एक दूसरी और उच्चतर व्यवस्था किस प्रकार पैदा हो जाती है—उदाहरण के लिए सामन्तवाद के अन्दर से पूँजीवाद किस तरह उत्पन्न हो जाता है।' *

सामाजिक विकास के वस्तुगत नियमों की खोज करके मार्क्स और एंगेल्स ने वैज्ञानिक कम्युनिज्म के सिद्धान्त की सृष्टि कर दी। उन्होंने प्रमाणित कर दिया कि समाजवाद मात्र कोई कल्पना की खोज नहीं है, बल्कि पूँजीवाद के विकास का स्वाभाविक परिणाम है। पूँजीवाद इस प्रकार अपनी मौत के लिए स्वयं गड्ढा खोदता है। उन्होंने दुनिया के मजदूर वर्ग की ऐतिहासिक भूमिका को स्पष्ट किया और बतलाया कि समाज को नयी समाजवादी व्यवस्था की तरफ ले जाने के लिए पूँजीवाद के तख्ते को क्रान्तिकारी ढंग से उलटना होगा। इतिहास की मार्क्सीय भौतिकवादी व्याख्या की वजह से एक वैज्ञानिक समाजशास्त्र की स्थापना मुमकिन हुई। राजनीतिक अर्थशास्त्र, इतिहास, कानून (विधि), नीतिशास्त्र तथा अन्य तमाम सामाजिक अध्ययनों को ऊपर उठाकर उसने विज्ञान के स्तर पर पहुँचा दिया।

मानव समाज का जब विकास हुआ और उसके सम्बन्ध में नयी जानकारी जमा हुई तभी ऐतिहासिक भौतिकवाद की स्थापना हुई—उसका भी विकास हुआ। मार्क्सीय सामाजिक विज्ञान के विकास का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण उस योगदान के रूप में मिलता है जो लेनिन ने उसमें किया था। मार्क्स और एंगेल्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद की रचना उस समय की थी जिस समय कि पूँजीवाद अपने पूर्ण उभार पर था। किन्तु जब उसने अपनी साम्राज्यवादी अवस्था में प्रवेश किया तब सामाजिक जीवन में जो नये घटना क्रम पैदा हुए उनका सारांश लेनिन ने प्रस्तुत किया और पूँजीवाद की इस नयी अवस्था से सम्बन्धित जो मूलभूत नियम थे उनको उन्होंने सूत्रबद्ध किया। साम्राज्यवाद के आधुनिक युग और समाजवादी रचना के इस काल में उत्पादन की शक्तियों तथा उत्पादन के सम्बन्धों के बीच जो अन्योन्य क्रिया चलती है उसका उन्होंने निरूपण किया। वर्ग संघर्ष

* वी० आई० लेनिन सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड १६, पृष्ठ २५।—सं०

के सिद्धान्त का भी उन्होने और आगे विकास किया। खास तौर से मजदूर वर्ग के नेतृत्व के सिद्धान्त का सर्वहारा वर्ग की पार्टी तथा उसकी रणनीति और कार्यनीति से सम्बन्धित सिद्धान्त का उन्होने और भी अधिक विकास किया। समाजवादी क्रान्ति तथा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के सिद्धान्त को भी लेनिन ने विकसित किया और, इस प्रकार, समाजवाद और साम्यवाद के मार्ग का आलोकित किया तथा सामाजिक प्रबन्धन के विज्ञान की भी नींव डाल दी। पूंजीवाद से समाजवाद मे सक्रमण के वर्तमान युग मे, मार्क्सवादी लेनिनवादी सामाजिक विज्ञान सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी तथा दूसरे देशो की कम्युनिस्ट और मजदूर पार्टियो के निर्देशन मे निरन्तर विकसित और उन्नत होता जा रहा है। इन पार्टियो की काग्रेसो तथा बैठको की दस्तावेजो मे मानव समाज के विकास से सम्बन्धित सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषताओ और नियमो का वैज्ञानिक रूप से निरूपण किया गया है।

इतिहास के नियम

जैसा कि एगेल्स ने कहा था, विश्व इतिहास एक ऐसी महान कवियित्री है जो रचना का कार्य मनमाने ढग से नही करती, बल्कि जो कि, अनिवार्यता के माध्यम से, सुन्दर और दुखदायी दोनो प्रकार की चीजो की—तथा हास्योत्पादक वस्तुओ की भी—रचना करती रहती है। प्रकृति के समान ही मानव समाज का जीवन भी निरर्थक घटनाओ का कोई विशृंखल सघटन नही है, वह लोगो के "कार्य कलापो का कोई गडबडझाला' भी नही है, बल्कि निश्चित नियमो के अनुसार कार्य करने वाली और आगे बढने वाली वह एक सुव्यवस्थित, सुसगठित व्यवस्था है। लेनिन ने कहा था कि, "सारा इतिहास व्यक्तियो के कार्यकलापो से ही बनता है।" इतिहास इसके अलावा और कुछ नही है। प्रत्येक मनुष्य अपना काम करता है, अपने खुद के लक्ष्यो को प्राप्त करने की कोशिश करता है उसके अपने खुद के सुख दुख होते हैं जिनसे वह सुखी या दुखित होता है, परन्तु इस सब के बावजूद, पूरा समाज एक निश्चित दिशा मे आगे बढता रहता है, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति के कार्यकलाप एक ऐसी चीज से प्रेरित होते हैं जो उस पूरी चीज से पैदा होती है जिसका वह एक अग है। इसका अर्थ यह नही होता कि इतिहास मे चीजें व्यक्तियो की इच्छाओ आकाक्षाओ के अनुसार हो सकती हैं। इतिहास व्यक्तियो और राष्ट्रो के ऐसे उदाहरणो से भी भलीभाँति परिचित है जो बतलाते हैं कि स्वय अपने लक्ष्यो को ढूँढने और प्राप्त करने की कोशिश करते समय उक्त व्यक्ति और राष्ट्र, साथ ही साथ अपने से कुछ अधिक ऊँची और बड़ी एक ऐसी चीज के साधना का भी काम कर रहे थे जिसके बारे मे स्वय उन्हें जानकारी नही थी।

ऐतिहासिक नियमों के अस्तित्व को पूर्ण और वैज्ञानिक रूप से मार्क्सीय समाजतन्त्र के उदय के बाद ही प्रमाणित किया जा सका था। भौतिकवाद और द्वन्द्ववाद के सिद्धान्तों को जब सामाजिक इतिहास के अध्ययन पर लागू किया गया, तभी मानव समाज को शासित करने वाले नियमों का पता चला। लेनिन ने लिखा था,

"सामाजिक सम्बन्धों को जब उत्पादन के सम्बन्धों में परिवर्तित किया गया और उत्पादन के सम्बन्धों को उत्पादक शक्तियों के स्तर तक ले जाया गया, केवल तभी इस धारणा के लिए एक ठोस आधार तैयार हो सका कि समाज की संरचनाओं का विकास प्राकृतिक इतिहास की एक प्रक्रिया है।*"

प्राकृतिक—ऐतिहासिक का अर्थ होता है वस्तुगत, नियम-शासित, कार्य-कारण की शृंखला पर आधारित, अस्वच्छन्द। लेनिन कहते हैं कि, सामाजिक इतिहास का अध्ययन करते समय, आदमी मानवीय कार्यकलापों के केवल आदर्शवादी उद्देश्यों पर ही नहीं उन कार्यकलापों को प्रेरित करने वाली सचेत आकांक्षाओं पर ही नहीं विचार कर सकता। उसके लिए आवश्यक होता है कि उन आकांक्षाओं और कार्यकलापों, दोनों को निर्धारित करने वाली वस्तुगत आवश्यकता पर भी प्रकाश डाला जाय।

"इस वास्तविकता से कि तुम जिन्दा रहते हो और अपना कामकाज करते हो, बच्चे पैदा करते हो, वस्तुओं का उत्पादन और उनका विनिमय करते हो—वस्तुगत रूप से आवश्यक घटनाओं की एक शृंखला पैदा हो जाती है विकास की एक ऐसी शृंखला जो कि तुम्हारी सामाजिक चेतना से स्वतन्त्र होती है, और जिसे तुम्हारी सामाजिक चेतना कभी भी पूरे तौर से हृदयगम नहीं कर पाती।"**

यह था बोगदानाव को, जो सामाजिक चेतना और सामाजिक सत्ता को अभिन्न मानता था, लेनिन का उत्तर।

मनुष्य अपना इतिहास स्वयं बनाते हैं। लेकिन उनके लक्ष्यों को, खास तौर से आम जन समुदायों के लक्ष्यों को, कौन सी चीज तै करती है? उन भौतिक वस्तुओं के उत्पादन की वस्तुगत परिस्थितियाँ कौन सी हैं जो सम्पूर्ण इतिहास के दौरान मानवीय कार्यकलापों की सम्पूर्ण रंगावलि का आधार रही हैं, और इतिहास की प्रगति के साथ-साथ इन वस्तुगत परिस्थितियों में जो परिवर्तन होते रहते है उन्हें कौन सा नियम निर्धारित करता है?

---

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड १, पृष्ठ १४० १४१।—सं०

** वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड १४, पृष्ठ ३२५।—सं०

मानवीय विचारों आकांक्षाओं, लक्ष्यों तथा हितों के वस्तुगत तथा परिस्थिति युक्त स्वरूप को उघाड कर रखकर और, इस प्रकार, यह दिखलाकर कि, अपनी सारी परस्पर विरुद्धता तथा विविधता के बावजूद मानवीय इतिहास मानव की प्रगति की एक ही अविच्छिन्न, नियम शासित प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करता है—ऐतिहासिक भौतिकवाद ने ऐसे तमाम प्रश्नों के उत्तर दे दिये हैं।

लेनिन ने जोर देते हुए कहा था कि जिस तरह जातियों की परिवर्तनशीलता तथा उनके एक से दूसरे में विकसित होने के सिद्धान्त की स्थापना करके डार्विन ने जीव शास्त्र को एक वैज्ञानिक आधार पर खड़ा कर दिया था, उसी तरह मार्क्स ने,

> " इस धारणा की स्थापना करके कि समाज की आर्थिक संरचना तत्कालीन उत्पादन सम्बन्धों का कुल योग होती है, और इस बात की स्थापना करके कि इस तरह की संरचनाओं का विकास प्राकृतिक इतिहास की ही एक प्रक्रिया है—समाजशास्त्र को एक वैज्ञानिक आधार पर खड़ा कर दिया था।' *

इतिहास के वस्तुगत और मनोगत कारकों का द्वन्द्ववाद

ऐतिहासिक प्रक्रिया में व्यापक जन समुदायों, विभिन्न सामाजिक वर्गों तथा राजनीतिक पार्टियों और व्यक्तियों की जो भूमिका होती है उसका विश्लेषण करके, लेनिन ने उस सम्बन्ध के द्वन्द्ववाद को स्पष्ट कर दिया था जो सामाजिक प्रगति के दौरान वस्तुगत और मनोगत कारकों के बीच पाया जाता है। वास्तव में, ऐतिहासिक भौतिकवाद को लेनिन की यह एक सबसे महत्वपूर्ण देन थी। उन्होंने कहा था कि,

> "अन्य तमाम समाजवादी सिद्धान्तों से मार्क्सवाद इस बात में भिन्न है कि जन समुदायों की—और, निस्सन्देह, उन व्यक्तियों, दलों, संगठनों तथा पार्टियों की भी, जो किसी न किसी वर्ग को खोजने और उसके साथ सम्पर्क स्थापित करने में सफल होते हैं—क्रान्तिकारी कर्म शक्ति क्रान्तिकारी सृजनात्मक प्रतिभा तथा क्रान्तिकारी पहलकदमी के महत्व को पूरी शक्ति से स्वीकार करते हुए भी, वह वस्तुगत परिस्थितियों तथा विकास के वस्तुगत क्रम का भी पूर्ण वैज्ञानिक संजीदगी के साथ विश्लेषण करने के काम को बहुत ही उत्कृष्ट ढंग से सम्पादित करता है।' **

---

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड १, पृष्ठ १४२।—सं०

** वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड १३, पृष्ठ ३६।—सं०

उत्पादन के सम्बन्ध तथा अन्य तमाम सामाजिक सम्बन्ध चूंकि पीढ़ी दर पीढ़ी, मानव समाज के विकास की प्रत्येक दशा में, उत्पादन की शक्तियों के तात्कालिक स्तर द्वारा निर्धारित होते हैं, इसलिए इतिहास का बुनियादी वस्तुगत कारक भौतिक उत्पादन ही है।

अतएव, य सम्बन्ध हर नयी पीढ़ी की इच्छा और चेतना से स्वतन्त्र होते हैं तथा उसके जीवन के स्वरूप और उसकी आम परिस्थितियों को निर्धारित करते हैं। परन्तु, स्पष्ट है कि, भौतिक उत्पादन का वस्तुगत कारक कोई अन्धी यान्त्रिक शक्ति नहीं होती, क्योंकि उसके मूल में मनुष्यों की सचेत क्रियाशीलता होती है। और, मानव समाज के जीवन में घटित होने वाली सभी घटनाओं में चाहे वे क्रान्तियाँ हों चाहे वैज्ञानिक खोजें और अन्वेषण—मनुष्य ही प्रमुख भूमिका अदा करते हैं। मानवीय कार्यकलापों के पीछे निश्चित विचार, लक्ष्य तथा उच्च आकांक्षाएँ काम करती हैं। परन्तु ये विचार लक्ष्य तथा आकांक्षाएँ

"लाजिमी तौर से उस तत्कालीन सामाजिक परिवेश से ही पैदा होती हैं जो व्यक्ति के आत्मिक जीवन के भौतिक आधार का, उसके प्रयोजन का, काम करता है और उसके विचारों तथा उसकी भावनाओं में प्रतिबिम्बित होता है।"*

मनुष्य अपना इतिहास बनाते हैं, परन्तु ऐसा वे ऐतिहासिक वास्तविकता ने उन्हें क्या बना दिया है, चीजों के वस्तुगत विकास ने कौन-से कार्यभार सामने रख दिये हैं इन कार्यभारों को पूरा करने के लिए कौन-से साधन मौजूद हैं, समाज में विरोधी शक्तियों का सन्तुलन किस प्रकार का है, तथा उनके कार्यकलापों का ऐतिहासिक प्रगति की वस्तुगत आवश्यकताओं के साथ कैसा सम्बन्ध है—इन सब चीजों के आधार पर करते हैं। संक्षेप में, सामाजिक नियमों को कार्यान्वित करने के लिए एक मनोगतवादी "यन्त्र व्यास (mechanism) की आवश्यकता होती है। यहीं उनके और प्रकृति के नियमों के बीच का बड़ा फर्क है।

नरोदनिकों के मनोगतवादी—भाववादी विचारों का खण्डन करते हुए लेनिन ने बतलाया था कि किसी चीज के, उदाहरण के लिए, पूंजीवाद के, उदय की ऐतिहासिक अनिवार्यता का मतलब यह नहीं होता कि इतिहास में लोग अन्धे होकर काम करते हैं। उन्होंने लिखा था,

"सही दिमाग और निर्णय करने की सही शक्ति रखने वाले लोगों ने तब खूब अच्छी तरह से बने जल मार्गों और बांधों का निर्माण किया था

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड २, पृष्ठ ४०५।—सं०

जिसकी वजह से रुडियल म अडियल किसान भी पूजीवादी शोषण की मुख्य धारा मे शामिल होने क लिए विवश हो गया था, उन्होने राजनीतिक और वित्तीय कदमो के रूप मे अत्यन्त चतुरतापूण ऐसे उप माग बना लिए थ जिनके रास्ते से पूजीवादी सचय और पूजीवादी लूट खसोट क काम को, जो कि केवल आर्थिक नियमो के अन्तगत चलने वाली कायवाहिया म पूरा नही हो पाता था—तेजी से आग बढने का मौका मिल गया।"*

इस प्रकार चेतना इतिहास की वस्तुगत प्रक्रिया म हाथ बँटाती है। लेकिन जिस समय यह बतला रहे थे कि मजदूर आन्दोलन को नतृत्व प्रदान करते समय (जिससे कि "स्वय स्फूर्तिवाद' क सिद्धान्त का पर्दाफाश किया जा सके) मजदूर वग क कायधारा के सम्बन्ध म वस्तुगत परिस्थितिया (objective conditions) तथा मनोगतवादी कारको (subjective factors) क पारस्परिक सम्बन्ध का द्वन्द्ववाद किस तरह लागू होता है, उन्होने लिखा था,

" 'आन्दोलन के भौतिक तत्वो का' सचमुच 'खयाल' रखने क लिए आवश्यक है कि उन पर आलोचनात्मक ढग स दृष्टिपात किया जाय, स्वय स्फूर्तिवाद के खतरो और दोषो को स्पष्ट रूप से इंगित किया जाय, और उस (आन्दोलन को) चैतन्यशीलता के स्तर तक ऊँचा उठा दिया जाय। परन्तु, यह कहना कि विचारधारावेत्ता लोग (अर्थात, राजनीतिक रूप म सचेत नेता) आन्दोलन को उसके परिवेश (environment) तथा तत्वो की अन्योन्य क्रिया द्वारा निर्धारित किय गये रास्ते स नहीं हटा सकते—इस सीधी सादी सचाई की तरफ से आँख मूद लेना है कि इस अन्योन्य क्रिया म तथा रास्ते को तै करने की प्रक्रिया म सचेत रूप से किये जाने वाले काम का तत्व भी हिस्सा लेता है।"**

स्वय जनता, उसकी क्रान्तिकारी सकल्पबद्धता, लडने का उसका निश्चय, सघष के दौरान उसका सगठन उसका जोश तथा उसकी राजनीतिक चेतना, और सघष के दौरान प्राप्त किया गया उसका अनुभव—इतिहास का मनोगतवादी कारक (subjective factor) यही चीजें होता है।

ऐतिहासिक घटनाएं कौन सी दिशा ग्रहण करती हैं और उनका क्या परिणाम होना है—इसे तै करने मे ये तमाम चीजें बहुत बडी भूमिका अदा करती हैं।

---

* वही, खण्ड १, पृष्ठ ३६६।—स०

** वही, खण्ड ५, पृष्ठ ३१६।—स०

विचारधारात्मक रूप से जो लोग मार्क्सवाद के दुश्मन हैं व इस सन्दर्भ मे मार्क्सवादियों के विरुद्ध परस्पर विरोधी बातें कहने का दोष लगाने की कोशिश करते हैं। वे कहते हैं कि एक तरफ तो मार्क्सवादी लोग इतिहास के नियमों के वस्तुगत स्वरूप को स्वीकार करते है और, दूसरी तरफ, समाज के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के लिए व महनतकश जनता का संघर्ष के लिए संगठित करते हैं। वे पूछते हैं कि अगर इस या उस ऐतिहासिक परिवर्तन का होना वस्तुगत रूप से अवश्यम्भावी है, तब फिर उसके लिए लडने के लिए लोगो को जगाने की क्या जरूरत है? हर हालत मे परिवर्तन क्या अपने आप नही हो जायगा? पूर्ण पूर्व विधान (predetermination) की धारणा के अनुसार, मानवीय इच्छा शक्ति और ज्ञान इतिहास मे कोई भूमिका नही अदा करते और न कोई मतलब ही रखते हैं। जो घटनाएँ अवश्यम्भावी तौर से घटने वाली है उनके क्रम मे दखल देने की क्या जरूरत है हर चीज पहले से ही निर्धारित की जा चुकी है (preordained), किसी के कार्य-कलाप से उस पर कोई असर नही पडने वाला है।

मार्क्सवाद के आलोचकों के इन तर्कों का मतलब मानव समाज के विकास के सम्बन्ध मे एक भाग्यवादी सिद्धान्त को मानना होता है। लेनिन ने ऐसे तर्कों की पूर्ण असंगतता को उघाड कर सामने रखते हुए सिद्ध किया था कि वे शुद्ध रूप से ऐसी अधिभूतवादी भ्रान्ति पर आधारित हैं जिसके अन्तर्गत ऐतिहासिक प्रक्रिया के मनोगतवादी पक्ष को उसके वस्तुगत पक्ष के विरुद्ध रखा जाता है। इस प्रकार से तर्क करने वाले लोग इस बात को समझने मे असफल रहते हैं कि इतिहास को जनता, उसकी इच्छा और चेतना ही बनाती है।

मार्क्सवाद लेनिनवाद सामाजिक वास्तविकता की केवल व्याख्या करने की नही कोशिश करता, बल्कि वह उसे बदलने की भी चेष्टा करता है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद का मूलाधार यह है कि वह इस बात को मानता है कि इतिहास की वस्तुगत प्रगति मे, और विशेष रूप से उसमे आने वाले मोडो के समय, मनोगत-वादी कारको की भूमिका सक्रिय और निर्णायक होती है।

मार्क्सवाद लेनिनवाद के आलोचक वस्तुगत और मनोगत कारको के बीच सतत रूप से चलने वाली अन्योन्य क्रिया (interaction) पर गौर नही करते।

वास्तव मे, ऐतिहासिक प्रक्रिया के वस्तुगत कारक, जो कि, अन्ततो-गत्वा, मनोगतवादी कारकों को निर्धारित करते हैं, इन्हीं मनोगतवादी कारकों के शक्तिशाली प्रभाव के अन्तर्गत स्वयं बदल जाते हैं।

ये सब निष्कर्ष मस्तिष्क और भूत के आपसी सम्बन्ध के प्रश्न के विषय में लेनिन ने जो उत्तर दिया था उसके आम सिद्धान्तों से ही निकलते हैं। उन्होंने कहा था कि हमारी चेतना न केवल संसार को प्रतिबिम्बित करती है, बल्कि उसका पुनर्निर्माण भी करती है, अर्थात् अपने अमली कार्य-कलापों के द्वारा मनुष्य दुनिया को बदलता भी चलता है। इस सचाई का सबसे उल्लेखनीय प्रमाण अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति की विजय और उसके बाद किया गया समाजवाद का निर्माण है। कोई भी अमली कार्यवाही करने से पहले इन दोनों ही चीजों के लिए सैद्धान्तिक रूप से पहले ही अत्यन्त सावधानी के साथ योजना बना ली गयी थी और पूरी तैयारी कर ली गयी थी।

रूपान्तरण के लिए जनता, वर्गों, पार्टियों तथा व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली सम्पूर्ण अमली कार्यवाहियों के मेल से ही ऐतिहासिक प्रक्रिया के दौरान वस्तुगत और मनोगत कारकों की अटूट एकता कायम होती है। यह बात सुविदित है कि अक्तूबर क्रान्ति तथा गृह युद्ध के दिनों में, और फिर १९४१-१९४५ के महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध के वर्षों में, जन समुदायों की क्रान्तिकारी पहलकदमी और उनके जोशो खरोश ने बहुत भारी भूमिका अदा की थी। इसी वजह से ऐतिहासिक कार्यकलाप (historical action) के सन्दर्भ में मनोगतवादी कारक को—अर्थात्, वर्ग चेतना, एकचित्तता, उत्साह, सृजनात्मक पहलकदमी और जन संगठन के पूरे पहलू को—लेनिन अधिकतम महत्व देते थे। वस्तुगत ऐतिहासिक परिस्थितियां अपने आप ही नहीं प्रगतिशील शक्तियों को विजयी बना देतीं। मात्र यह समझदारी कि यह विजय अवश्यम्भावी है, काफी नहीं है। उसके लिए मनोगतवादी कारक भी आवश्यक होता है।

परन्तु सामाजिक क्रान्ति के नियमों का विश्लेषण करते हुए, इस परिणाम पर भी लेनिन पहुँचे थे कि मनोगतवादी कारक केवल तभी निर्णायक महत्व के बन जाते हैं जबकि आवश्यक वस्तुगत पूर्व परिस्थितियाँ तैयार हो गयी हों। उन्होंने यह भी बतलाया था कि वस्तुगत परिस्थितियों और मनोगतवादी कारकों के बीच अन्तर्विरोध भी पैदा हो सकते हैं। आर्थिक परिस्थितियों द्वारा इस बात का संकेत किये जाने के बावजूद कि क्रान्ति के लिए समय अनुकूल है क्रान्तिकारी वर्गों के पास हमेशा नहीं इतनी काफी शक्ति होती है कि वे क्रान्ति को पूरा कर लें। समाज का (वर्तमान) ढांचा अपने सबसे आगे बढ़े अंगों के अनुकूल और उनको सुविधा प्रदान करने वाला नहीं है। क्रान्ति के लिए समय परिपक्व हो सकता है लेकिन यह भी हो सकता है कि क्रान्ति के लिए लड़ने वाले लोगों के पास उसे सफल बनाने के लिए काफी शक्ति न हो। ऐसा होने "पर समाज का

अपक्षय (ह्रास) होने लगता है और अपक्षय (decay) की यह प्रक्रिया कभी-कभी दशाब्दियों तक घिसटती रहती है।"*

मानव इतिहास की आम प्रवृत्ति वस्तुगत कारकों में परिवर्तन करके मनोगतवादी कारक को सशक्त बनाने की है। समाजवादी परिस्थितियों में मनोगतवादी कारक की भूमिका नियोजित प्रगति (planned progress) के लिए खास तौर से अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है, क्योंकि यह नियोजित प्रगति "नये संगठनात्मक सम्बन्धों की एक अत्यधिक जटिल तथा नाजुक व्यवस्था की परिस्थितियों में होती है, और ये नये संगठनात्मक सम्बन्ध करोड़ों लोगों के अस्तित्व के लिए आवश्यक वस्तुओं के नियोजित उत्पादन और वितरण के क्षेत्र तक फैले होते हैं।"**

ऐतिहासिक परिवर्तन के लिए मनोगतवादी कारक के तर्क-संगत ढंग से इस्तेमाल किये जाने के लिए बुनियादी चीज जो जरूरी है वह यह है कि सामाजिक विकास के वस्तुगत नियमों की तरफ लोग अधिक से अधिक ध्यान दें।

आवश्यकता और स्वतन्त्रता

मनोगतवादी कारक के सम्बन्ध में लेनिन की शिक्षाएँ वास्तव में समाज शास्त्र के उन घटिया किस्म के भौतिकवादियों के ऊपर प्रहार करती हैं जो मानव के सामाजिक विकास में विचारों के महत्व को कम करते हैं और इस सिद्धान्त का प्रचार करते हैं कि सामाजिक घटनाएँ "स्वयं स्फूर्त", स्वचालित और पूर्वनिर्धारित होती हैं। स्वेच्छावाद (voluntarism) की अवधारणा को, इस धारणा को भी कि इंसान के कार्यकलाप वस्तुगत नियमों से स्वतन्त्र होते हैं, लेनिन ने ग़लत ठहराया था। उन्होंने कहा था कि "स्वतन्त्र इच्छा" (free will) जैसी कोई चीज नहीं होती। उन्होंने सिद्ध किया था कि व्यक्ति की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की बात केवल एक कपोल कल्पना है यह सम्भव नहीं है कि आदमी समाज में रहे और उससे पूरे तौर से स्वतन्त्र हो। साथ ही साथ, भाग्यवाद (या नियतिवाद) की धारणा की, इस धारणा की भी उन्होंने तीव्र आलोचना की थी कि मनुष्यों के सारे कार्यकलाप मानवीय नियन्त्रण से परे, किन्हीं शक्तियों द्वारा भाग्यवादी (fatalistic) ढंग से पहले से ही तै कर दिये जाते हैं। यदि सब कुछ पहले से ही तै है (पूर्व निर्धारित है) तब फिर संसार में न कोई चीज सही हो सकती है और न गलत। स्वेच्छावाद और भाग्यवाद ये दोनों ही

---

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड ६, पृष्ठ ३६८।—स०

** वही, खण्ड २७, पृष्ठ २४१।—स०

अधिभूतवादी धारणाएँ है मानवीय आचरण (या चेष्टा) के एक पक्ष को ही वे सम्पूर्ण सत्य बना देती है और उसके दूसरे पक्ष को अनदेखा करती हैं। असलियत यह है कि हमे स्वतन्त्रता और आवश्यकता दोनो के बीच की द्वन्द्वात्मक एकता को देखना पहचानना चाहिए। मनुष्य को जब नियमो का ज्ञान नही होता, जब नयी परिस्थितियो मे भी वह पुराने परम्परागत तरीके के अनुसार ही सोचता और आचरण करता रहता है तब वह स्वतन्त्र नही होता। मनुष्य सिर्फ तभी स्वतन्त्र होता है जब उसके कार्यकलाप उस समय की ठोस परिस्थितियो की वस्तुगत आवश्यकता के अनुरूप होते है, उससे सामञ्जस्य रखते हैं। स्वीकृत आवश्यकता (या अनिवार्यता) जब मनुष्य के आचरण के सम्बन्ध मे एक नियामक कारक (regulating factor) की भूमिका अदा करने लगती है तब आवश्यकता मानवीय चेतना के अन्दर से परावर्तित (refract) होकर (विश्लेषित या विखण्डित होकर) स्वतन्त्रता के रूप मे सामने आती है। तब पूर्व विधानवाद (determinism) भाग्यवाद (या नियतिवाद) का रूप ग्रहण करने के बजाय, वास्तव मे बुद्धि सम्मत कार्यवाही के लिए एक आधार प्रदान करने का काम करता है।"*

वस्तुगत नियमो का ज्ञान और उनका उपयोग करने की योग्यता ही स्वतन्त्रता है। यह स्वतन्त्रता ऐतिहासिक विकास की उपज है, ससार के ऐतिहासिक मानवीय व्यवहार का फल है। यह समझते हुए भी कि पूरी स्वतन्त्रता हम कभी नही प्राप्त कर सकते, आवश्यकता से थोडी थोडी और अधिक स्वतन्त्रता छीनकर हम उसे बराबर बढाते जाते हैं।

ऐतिहासिक भौतिकवाद समाज के प्रगतिशील वर्गों से काम की, सघर्ष की माँग करता है लेकिन भाग्यवाद से चुप रहने का, हाथ पर हाथ रखकर बैठ रहने का सदेश हमे मिलता है। लेनिन ने बतलाया था कि सामाजिक वर्गों की अमली कार्यवाहियाँ—उदाहरण के लिए, पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध सघर्ष के दौरान मजदूर वर्ग की अमली कार्यवाहियाँ—समाज के अन्दर कार्य रत वस्तुगत नियमों की सीमाओ के अन्तर्गत ही स्वय आवश्यकता की सृष्टि की प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। लेनिन ने उन सिद्धान्तो की नितान्त असगतता का अच्छी तरह पर्दा फाश कर दिया था जो "उस सक्रिय, नेतृत्वकारी, और पथ प्रदर्शक भूमिका की उपेक्षा करते जो इतिहास मे उन पार्टियों को अदा करनी चाहिए और कर सकती हैं जिन्होंने क्रान्ति की भौतिक पूर्व आवश्यकताओ को समझ लिया है और प्रगतिशील वर्गों के आगे उनके नेता के रूप मे अपने को खड़ा कर लिया

---

* वी॰ आई॰ लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली खण्ड १, पृष्ठ ४२० ।—स॰

है—इतिहास की भौतिकवादी धारणा" के महत्व का घटाने की कोशिश करते हैं।*

इस प्रकार, मार्क्सवादी लेनिनवादी समाजशास्त्र इतिहास की भाग्यवादी और स्वच्छावादी (fatalistic and voluntaristic) दोनों ही प्रकार की व्याख्याओं का पूरे तौर से अस्वीकार करता है तथा एक का स्वच्छावादी और दूसर को भाग्यवादी बताकर लेनिन को मार्क्स के मुकाबले म खडा करने की पूजीवादी समाजशास्त्रियों की काशिशा की निरी मूर्खता को सबके सामने खोल कर रख देता है। इस तरह की काशिश जाहिर करती है कि उनका करने वाल लोग या तो सामाजिक नियमा तथा सचेत मानवीय कार्यकलापों के बीच के सम्बध की समस्या का द्वन्द्वात्मक ढग से समझने की क्षमता नही रखत, या फिर उनम इस चीज को ठीक तरह से समझने की इच्छा ही नही है। इस समस्या का निदान इतिहास की सिर्फ भौतिकवादी व्याख्या के आधार पर ही निकाला जा सकता है। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या न सिद्ध कर दिया है कि ऐतिहासिक आवश्यकता के महारथ के पहियों के नीचे कुचला जाकर देर या सवेर से पूजीवाद का अन्त हो जायेगा। इसलिए, पूजीवाद की हिमायत करने की कोशिश करना उतना ही हास्यास्पद है जितना कि काल की गति से इनकार करने की कोशिश करना।

---

* वही, खण्ड ६, पृष्ठ ४४।—स०

अधिभूतवादी धारणाएँ है मानवीय आचरण (या चेष्टा) के एक पक्ष को ही व सम्पूर्ण सत्य बना देती हैं और उसके दूसरे पक्ष को अनदेखा करती हैं। असलियत यह है कि हमें स्वतन्त्रता और आवश्यकता दोनो के बीच की द्वन्द्वात्मक एकता को देखना-पहचानना चाहिए। मनुष्य को जब नियमो का ज्ञान नहीं होता, जब नयी परिस्थितियो में भी वह पुराने परम्परागत तरीको के अनुसार ही सोचता और आचरण करता रहता है तब वह स्वतन्त्र नही होता। मनुष्य सिर्फ तभी स्वतन्त्र होता है जब उसके कार्यकलाप उस समय की ठोस परिस्थितियो की वस्तुगत आवश्यकता के अनुरूप होते है, उससे सामञ्जस्य रखते हैं। स्वीकृत आवश्यकता (या अनिवार्यता) जब मनुष्य के आचरण के सम्बन्ध मे एक नियामक कारक (regulating factor) की भूमिका अदा करने लगती है तब आवश्यकता मानवीय चेतना के अन्दर से परावर्तित (refract) होकर (विश्लेषित या विखण्डित होकर) स्वतन्त्रता के रूप मे सामने आती है। तब पूर्व विधानवाद (determinism) भाग्यवाद (या नियतिवाद) का रूप ग्रहण करने के बजाय वास्तव मे बुद्धि सम्मत कार्यवाही के लिए एक आधार प्रदान करने का काम करता है।"*

वस्तुगत नियमो का ज्ञान और उनका उपयोग करने की योग्यता ही स्वतन्त्रता है। यह स्वतन्त्रता ऐतिहासिक विकास की उपज है, ससार के ऐतिहासिक मानवीय व्यवहार का फल है। यह समझते हुए भी कि पूरी स्वतन्त्रता हम कभी नही प्राप्त कर सकते, आवश्यकता से थोडी थोडी और अधिक स्वतन्त्रता छीनकर हम उसे बराबर बढाते जाते हैं।

ऐतिहासिक भौतिकवाद समाज के प्रगतिशील वर्गों से काम की, सघर्ष की माँग करता है, लेकिन भाग्यवाद से चुप रहने का, हाथ पर हाथ रखकर बैठ रहने का सदेश हमे मिलता है। लेनिन ने बतलाया था कि सामाजिक वर्गों की अमली कार्यवाहियाँ—उदाहरण के लिए, पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध सघर्ष के दौरान मजदूर वर्ग की अमली कार्यवाहियाँ—समाज के अन्दर कार्य-रत वस्तुगत नियमों की सीमाओ के अन्तर्गत ही स्वय आवश्यकता की सृष्टि की प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। लेनिन ने उन सिद्धान्तो की नितान्त असगतता का अच्छी तरह पर्दाफाश कर दिया था जो "उस सक्रिय, नेतृत्वकारी, और पथ प्रदर्शक भूमिका की उपेक्षा करते जो इतिहास मे उन पार्टियों को अदा करनी चाहिए और कर सकती है जिन्होंने क्रान्ति की भौतिक पूर्व आवश्यकताओ को समझ लिया है और प्रगतिशील वर्गों के आगे उनके नेता के रूप मे अपने को खडा कर लिया

* वी॰ आई॰ लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड १, पृष्ठ ४२० ।-स॰

है—इतिहास की भौतिकवादी धारणा" के महत्व को घटाने की कोशिश करते हैं।*

इस प्रकार, मार्क्सवादी लेनिनवादी समाजशास्त्र इतिहास की भाग्यवादी और स्वेच्छावादी (fatalistic and voluntaristic) दोनों ही प्रकार की व्याख्याओं को पूरे तौर से अस्वीकार करता है तथा एक को स्वेच्छावादी और दूसरे का भाग्यवादी बताकर लेनिन को मार्क्स के मुकाबले में खड़ा करने की पूंजीवादी समाजशास्त्रियों की कोशिशों की निरी मूर्खता को सबके सामने खोल कर रख देता है। इस तरह की कोशिशें जाहिर करती है कि उनको करने वाले लोग या तो सामाजिक नियमों तथा सचेत मानवीय कार्यकलापों के बीच के सम्बन्ध की समस्या को द्वन्द्वात्मक ढंग से समझने की क्षमता नहीं रखते, या फिर उनमें इस चीज को ठीक तरह से समझने की इच्छा ही नहीं है। इस समस्या का निदान इतिहास की सिर्फ भौतिकवादी व्याख्या के आधार पर ही निकाला जा सकता है। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या ने सिद्ध कर दिया है कि ऐतिहासिक आवश्यकता के महारथ के पहियों के नीचे कुचला जाकर देर या सवेर से पूंजीवाद का अंत हो जायेगा। इसलिए, पूंजीवाद की हिमायत करने की कोशिश करना उतना ही हास्यास्पद है जितना कि काल की गति से इनकार करने की कोशिश करना।

* वही, खण्ड ६, पृष्ठ ४४।—सं०

अध्याय आठ

सामाजिक जीवन और सामाजिक विकास का आधार—भौतिक उत्पादन

भौतिक उत्पादन की अवधारणा

भौतिक उत्पादन समाज और प्रकृति के बीच की वह अन्योन्य (परस्पर रूप से एक दूसरे को प्रभावित करने वाली) प्रक्रिया है जिसके माध्यम से मनुष्य प्रकृति को बदलता है और उसे अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप बनाता है। इस प्रक्रिया का स्वरूप हमेशा सामाजिक होता है, क्योंकि किसी अलग थलग व्यक्ति द्वारा किया जाने वाला उत्पादन उसी प्रकार अर्थहीन होगा जिस प्रकार कि एक साथ रहने वाले लोगों से अलग कहीं बियाबान में भाषा के विकास की कल्पना करना। भौतिक वस्तुओं का उत्पादन ही मानव समाज का स्रोत, उसके बराबर जीवित बना रहने का आधार तथा आगे उसकी प्रगति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शर्त है।

मनुष्य जितनी भी चीजें करता है, या उसने कभी की हैं, उनमें भौतिक उत्पादन सबसे महत्वपूर्ण है। इस काम में उसकी सामाजिक क्रियाशीलता के समय का अधिकांश भाग लग जाता है। जनता का विशाल बहुमत भौतिक उत्पादन के काम में इसी तरह लगा रहता है।

स्पष्ट है कि जीवित रहने के लिए लोगों के पास जीवित रहने के साधन होने चाहिए, और इन साधनों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक होता है कि वे काम करें। काम के बिना सामाजिक जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। तैयार रूप में प्रकृति जो कुछ उसे देती है उससे मनुष्य संतुष्ट नहीं हो सकता। जिस हवा में हम साँस लेते हैं उसको भी कभी कभी गर्म करने की जरूरत पड़ती

है। परन्तु प्रकृति के नियमों का इस्तेमाल करके तथा उन चीजों का उपयोग करके जो प्रकृति हमें देती है मनुष्य उन चीजों को भी पैदा कर सकता है जो प्रकृति में नहीं मिलतीं।

उत्पादन की धारणा के अंतर्गत उत्पादन की प्रक्रियाएँ और उत्पादित वस्तुओं के वितरण, विनिमय और उपभोग की प्रक्रियाएँ—दोनों ही आ जाती हैं। इसके अलावा, उत्पादन की प्रक्रियाओं का स्वरूप ही इस बात को तय कर देता है कि वस्तुओं का वितरण किस प्रकार किया जायगा। वितरण का मतलब, सर्वोपरि, उत्पादित वस्तुओं का वितरण है। किन्तु उत्पादित वस्तुओं के वितरण की स्थिति के पैदा होने से पहले आवश्यक होता है कि समाज के सदस्यों तथा उत्पादन के साधनों का स्वयं उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के बीच वितरण कर दिया जाय और उन्हें उत्पादन के निश्चित सम्बन्धों के अधीन काम करने की क्रिया में लगा दिया जाय। और चूंकि लोगों और वस्तुओं दोनों के वितरण की व्यवस्था को उत्पादन ही तय करता है इसलिए वही अर्थ व्यवस्था का निर्देशक अंग होता है।

समाज में भौतिक और मानसिक, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, स्थायी और परिवर्तनशील—अनेक प्रकार की शक्तियाँ काम करती रहती हैं। समाज के जीवन और विकास की रूप रेखा और दिशा ये सब मिलकर निर्धारित करती हैं। किन्तु जो भूमिकाएँ ये शक्तियाँ अदा करती हैं वे सब एक समान महत्व अथवा निर्णायकता नहीं रखतीं। समाज में एक शक्ति ऐसी है जो, अंतिम विश्लेषण में, दूसरी तमाम शक्तियों को—यहाँ तक कि सर्वाधिक परिष्कृत आत्मिक (अथवा आध्यात्मिक) शक्तियों तक को—निर्धारित करती है। यह शक्ति है भौतिक मूल्यों के उत्पादन की शक्ति जो कि, एक प्रकार से, सामाजिक मशीन का इंजन होती है।

एक सामाजिक व्यवस्था से दूसरी सामाजिक व्यवस्था में संक्रमण उत्पादन के अंदर पैदा होने वाले अंतर्विरोधों की ही वजह से होता है। जिन औजारों का लोग उत्पादन के लिए प्रयोग करते हैं उनके बदल जाने से लोग खुद भी बदल जाते हैं—काम करने की उनकी दक्षताएँ और, उनके साथ-साथ, उनकी चेतना भी बदल जाती है। वास्तव में, उसकी वजह से सम्पूर्ण आर्थिक और सामाजिक ढाँचा ही बदल जाता है। उत्पादन के औजारों के बदलने से लोगों के बीच के सारे सम्बन्ध बदल जाते हैं तथा समस्त मौजूद संस्थाओं और संगठनों के रूप, लोगों के समस्त विचार तथा नैतिकता के मान-दण्ड रूपांतरित हो जाते हैं।

प्रकृति और समाज की एकता

मनुष्य पृथ्वी की पतली पपटी (पपड़ी) द्वारा निर्धारित की गयी सीमाओं

के अ तगत—अपने भौगोलिक परिवेश के अ तगत, प्रकृति के उस भाग के अन
गत रहता है जिसके साथ समाज का विशेष रूप से नजदीकी सम्पर्क रहता है
और जो स्वय समाज से सर्वाधिक मात्रा म प्रभावित होता है। मनुष्य क
भौगोलिक परिवेश मे वे नदिया शामिल होती है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप स
मानवीय कायकलापो के साथ जुडी रहती ह । उसमे वे नहरें—जिनका मनुष्य ने
स्वय अपन लिए बनाया है, तथा नदिया के किनारे और उन पर बनाये गये बाध
प्राकृतिक तथा स्वय मानव द्वारा लगाये गये जगल, खेत और चरागाह, नगर
तथा इन्सानो की अन्य तमाम बस्तिया, आबोहवा और भूमि की परिस्थितियाँ,
खनिज स्रोत, पौधे और पशु—ये सभी चीजें शामिल होती है।

जीवन की उत्पत्ति और उसका विकास इसी भौगोलिक परिवेश म हुआ
था । इस प्रकार, मानवीय इतिहास पृथ्वी के इतिहास का ही चलता हुआ सिलसिला
है । जैसा कि प्रसिद्ध रूसी लेखक हर्जेन ने लिखा था, ये दोनो एक ही पुस्तक के
दो अध्याय एक ही प्रक्रिया की ऐसी दो अवस्थायें है जो, एक दूसरे से बहुत
दूर होते हुए भी, अपने दूर के छोरो पर जहा मिलती है वहाँ एक दूसरे के बहुत
समीप हैं । अपने भौगोलिक परिवेश के साथ हम, "खून के रिश्तो से जुडे हुए
हैं ।' और इस परिवेश के बाहर मानव जीवन असम्भव है । अतरिक्ष यात्री
जब अस्थायी तौर से पृथ्वी को छोडकर ऊपर जाते हैं तब वे उसके एक छोटे स
अश को अपन साथ लते जाते हैं । प्रकृति और समाज के बीच म कोई दरार
(या क्रम भग) नही है । निस्सन्देह, इसका मतलब यह नही होता कि उनकी
अपनी अलग, गुणात्मक रूप से भिन्न, विशेषतायें नही हैं । परन्तु उस हर चीज
के बावजूद जो समाज को प्रकृति से जुदा करती है समाज प्रकृति का अश ही
बना रहता है । जब से मानव समाज का अस्तित्व हुआ है तभी से पृथ्वी
पर तीन प्रकार की प्रक्रियाएँ चलती आयी हैं । एक वे जिनका सम्बन्ध स्वय
प्रकृति से है, दूसरी वे जिनका स्वरूप विशेष रूप से सामाजिक है, और तीसरी
वे जो, इन दोनो के तत्वो को मिलाकर, प्रकृति और समाज को एक सूत्र मे बाँध
रहती हैं।

प्रकृति और समाज की अन्योन्य क्रिया (एक दूसरे को प्रभावित करने
वाली क्रिया) का द्वन्द्ववाद इस तरह का है कि समाज का जैसे जैसे विकास होता
है वैसे ही वैसे प्रकृति पर उसकी प्रत्यक्ष निर्भरता कम होती जाती ह और अप्रत्यक्ष
निर्भरता बढ़ती जाती है । प्रकृति के ऊपर अपनी सत्ता को मनुष्य उसके (अर्थात
प्रकृति के) नियमो की अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करके और इन नियमो क
ज्ञान के आधार पर उसका (प्रकृति का) बढ-चढकर बढाता है । साथ ही साथ, ज्यो
ज्यों समाज का विकास होता जाता है त्यो ही त्यो प्रकृति के साथ मनुष्य का

सम्पर्क अधिकाधिक व्यापक तथा गहरा होता जाता है। उसका यह सम्पर्क प्रकृति की वस्तुओं और प्रक्रियाओं के सिलसिले में निरन्तर बढ़ती जाती उसकी गतिविधियों के क्षेत्र में भी बढ़ता जाता है।

(पृथ्वी के) पूरे ग्रह को अपनी गतिविधियों की परिधि में ले आने के बाद, मानव अब अन्तरिक्ष में प्रवेश कर रहा है। अनेक ब्रह्माण्डीय घटना प्रवाहों (cosmic phenomena) की पृथ्वी पर वह प्रतिकृति तैयार कर रहा है। उदाहरण के लिए, अति नीचे और अति ऊँचे तापमानों, नक्षत्रों के बीच के अवकाश की शून्यता-जैसी विशेषता, तथा नक्षत्रों में पाये जाने वाले यूरेनियम पारीय (transuranium) तथा दूसरे कृत्रिम रासायनिक तत्वों (टेक्नटियम, प्लूटोनियम) का वह पृथ्वी पर पुनरुत्पादन (या पुनसृजन) कर रहा है। कृत्रिम उपग्रहों, अन्तग्रहीय स्टेशनों तथा अन्तरिक्ष यानों का भी वह निर्माण कर रहा है। मनुष्य अन्तरिक्ष की और भी गहराइयों तक पहुँच सके इसके लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी जमीन तैयार करके मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं।

प्रकृति और समाज के बीच की अन्योन्य क्रिया का इतिहास इस बात का साक्षी है कि ये दोनों एक दूसरे पर निर्भर करते हैं और, वास्तव में दोनों मिलकर एक अविच्छिन्न गतिशील इकाई के ही रूप में काम करते हैं। एक उदाहरण ले लीजिये। दोनों विश्व युद्धों के दौरान उत्तरी अटलाण्टिक महासागर में मछलियों के मारे जाने के काम में जबर्दस्त कमी हो गयी थी। इसके फलस्वरूप, व्यावसायिक मछलियों की भारी भीड़ जमा हो गयी और उनमें बीमारी फैल गयी। इससे मछलियों की साइज़ (आकार) साफ तौर से छोटी हो गयी। इससे स्पष्ट है कि समुद्र में घटित होने वाली जीव विज्ञान सम्बन्धी प्रक्रियाओं के ऊपर समाज उनको विनियमित करनेवाली एक शक्ति के रूप में काम करता है। यह उदाहरण इस बात को भी जाहिर करता है कि समाजके शान्तिपूर्ण जीवन के साथ प्रकृति ने अपने को "समजित" (adjust) कर लिया था।

मानवजाति प्रकृति की दुनिया में केवल रहती ही नहीं है, बल्कि उसको वह बदलती भी है। प्रारम्भ काल से ही मानव समाज अपने इर्द गिर्द की प्रकृति को बदलता आया है। जैसा कि रूसी लेखक डी० आई० पिसारेव ने कहा था, 'जमीन में' मानवीय प्रयास की असीमित मात्रा उसी तरह जमा कर दी गयी है "जिस तरह कि कोई किसी विशाल सेविंग बैंक (बचत बैंक) में जमा करता है।" मनुष्य ने जंगलों को काटा, दलदलों को सुखाया, बाँधों गाँवों और शहरों का निर्माण किया पृथ्वी के धरातल पर रेलों का एक घना जाल बिछाया और—और भी न जाने क्या क्या किया।

मानवजाति अपने सांस्कृतिक और ऐतिहासिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए

प्राकृतिक धन सम्पदा का उपयोग करती है। कितनी शताब्दियों तक रात के बारे में चमकने वाली और बहुधा भारी विनाश के बीज बोने वाली बिजली मनुष्यों को डरवाती और बिजली की गडगडाहट सुनते ही उन्हें जमीन पर पड जाने के लिए बाध्य करती रही है ? लेकिन समाज की सेवा करने के लिए उस विवश करके मनुष्य ने बिजली पर विजय हासिल करली है और उसे पालतू बना लिया है। अब बिजली आनाकारी ढग से काँच के बल्बो में जलती हुई हमारे घरों और हमारी सडको को आलोकित करती है तथा मशीनो के औजारो और रेलो के इजनो को चलाती है। मनुष्य ने न केवल अनेक प्रकार के पौधो और पशुओ को दूसरी दूसरी आबहवाओ मे पहुचा दिया है, उसने उनमे से कुछ को एकदम रूपान्तरित भी कर दिया है तथा अपने रहने के स्थानो के रूप रंग तथा उनकी जलवायु तक को बदल दिया है।

भौतिक उत्पादन ज्यो ज्यो विकसित होता जाता है त्यो ही त्यो प्रकृति के ऊपर समाज का प्रभाव अधिकाधिक मात्रा मे बढता जाता है। सामाजिक उत्पादन में होने वाली हर महत्वपूर्ण प्रगति के साथ साथ प्रकृति के ऊपर समाज के प्रभाव का स्वरूप भी बदल जाता है। उत्पादन बढता है तो सामाजिक आवश्यकतायें बदल जाती है और प्राकृतिक स्रोतो के लिए की जाने वाली मांगें भी बदल जाती हैं। न केवल प्रकृति के ऊपर समाज के प्रभाव की तीव्रता बदल जाती है, बल्कि उसके प्रभाव के क्षेत्र भी बदल जाते हैं। जाहिर है कि मनुष्य के आस पास का भौगोलिक परिवेश प्रकृति के उस भाग की अपेक्षा अधिक तेजी से बदलता है जिस पर समाज का प्रत्यक्ष प्रभाव नही पडता। भौगोलिक परिवेश मे होने वाले परिवर्तन न केवल उत्पादन के उस स्तर पर निभर करते हैं जिस स्तर तक समाज पहुँच गया है, बल्कि वे उसकी सामाजिक व्यवस्था पर भी निभर करते है। प्रत्येक नयी सामाजिक व्यवस्था पिछले युगो की उपलब्धियो का उपयोग करके मानव के परिवेश को सशोधित करती है और भावी पीढ़ियो के लिए उसे एक प्रकार मे हमवार बनाती है।

प्रकृति पर समाज के बढते हुए प्रभाव के कारण कुछ प्राकृतिक प्रक्रियाओ की गति म तेजी आ जाती है। भौगोलिक परिवेश विशेष रूप से अत्यन्त तेजी के साथ विकास करता है। सैकडो, हजारो वर्षो की बात तो छोड दीजिए, केवल कुछ दशको मे भी उसके अन्दर काफी ठोस परिवर्तन हो जाते है। उदाहरण के लिए, जमीन को जोतकर हर साल उसकी बहुत बडी मात्रा को मनुष्य इधर से उधर हटाता है। इस तरह गोडी और हटाई जाने वाली भूमि की राशि पृथ्वी के अन्दर से हर साल बाहर निकलने वाले ज्वालामुखीय द्रव्य स्रवण (volcanic products) के घनफल के तीन गुने के बराबर होती है। पिछले सौ सालो

म फैक्ट्रियों से निकली कार्बन डाई आक्साइड की ३६० अरब टन की मात्रा वातावरण म मिल गयी है जिससे कि उसका सक द्रण उसमे १३ प्रतिशत बढ गया है। इसकी वजह से पौधो के बढने की गति मे तेजी आ गयी है। इसकी वजह से सौर विकिरण (solar radiation) को सोख कर कार्बन डाई आक्साइड द्वारा पथ्वी को "गम किये जाने" की मात्रा भी बढ गयी है। अनुमान है कि कार्बन डाई आक्साइड की जिस अतिरिक्त मात्रा का मनुष्य द्वारा वातावरण मे इजाफा किया गया है उसकी वजह स उसका तापमान १ और २ डिग्री सण्टीग्रेड के बीच म बढ गया है।

ज्यो ज्या समाज तरक्की करता है त्या त्या मनुष्य द्वारा सजित किये जाने वाले नय गुण सचित होते जात हैं। धीरे धीरे भौगोलिक परिवेश का व उसकी अछूती अवस्था से अधिकाधिक दूर हटाते जाते है किन्तु श्रम के साधना और उपभोग की वस्तुओ का इजाफा करने मे मनुष्य की आग आन वाली पीढिया की वे मदद करते है। अगर आज कोई हमारे वतमान भौगालिक परिवेश स उसक उन तमाम गुणो को छीन ले जिनकी सष्टि पिछली पीढियो की मेहनत (श्रम) से हुई है और उसे फिर उसकी उसी स्थिति मे वापिस पहुँचा दे जहा सामाजिक इतिहास के आरम्भ होन से पहले वह था, तो आधुनिक समाज जिदा नही रह सकेगा।

ऐतिहासिक रूप से मनुष्य का प्राकृतिक माध्यम (परिवेश) बहुत महत्वपूण होता है। सब जगहो पर और सभी काला म प्रकृति मानवजाति का ठीक एक ही प्रकार से नही प्रभावित करती। पृथ्वी के भिन्न भिन्न भागो मे प्रकाश, ऊष्मा, पानी, वर्षा, पौधा और पशुओ की भिन्न भिन्न मात्राएँ वह मानवजाति को प्रदान करता है। इतिहास म इस बात के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं जिनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भौगालिक परिस्थितिया ने या तो मानवीय प्रगति का बढाने मे मदद दी है, या उसके रास्त का रोक कर उसन उसम देर कराई है। मनुष्य का ध्रुव उत्तर मे बहुत सरल प्रयास करके अमैत्रीपूण और कठोर प्रकृति स जीवित रहन के लिए जबदस्ती साधन प्राप्त करने पडे थे। परन्तु उष्ण प्रदेशो म चमकते फूलो, सदा लहलहाती हरियाली और रसभरे फलो के प्रदेशा म, प्रकृति स्वय ही अत्य त कृपालु है और स्वय ही वह मनुष्य के लिए हर चीज प्रचुर मात्रा म उपलब्ध करा देती है।

समाज के ऊपर प्राकृतिक परिवश के प्रभाव का पडना एक ऐतिहासिक घटना क्रम है। इतिहास म हम जितने ही अधिक पीछे जायेंगे समाज की शक्तियाँ हम उतनी ही कमजोर दिखलायी देंगी, प्रकृति क ऊपर समाज की निभरता उतनी ही अधिक होगी।

जनसंख्या का प्रश्न

किसी देश में और सारी दुनिया में रहने वाले लोगों की संख्या में निरंतर वृद्धि का होता जाना उन प्राकृतिक शर्तों में से एक है जो कि मानवसमाज के अस्तित्व के बने रहने तथा विकास के लिए आवश्यक है। समाज के आर्थिक और आत्मिक जीवन का अस्तित्व किसी क्षेत्र में तभी सम्भव हो सकता है जब कि वहां की जनसंख्या का घनत्व एक निम्नतम स्तर से नीचा न हो।

परन्तु, जनसंख्या की वृद्धि की बात पर केवल मानवीय पुनरुत्पादन की जीवशास्त्रीय शब्दावली में ही नहीं गौर करना चाहिए। मार्क्स ने सिद्ध किया था कि उत्पादन के प्रत्येक तरीके के जनसंख्या सम्बन्धी ऐतिहासिक रूप से निर्धारित किये गये खुद अपने नियम होते हैं। उत्पादन की वृद्धि और जनसंख्या की वृद्धि के बीच घनिष्ट सम्बन्ध होता है। आदिम कम्युनिज्म के जमाने में जनसंख्या बहुत धीरे धीरे बढ़ती थी और मृत्यु का अनुपात ऊँचा था। दास व्यवस्था के अन्तर्गत जनसंख्या कुछ अधिक जल्दी बढ़ी थी और सामन्तवाद के अन्तर्गत तो वह और भी अधिक तेजी से बढ़ी थी।

पूंजीवादी समाज व्यवस्था में प्रौद्योगिकी की प्रगति हुई तो जनसंख्या में भी काफी वृद्धि हो गयी। वैज्ञानिक उन्नति ने मरणानुपात (mortality rate) का भी और खास तौर से बच्चों की मरणशीलता का, कम कर दिया है। परन्तु उत्पादन की पूंजीवादी व्यवस्था बढ़ती हुई जनसंख्या का पूरा और अच्छी तरह उपयोग करने में अक्षम सिद्ध हुई है। मार्क्स ने जनसंख्या के जिस नियम की खोज की थी उसका सम्बन्ध पूंजीवादी समाज से था। उसकी उत्पत्ति ही पूंजीवादी संचय की खास विशेषताओं के गर्भ से हुई थी। पूंजीवादी संचय खुद ही 'लगातार मजदूरों की एक अपेक्षाकृत अनावश्यक संख्या का उत्पादन करता रहता है अर्थात पूंजी के आत्म विस्तार की औसत आवश्यकताओं के लिए जितनी जनसंख्या पर्याप्त होती है पूंजीवादी संचय उससे बड़ी जनसंख्या का—जो इस कारण अतिरिक्त जनसंख्या होती है—उत्पादन करता रहता है और यह उत्पादन वह स्वयं अपनी ऊर्जा और विस्तार के प्रत्यक्ष अनुपात में करता है।'*

श्रम शक्ति (labour force) के काफी बड़े हिस्से को पूंजीवादी समाज में काम नहीं मिलता। ऐसे मजदूरों से एक रिजर्व (आरक्षित) श्रम सेना तैयार होती है। इस सेना में बेकार मजदूरों के अलावा तबाह हो गये छोटे उत्पादक भी होते हैं। पूंजीवाद की साम्राज्यवादी अवस्था में सापेक्ष रूप से आवश्यकता से अधिक इस जनसंख्या में काफी वृद्धि हो जाती है।

* कार्ल मार्क्स, पूंजी, खण्ड १, हिन्दी संस्करण पृष्ठ ७०६।—सं०

" समाजवाद का जनसंख्या सम्बन्धी नियम इससे भिन्न है। उसके अन्तर्गत सामाजिक रूप में संगठित मजदूरों का बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से इस्तेमाल किया जाता है जनसंख्या का नियोजित ढंग से वितरण किया जाता है, और उसकी तादाद में निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

पिछली शताब्दियों के दौरान विश्व की जनसंख्या में निम्न प्रकार वृद्धि हुई है पहली शताब्दी में ससार की जनसंख्या लगभग बीस करोड थी। पुनर्जागरण (Renaissance) के काल तक वह पचास करोड के आस पास हो गयी थी। उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक बढकर वह सौ करोड (अर्थात एक अरब) हो गयी थी। १६३० में वह दो अरब के बराबर थी। १९६३ में पृथ्वी पर बसने वाले लोगों की तादाद तीन अरब बीस करोड थी। (और अब, १६७६ में, ससार की जनसंख्या चार अरब के करीब हो गयी है।—स०)

जनसंख्या की इस वृद्धि से अनेक पूजीवादी वैज्ञानिक डरे हुए हैं। उनमे से कुछ "घटते हुए लाभ" (diminishing returns) के सिद्धान्त का प्रचार करने में जुटे हुए हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार, जमीन में श्रम और पूजी की जितनी मात्रा लगाई जाती है उसके अनुपात में उसकी फसल में वृद्धि नही होती। ये पूजीवादी सिद्धान्तकार यह भी कहते है कि खेती-योग्य भूमि की मात्रा सीमित है और इस वजह से खाद्यान्नों के उत्पादन में कोई बहुत बडी वृद्धि कर सकना असम्भव है। इससे वे निष्कर्ष निकालते हैं कि भुखमरी और अकालों का होना अनिवार्य है। इसलिए, वे कहते हैं कि, जनसंख्या तथा जीवनावश्यक वस्तुओं की सप्लाई के बीच एक उचित सतुलन क़ायम किया जाना चाहिए। इस विचार के जन्मदाता एक अंग्रेज अर्थशास्त्री और पादरी—माल्थस (१७६६ १८३४) थे। उन्होंने यह नया नियम जिसे वह "प्रकृति का महान नियम" कहते थे—ढूढ निकाला था। इस नियम के अनुसार, जनसंख्या में तो गुणोत्तर श्रेणी (geometrical progression) के अनुसार वृद्धि होती है, लेकिन आवश्यक साधनों की वृद्धि अधिक से अधिक समांतर श्रेणी (arithmetic progression) के अनुसार ही होती है। इसके फलस्वरूप, परन्तु "एकदम (निरपेक्ष) जनसंख्या अतिरेक" हो जाता है। माल्थस का कहना था कि गरीबी अनियन्त्रित पुनरुत्पादन (पुनर्जनन) का ही परिणाम है। मनुष्य द्वेषी भावना से भरकर उन्होंने यह भी कहा था कि ऐसे आदमी को जो दूसरे आदमियों द्वारा पहले से भरी हुई दुनिया में जबर्दस्ती आ जाता है, इस बात का कोई अधिकार नहीं है कि खाने के लिए खाने की माँग करे। अगर उसके माता पिता उसका भरण पोषण नहीं कर सकते, या समाज उसके श्रम का इस्तेमाल नहीं कर सकता, तो उसे शिकायत करने का कोई अधिकार नही है। ऐसा आदमी सर्वथा अनावश्यक है। ससार में जीवन

छिपे हुए हैं। अभी तक तो मनुष्य ने उपयोगी कच्चे मालो के कुछ साधनो की केवल ऊपरी सतह को ही हाथ लगाया है।

अनुमान किया जाता है कि अगले सौ वर्षों मे ससार की जनसख्या आठ या दस अरब हो जायेगी। लेकिन इसकी वजह से माल्यस वादियो की शरण म जाने की कोई आवश्यकता नही है। भूख तो, वास्तव म, शोषण पर अधारित एक समाज व्यवस्था की उपज है। प्रकृति को दोष देना बेकार है। उसका कोई अपराध नही है। इसमे सन्देह नही कि भूख तथा अल्प पोषण (undernourishment) का अन्त हो जाने तथा जनसख्या म तेज़ी से वद्धि हो जाने के फलस्वरूप समाज और प्रकृति के बीच की अन्योन्य क्रिया मे जबरदस्त तेज़ी आ जायेगी।

उत्पादन की शक्तियाँ तथा उत्पादन के सम्बन्ध

भौतिक उत्पादन के दो अग होते है—उत्पादन की शक्तियाँ तथा उत्पादन के सम्बन्ध। उत्पादन की प्रक्रिया को वास्तव मे मेहनतकश जनता ही चलाती है और इसलिए उत्पादन की शक्तियो का वही मुख्य तथा निर्णायक तत्व होती है।

उत्पादन काय करने से पहले जरूरी होता है कि उसके लिए भूमि, प्राकृतिक साधन, लकड़ी, आदि आवश्यक वस्तुओ को जुटा लिया जाय। परन्तु प्रकृति को मनुष्य अपने खाली हाथो से नहीं बदल सकता। इसलिए जीवन तथा समाज के विकास के आधार के रूप मे भौतिक मालो का उत्पादन श्रम के औज़ारो के उत्पादन तथा उपयोग से शुरू होता है। मार्क्स ने उत्पादन क औज़ारो को "उत्पादन की रीढ तथा मासपेशियाँ" कहा है। उत्पादन के लिए, विशेष तौर से आधुनिक उत्पादन के लिए, मशीनो और कलयत्रो का, श्रम के औज़ारो का होना जरूरी होता है।

श्रम के औज़ार मनुष्य द्वारा तयार की गयी ऐसी वस्तुएँ हैं जिनके द्वारा बाह्य दुनिया को अपने हित मे वह प्रभावित और रूपान्तरित करता है।

उन प्रथम मानवो का भी, जो यूथो म रहते थे, पाम पत्थर की कुल्हाडी जैसे सरलतम औज़ारो के बिना नही चल सकता था। ज्यों ज्यो मानवजाति न तरक्की की त्यों-त्यो श्रम के औज़ारो का महत्व भी बराबर बढ़ता गया। अब जटिल मशीनी औज़ारो तथा भाप, बिजली और आणविक ऊर्जा से चलने वाली मशीनों के बिना आधुनिक उत्पादन की कल्पना तक नही की जा सकती।

श्रम के औज़ारो क अलावा, उत्पादन के लिए कारखानो की इमारतो, गोदामों, विद्युत शक्ति तथा उत्पादन की "रक्त प्रणाली"—अर्थात यातायात की

भी आवश्यकता होती है। श्रम के औजारो सहित इन सब चीजा का मिलाकर श्रम के साधन (means of labour) कहा जाता है और श्रम के साधना तथा श्रम के पदार्थों का मिलाकर उत्पादन के साधन (means of production) कहा जाता है।

समाज की उत्पादक शक्तिया मे उत्पादन की प्रौद्योगिकी भी शामिल होता है। आधुनिक उत्पादन की लगभग सभी शाखाओ म, श्रम के औजारा तथा उत्पादन की सम्पूण प्रक्रिया का स्वरूप बहुत बडी मात्रा मे इस बात स तय होता है कि उसस सम्बधित तकनीकी समस्याओ को किस तरह हल किया जाता है। आधुनिक उत्पादन मे उत्पादन के सगठन तथा श्रम का सगठित करन के स्वरूप और तरीको की महत्वपूण भूमिका अधिकाधिक मात्रा म वढती जा रही है। किन्तु श्रम के औजारा तथा आम प्रौद्योगिकी के मुकाबले म श्रम के सगठन के स्वरूप अपेक्षाकृत धीरे धीरे विकसित होते हैं और इस वजह से, प्रौद्योगिकी की प्रगति की तुलना मे वे पीछे पड जाते हैं। उत्पादन की सम्पूण प्रक्रिया मे तथा उत्पादन की अलग अलग शाखाओ मे भी विशेषीकरण (specialisation), सक्द्रीकरण (concentration) तथा सहयाग, उत्पादित वस्तुओ और श्रम के औजारो क डिजाइनो मे समरूपीकरण (unification) तथा मानकीकरण (standardisation), और तमाम उद्यमो के उत्पादन म अभग (continuous) पद्धतियो का इस्तेमाल आधुनिक उत्पादन म अधिकाधिक महत्वपूण होते जा रहे हैं। जाहिर है कि भौतिक तथा तकनीकी वस्तुओ की सप्लाई की व्यवस्था को जिस प्रकार सगठित किया जाता है उस पर भी उत्पादन अत्यधिक मात्रा मे निभर करता है।

इस प्रकार, उत्पादन के वैज्ञानिक सगठन के अतगत निम्न चीजें आती हैं श्रम का सगठन, उत्पादन के साधना का बुद्धि-सगत उपयोजन (उपयोग) तथा उत्पादन का प्रबधन और नियोजन। उत्पादन और भौतिक तथा तकनीकी वस्तुओ की आपूर्ति व्यवस्था का सगठन तथा इजीनियरिंग विज्ञान का इस्तेमाल —ये चीजें उत्पादन की आधुनिक शक्तियो की सर्वाधिक बुनियादी विशेषतायें बन गयी हैं।

सामाजिक उत्पादन की काय दक्षता (efficiency) अनेक मानो म उसके गठन (structure) द्वारा—इस बात द्वारा तय होती है कि अथ व्यवस्था की विभिन्न शाखाओ के बीच का सतुलन कितना बुद्धि-सगत है और उद्यमो की स्थापना का स्थान कितना सही है।

उत्पादन के साधना—मुख्यतया श्रम के औजारा और दूसरी तमाम प्रौद्योगिक युक्तियां (devices)—तथा श्रम के सामाजिक सगठन—के ऐतिहासिक रूप से निर्धारित किये गये गठजोड़ (मेल) से ही समाज के भौतिक एवम् प्राविधिक

आधार (material and technical basis of society) का—अर्थात उत्पादन की शक्तियो के भौतिक अश का निमाण होता है। इसम अतीत काल म किया गया वह श्रम भी शामिल हाता है जिसके बिना जीवित पुरुषो और स्त्रियो का दैनं दिन नवीकत हाने वाला श्रम असम्भव हो जायगा।

समाज के भौतिक और प्राविधिक आधारो तथा भौतिक मूल्यो के उत्पादक स्वय मनुष्य के बीच एक अटूट एकता का होना समाज के सामा य ढग से काम करन क लिए निता त आवश्यक है—इन दोनो की एकता के बिना वह नही चल सकता। उत्पादन म प्रमुख भूमिका श्रम के औजार नही, बल्कि मनुष्य अदा करते है। उत्पादन के साधन मनुष्या के बिना मृत होते है। मार्क्स क कथनानुसार समाज की वास्तविक धन सम्पदा उस मात्रा से नही नापी जाती जिसमे वह भौतिक मूल्या का उत्पादन करता है, बल्कि वह नापी जाती है मनुष्या की आम सस्कृति तथा उनक श्रम कौशल (labour skill) के स्तर से, उनक ज्ञान तथा उनकी सजनात्मकता के स्तर से। मनुष्य और उसका श्रम ही पृथ्वी की असली सम्पदा है। श्रम के साधना को उत्पादन कार्य मे लगाया जा सके इसके लिए स्पष्ट तौर से यह आवश्यक होता है कि श्रम का, जीवित मानव श्रम को काम म लगाया जाय।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उत्पादन की शक्तिया वास्तव मे वे मनुष्य हैं जो उत्पादन का अनुभव तथा श्रम कौशल रखते हैं, तथा जो भौतिक वस्तुओ और उत्पादन के साधनों को (सर्वोपरि, श्रम के औजारों को) पैदा करते हैं।

उत्पादन की शक्तिया का मूल्यांकन मुख्य तौर से उनके प्रौद्योगिक स्तर के आधार पर, इजीनियरिंग के जो माप दण्ड वे प्रस्तुत करती हैं उनके आधार पर किया जाना चाहिए। मानवजाति ने युगा युगा से अपन व्यावहारिक अनुभव की सारी शक्ति को प्रौद्योगिकी का, प्रकृति का बदलन क साधना का, विकास करन क कार्य म, तथा वैज्ञानिक सस्कृति के एक निश्चित स्तर की स्थापना करने के प्रयास मे लगाया है।

प्रौद्योगिकी के अ तगत वे समस्त वस्तुएँ और प्रक्रियाएँ आ जाती हैं जि हें कुछ मुख्य भौतिक तथा रासायनिक गुणा से सम्पन्न होने के कारण, मानव समाज ने अपेक्षाकृत एक स्थिर स्वरूप तथा काय सौंप दिया है।

श्रम के औजारा क स्वरूप तथा कार्यो म मानव श्रम के वे तरीके शामिल होते हैं जो ऐतिहासिक रूप से विकसित हुए हैं। विशेष प्रकार के कलयत्रा का केवल कुछ निश्चित तरीका से ही श्रम के पात्र पर उपयोग किया जा सकता है हथौडा केवल ठोकने पीटन का ही काम कर सकता है, मछलिया के जाल का इस्तेमाल मछलिया को पकडने के काम के लिए ही किया जा सकता है, आदि।

किसी विशेष वस्तु के निर्माण के लिए आवश्यक उत्पादन के साधनों के उत्पादन मे लगे हुए श्रम को अतीत कालीन (past), अथवा भौतिकीकृत श्रम (materialized labour) कहते हैं। किसी वस्तु के निर्माण मे प्रत्यक्ष रूप से लगाये गये श्रम को जीवित श्रम (living labour) कहते हैं। इतिहास की प्रारम्भिक अवस्थाओ मे जीवित श्रम ही श्रम का सर्वप्रमुख रूप था। किन्तु अब, जब कि मनुष्य श्रम के अधिक से अधिक जटिल औजारो का अधिकाधिक मात्रा म इस्तेमाल कर रहा है उत्पादन की प्रत्येक इकाइ मे लगाये गये कुल श्रम का अधिकांश भाग आम तौर से भौतिकीकृत श्रम ही होता है। उत्पादन की क्रिया म जीवित श्रम के अश का घटता जाना प्रौद्योगिक विकास की एक नियम शासित प्रवृत्ति है जो कि श्रम की बदली हुई अन्तर्वस्तु (content) के रूप म व्यक्त होती है। श्रम के पात्र (objective of labour) पर मनुष्य के प्रत्यक्ष प्रभाव का स्थान अधिकाधिक मात्रा मे मशीनो के काम लेते जाते है। ये मशीनें विनियमन तथा समायोजन करने का काम भी करती है। तरह तरह की गणनाएँ करनी पडती हैं जिनमे अधिकाधिक समय लगता है, इसके फलस्वरूप उत्पादन की प्रत्यक्ष प्रक्रियाओ को वास्तविक रूप से पूरा करने के लिए समय कम रह जाता है। उत्पादन सम्बन्धी कार्य कुशलता तथा व्यक्तिगत 'प्रतिभा" का महत्व अब इतना नहीं बढ रहा है जितना कि व्यवस्थित वैज्ञानिक ज्ञान का। प्रौद्योगिक विकास का दूसरा परिणाम यह है कि सामूहिक काम की जगह अधिकाधिक मात्रा म वैयक्तिक काम लेता जा रहा है।

भौतिकीकृत ज्ञान (materialized knowledge), प्रयुक्त प्रौद्योगिकी (applied technology) विज्ञान की प्रगति मे जबदस्त भूमिका अदा करती है। और फिर विज्ञान की प्रगति से वह स्वय भी बहुत प्रभावित होती है।

'विद्युत शक्ति के बारे मे जो कुछ भी बुद्धि-सगत है उसे हमने तभी से जाना है जबसे प्राविधिक रूप से उसका इस्तेमाल होने लगा है।'*

उत्पादन की प्रक्रिया मे विज्ञान के प्रवेश की बात एक अत्यन्त पेचीदा बात है। ऐसा भी हुआ है कि प्रौद्योगिकी के क्षेत्र मे ज्ञान का इस्तेमाल करने म सदियाँ लग गयी हैं। उदाहरण के लिए, यह बात प्राचीन काल मे लोगो को ज्ञात थी कि भाप काम कर सकती है। इसे जानने के लिए इस चीज को देख लेना ही काफ़ी था कि—उबलता हुआ पानी बर्तन के ढक्कन को धक्का देकर गिरा देता है। किन्तु मशीनो को चलाने के लिए भाप का इस्तेमाल करने मे हजारो वर्ष

* कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, चुना हुआ पत्र व्यवहार, मास्को, १८६५ पृष्ठ ४६६ (रूसी संस्करण)—स०

लग गय। फिर भाप मे इजना का बनाने और उनको चलाने के दौरान जो प्रौद्योगिक अनुभव प्राप्त हुआ उससे उष्मागतिकी (ताप गति विज्ञान—thermodynamics) के विज्ञान का जन्म हुआ, अर्थात् और भी अधिक जानकारी हासिल हुई।

प्रौद्योगिकी के क्षेत्र म हुए हर नयी पद्धति के विकास म वैज्ञानिक अन्वेषणो तथा उन्नत तरीक़ो का किसी न किसी रूप म इस्तेमाल किया जाता है। नये पदार्थों (materials), नये कल-यन्त्रो (tools), सगठन के नय तरीको, इजीनियरिंग की नयी पद्धतिया के रूप म उत्पादन के क्षेत्र मे—तथा भौतिक मूल्या के असली उत्पादको की वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक सस्कृति के स्तर को ऊचा उठाने के सिलसिले मे—विज्ञान का जो इस्तेमाल किया जाता है उस सबसे प्रौद्योगिक क्रान्ति के लिए जमीन तैयार हो जाती है।

विज्ञान अब ऐसे पदार्थों की सृष्टि कर सकता है जिनके गुणो को पहले से ही तय कर लिया जाता है। आधुनिक रसायन विज्ञान उत्पादन के लिए ऐसी वस्तुओ का सुलभ कर रहा है जो प्रकृति म अज्ञात है और जो हजारो साल से मनुष्य क पास जो चीजें रही हैं उन सबसे कही अच्छी है। इजीनियरिंग के क्षेत्र का विज्ञान ने सेमी-कण्डक्टस (अर्द्ध सम्वाहक), अनब्रेकेबुल ग्लास (न टूटने वाला काच), ऐसे रजिन (रासायनिक रार) जो किसी पुल के अगो तक को जोड सकत हैं तथा कृत्रिम हीरे प्रदान किये है। और साइबरनेटिक (cybernetic) मशीनो द्वारा नियन्त्रित की जानवाली स्वचालित फक्ट्रिया को भी वैज्ञानिक प्रगति न ही आज सम्भव बना दिया है। अथ-व्यवस्था की सभी शाखाओ म विज्ञान क प्रयोग का लगातार बढाया जा रहा है। भूमि तथा पौधो और पशुओ के अन्दर जा प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं उनके रहस्यो म प्रवेश करके विज्ञान कृषि प्रौद्योगिकी के विकास का बढा व उन्नत कर रहा है। इजीनियरिंग के क्षेत्र मे महान आधुनिक नयी पद्धतियो के आविष्कार का आरम्भ आम तौर से शोध सम्बन्धी साधारण योजनाओ के रूप मे ही होता है। इस भाति, विज्ञान के निष्कर्षों पर आधारित आधुनिक उत्पादन की प्रक्रिया अधिकाधिक मात्रा म किसी प्रयोगशाला के विस्तारित शोध काय का स्वरूप ग्रहण करती जा रही है।

समाजवादी समाज मे समस्त प्रकृति विज्ञान (गणित, यान्त्रिकी, भौतिकी, रसायनशास्त्र आदि) उत्पादन की शक्तियो म शामिल कर लिये जाते हैं, और सामाजिक विज्ञान—राजनीतिक अथशास्त्र तथा प्रयुक्त समाजशास्त्र—उत्पादन प्रक्रिया का इस बात म मदद करते हैं कि भौतिक साधना तथा जन शक्ति का सर्वाधिक बुद्धि सगत ढग से उसमे किस तरह इस्तेमाल किया जाय, विकास की

सबसे अधिक लाभकारी दिशाओं को कैसे चुना जाय और श्रम तथा प्रबंधक संगठन कार्य को किन तरीकों से सर्वोचित ढंग से बेहतर बनाया जाय। इस सब के फलस्वरूप, राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था की प्रगति की गति असंदिग्ध रूप से बढ़ जाती है, और विज्ञान अधिकाधिक मात्रा में एक प्रत्यक्ष उत्पादक शक्ति का रूप ग्रहण कर लेता है और उत्पादन की प्रक्रिया स्वयं आधुनिक विज्ञान के प्रौद्योगिक प्रयोग की प्रक्रिया बन जाती है। विज्ञान और उत्पादन के सीधे सम्बन्ध को जनता के माध्यम से भी बनाये रखा जाता है विज्ञान मजदूरों के अनुभव के स्तर का प्रस्तुत करता है और उसे आज के प्राविधिक मानकों (technical standards) से समृद्ध बनाता है। और मजदूर खुद भी अपनी योग्यता को वैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यक मात्रा पर महारत हासिल करके ही बढ़ा सकते है।

समाज की उत्पादक शक्तियो के स्तर को श्रम की उत्पादिता (productivity) से, अर्थात, समय की प्रति इकाई मे पैदा किये गये माल की मात्रा से नापा जाता है। श्रम उत्पादिता प्राविधिक मानको, विज्ञान, विज्ञान और उत्पादन के बीच के सम्बन्धो, मजदूरो की कार्य कुशलता, तथा प्राकृतिक परिस्थितियो पर निर्भर करती है। भविष्य मे विज्ञान की वजह से यह सम्भव हो जायगा कि ताप—नाभिकीय अभिक्रियाओं (thermonuclear reactions) की असीम शक्ति को भी इस तरह नियंत्रित कर लिया जाय जिससे कि, आणविक शक्ति के असीमित स्रोतो के रूप में, शान्तिपूर्वक उसका इस्तेमाल मौसम की परिस्थितियों को बदलने, बीमारियों पर विजय प्राप्त करने तथा मानव जीवन की अवधि का विस्तार करने, जीवन की प्रक्रियाओं को नियंत्रित करने, आवश्यक गुणो से सम्पन्न मानव निर्मित पदार्थों की अगणित किस्मो की रचना करने, और ब्रह्माण्ड के अन्दर घुसकर उसके रहस्यो का उदघाटन करने के लिए किया जा सके। प्रौद्योगिक प्रगति का नया युग इलक्ट्रॉनिक्स (अणुप्राण विज्ञान), साइबरनेटिक्स तथा कम्प्यूटर (गणक) विज्ञान की उपलब्धियों के साथ जुड़ा हुआ है। इनकी वजह से स्वचालीकरण (automation) के और भी ऊँचे स्वरूपो की तरफ बढ़ा जा सकेगा— जिससे कि पूरी की पूरी कर्मशालाएं और फैक्ट्रियाँ स्वचालित बन जायेंगी। और इन सब चीजों से श्रम उत्पादिता में जबर्दस्त वृद्धि करने का भी आधार तैयार हो जायगा।

प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में होने वाली प्रगति के सामाजिक परिणाम पूंजीवादी समाज में दूसरे होते हैं और समाजवादी समाज में दूसरे। पूंजीवादी समाज व्यवस्था में स्वचालीकरण से भारी बेकारी बढ़ती है तथा उसके आर्थिक संकट और भी अधिक तीव्र हो जाते हैं। परन्तु, समाजवादी समाज में प्रौद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप काम करने की परिस्थितियाँ बेहतर बनती हैं, शारीरिक

और मानसिक श्रम का अन्तर धीरे धीरे मिट जाता है, और मजदूरो का भौतिक, प्रौद्योगिक तथा सास्कृतिक स्तर लगातार ऊँचा होता जाता है।

प्रौद्योगिक प्रगति उत्पादन की शक्तियो के विकास के लिए आधार तैयार करती है। किन्तु उत्पादन के लिए केवल प्रौद्योगिक प्रगति काफी नही होती—उसके लिए कुछ और भी चीजो की आवश्यकता होती है। मनुष्य ने ज्यो ज्यो प्रकृति का अधिक गहरा ज्ञान प्राप्त किया है त्यो ही त्यो उसके काम के चरित्र म तब्दीली होती गयी है और उसम तब्दीली होने की वजह से श्रम के औजारो मे, और उनके साथ साथ स्वय मनुष्य म भी—जो कि उत्पादन शक्तियो का प्रधान तत्व होता है— तब्दीलियाँ हो रही है। प्रौद्योगिकी मानव श्रम की उपज तथा उसका साधन—'मनुष्य की उत्पादक इन्द्रिया'—* होता है। प्रौद्योगिक उन्नति का मनुष्य जितना ही अधिक इस्तेमाल करता है, प्रकृति की व शक्तियाँ भी उतनी ही अधिक शक्तिशाली होती जाती हैं जिनपर उसका नियत्रण है। और इसी के अनुपात म मनुष्य की योग्यता तथा ज्ञान मे भी वद्धि होती जाती है।

प्रौद्योगिकी की प्रगति मनुष्य से अधिकाधिक ऊँची योग्यता की माग करती है। आधुनिक उत्पादन की विशेषता यह है कि श्रम के पात्र के साथ मनुष्य की अन्यान्य क्रिया (interaction) अधिकाधिक मात्रा मे अप्रत्यक्ष होती जाती है। इस चीज को उत्पादन मे शक्ति चालित मशीनो तथा सूचना और नियत्रण की युक्तियो के इस्तेमाल म हुए जबदस्त विस्तार मे भी देखा जा सकता है। स्वचालित यत्रो (कल पुतला) की ऊपरी तौर से युक्ति युक्त (logical) गतिविधियो का अब मानवो की सचेत गतिविधिया के साथ तालमल स्थापित किया जाता है। पुराने जमाने म श्रम के औजारो से मनुष्य के हाथो को अधिक शक्ति प्राप्त होती थी, किन्तु आधुनिक साइबरनटिक मशीनें मानवीय मस्तिष्क के काम को आगे बढाती है तथा उसे और अधिक शक्ति प्रदान करती हैं। बहुत से मानसिक काम जिन्ह कभी केवल मनुष्य ही पूरा कर सकता था अब अधिकाधिक मात्रा म मशीनो को सौपे जा रहे है। मानव श्रम का उपयोग अब सजनात्मक तथा विनियमन और नियत्रण के कामो के लिए ज्यादा किया जाता है। इसके फलस्वरूप, मनुष्य न केवल श्रम के पात्र से, बल्कि श्रम के साधनो से भी अलग और दूर होता जा रहा है। 'आत्म चालित—मानव' की एक अविभक्त व्यवस्था का निर्माण किया जा रहा है। मनुष्य श्रम के कर्ता का काम करता है और आत्म चालित मानव पुतला श्रम के औजार की भूमिका करता है। परन्तु श्रम का प्रयोजन, उसका सामाजिक अर्थ, तथा

---

* कार्ल मार्क्स, पूजी, खण्ड १, मास्को, १९६५, पृष्ठ ३७२।—स०

सामाजिक जीवन की आम व्यवस्था में उसका स्थान—ये सब चीजें अब भी मानव और समाज के द्वारा ही निर्धारित की जाती हैं।

उत्पादन की स्वचालन प्रणाली मनुष्य के सामने नये नये कार्य भार उपस्थित कर रही है तथा उसके अन्दर नयी नयी क्षमताएँ पैदा कर रही है। उत्पादन के श्रम में मानव मस्तिष्क में स्फूर्ति पैदा होती है और उसका विकास होता है तथा मानव का निरन्तर बढ़ता हुआ अधिकाधिक मात्रा में ज्ञान उत्पादन शक्तियों का एक सक्रिय अंग बनता जाता है। प्रौद्योगिक उन्नति मनुष्य की ही वजह से सम्भव होती है। प्रौद्योगिक आविष्कारों में मनुष्य की क्षमताओं, प्रतिभा तथा अनुभव का ही समावेश होता है। भौतिक उत्पादन जितना ही तरक्की करता है उतनी ही अधिक मात्रा में मानसिक गतिविधियों की भूमिका उसमें बढ़ती जाती है। बौद्धिक काम की बढ़ती हुई यह भूमिका प्रौद्योगिक प्रगति की रफ्तार को तेज कर रही है और, इसलिए, उत्पादन की शक्तियों के आगे विकास के लिए उसका अत्यधिक महत्व है।

परन्तु, पूँजीवादी दर्शन और पूँजीवादी समाजशास्त्र में प्रौद्योगिक उन्नति की वस्तुगत प्रक्रिया को सर्वथा उल्टे रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उसके अनुसार प्रौद्योगिकी का विकास स्वयं एक लक्ष्य बन गया है। उदाहरण के लिए, पूँजीवादी समाजशास्त्री एलुल (Elul) कहते हैं कि प्रौद्योगिकी मनुष्य से स्वतन्त्र एक नया चरित्र ग्रहण करती जा रही है। वह स्वयं अपने स्वतन्त्र नियमों पर चलना शुरू कर रही है। निस्सन्देह, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि सामाजिक जीवन के दूसरे क्षेत्रों की तरह, प्रौद्योगिकी भी सापेक्ष रूप से स्वतन्त्र है, किन्तु इस वजह से यह कहना कि वह मनुष्य से स्वतन्त्र होती जा रही है और मनुष्य उसका असहाय सेवक बनता जा रहा है—बिल्कुल गलत होगा। यह खयाल कि प्रौद्योगिकी की अब इतनी पूजा-अर्चना की जाने लगी है कि मनुष्य वस्तुओं की दुनिया और सभ्यता की प्रौद्योगिक शक्तियों का पूरे तौर से गुलाम बनता जा रहा है सर्वथा गलत और मूर्खतापूर्ण है। कुछ पूँजीवादी दार्शनिकों का कहना है कि किसी दुष्ट नाग देवता की तरह प्रौद्योगिकी भी अनिवार्य रूप से सम्पूर्ण मानवता को विनाश के गड्ढे में ले जायेगी, क्योंकि, वे फरमाते हैं वह इस समय भी मानवीय नियन्त्रण से बाहर निकलती जा रही है। इसमें कोई शक नहीं कि इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जो बतलाते हैं कि प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल लोगों को नुकसान पहुँचाने के लिए भी किया गया है। परन्तु इसकी दोषी प्रौद्योगिकी नहीं है, बल्कि वह पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था है, जिसमें उसका दुरुपयोग अनिवार्य हो जाता है।

प्रौद्योगशाही (technocracy) के कुछ प्रवक्ताओं (बर्नहम, एलसवर्थ,

आदि का ख्याल है कि चूंकि प्रौद्योगिकी सामाजिक प्रगति मे निर्णायक भूमिका अदा करती है, इसलिए प्रौद्योगिक बुद्धिजीवियो को, उन लोगो को ही जो मशीनो का आविष्कार करते हैं और उनको कन्ट्रोल करते हैं, समाज पर हुकूमत करनी चाहिए—अर्थात, कालान्तर मे, पूंजीवाद के स्थान पर "मैनेजरो" (प्रबन्धको) के एक समाज की स्थापना कर दी जानी चाहिए। किन्तु मार्क्सवाद लेनिनवाद इस विचार को एकदम असगत और प्रतिक्रियावादी मानता है और उसे अस्वीकार करता है। पूंजीवाद का उन्मूलन प्रौद्योगिक बुद्धिजीवी नही, बल्कि मजदूर एक सामाजिक क्रान्ति के द्वारा करेंगे।

सक्षेप मे उत्पादन की शक्तियाँ उन भौतिक सम्बन्धो को व्यक्त करती है जो समाज और प्रकृति के बीच उस समय होते है। इन सम्बन्धो के स्तर से इस बात का पता चलता है कि प्रकृति की शक्तियो पर किस हद तक मनुष्य का प्रभुत्व कायम हुआ है। इन सम्बन्धो का स्तर श्रम के औजारो, उत्पादन की शक्ति (power) पैदा करने की क्षमता, उत्पादन के सगठन और उसकी प्रौद्योगिकी, तथा विज्ञान की प्रगति और सफलता की उस मात्रा से निर्धारित होता है जो भौतिक मूल्यो के प्रत्यक्ष उत्पादक (direct producers) वैज्ञानिक विकास का इस्तेमाल करने के सम्बन्ध मे प्राप्त करते है।

उत्पादन प्रारम्भ से ही प्रकृति को बदलने के लिए किया जाने वाला मनुष्यो का सामूहिक प्रयास रहा है। वस्तुओ का उत्पादन करने के लिए मनुष्यो के लिए आवश्यक होता है कि आपस मे वे किसी प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करें—क्योकि केवल इन सम्बन्धो के माध्यम से ही प्रकृति के साथ वे अपना रिश्ता कायम कर सकते है और उत्पादन कर सकते है। इसी चीज पर दूसरी तरह से विचार किया जाय तो हम कह सकते हैं कि मनुष्य उत्पादन के जिन साधनो का इस्तेमाल करते है वही न केवल प्रकृति के साथ उनके सम्बन्धो को बल्कि उनके पारस्परिक सम्बन्धो को भी तै करते है। उत्पादन के सारे साधन किसी न किसी की सम्पत्ति होते हैं और मानवीय सम्बन्धो की गाँठ इसी सम्पत्ति के इर्द गिर्द जुड़ती—बँधती रहती है।

उत्पादन के साधनो के साथ मनुष्यो का सम्बन्ध ही उत्पादन के सम्बन्धो की सम्पूर्ण व्यवस्था का मूलाधार होता है। सामाजिक जीवन की आम व्यवस्था के अन्दर इस या उस सामाजिक समूह, या सामाजिक समुदाय की क्या स्थिति होती है—इस चीज का भी उत्पादन के साधनो के साथ मनुष्यो का यह सम्बन्ध ही निर्धारित करता है। विरोध पूर्ण वर्ग समाज मे कुछ समूहो का शासन होता है और अन्य लोग उनके अधीन होते है। कुछ उत्पादन के साधनो के स्वामी होते हैं और दूसरे उनसे वचित होते है। इस प्रकार शोषण पर आधारित व्यवस्थाओ

मे रहने वाले लोग अनेक वर्गों और दलो मे बँटे होते है। उनके अलग अलग दृष्टिकोण और अलग अलग स्वार्थ होते है। ये दृष्टिकोण और स्वार्थ उत्पादन के साधनो के साथ उनके सम्बन्धो पर निर्भर करते हैं। इसलिए, उत्पादन के सम्बन्धो का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू वे आर्थिक सम्बन्ध ही होते है जो विभिन्न वर्गों और सामाजिक समूहो के बीच होते हैं।

उत्पादन के समस्त सम्बन्धो का बुनियादी तत्व वे सम्बन्ध होते हैं जो उत्पादन की समस्त शाखाओ के मजदूरो के बीच कायम होते है। ये सम्बन्ध— जिनकी स्थापना ऐतिहासिक रूप से और श्रम के उस सामाजिक विभाजन के आधार पर हुई थी जो मानव समाज के विकास की अपेक्षाकृत प्रारम्भिक अवस्था मे ही पैदा हो गया था, अब सापेक्ष रूप मे स्वतन्त्र हो गये है। ज्यो ज्यो उत्पादन बढता गया त्यो त्यो श्रम का विभाजन भी गहरा होता गया और उसमे विभिन्नीकरण (differantiation) होता गया। अलग अलग विशेष व्यवसायो और पेशो के आधार पर उसकी अलग अलग शाखाएँ बन गयी। शहर और देहात तथा मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच का विरोध श्रम के विभाजन की ही अभिव्यक्ति है। श्रम विभाजन का समाज के विकास के लिए बहुत भारी महत्व था, लेकिन उसके विनाशकारी परिणाम भी कम नही हुए। श्रम विभाजन के फल स्वरूप दर्शन मे दिलचस्पी लेने कविता लिखने, सगीत की रचना करने, अथवा विज्ञान के क्षेत्र मे काम करने का अवसर बहुत ही कम लोगो के लिए रह गया था। विशाल जन समुदायो के लिए खून पसीना एक करके अपनी रोजी कमाने के अलावा और कोई रास्ता नही था। श्रम विभाजन ने न केवल व्यक्तियो के, बल्कि पूरे के पूरे सामाजिक वर्गों के भविष्य को अधकारपूर्ण बना दिया और उन्हे इस बात के लिए मजबूर कर दिया कि अपनी शारीरिक और आत्मिक क्षमताओ का वे केवल एकतरफा और सीमित विकास करें। उसने, जैसा कि मार्क्स ने कहा है "पेशागत विकलांग मूर्खता" (professional cretinism) पैदा कर दी थी। नगर सभ्यता के केन्द्र बन गये, किन्तु उनकी समृद्धि का आधार वह विशाल धन सम्पदा ही बनी रही जिसे देहातो मे रहने वाले विशाल जन समुदायो के क्रूर शोषण से पैदा किया जाता था। पूँजीवादी समाज व्यवस्था मे आज भी यही स्थिति पायी जाती है।

उत्पादन के सम्बन्धो के अतर्गत दोनो प्रकार के सम्बन्ध आ जाते हैं— वे सम्बन्ध जो परस्पर विरोधी अथवा भिन्न भिन्न वर्गों के बीच होते हैं और वे सम्बन्ध भी जो एक ही वर्ग के सदस्यो के बीच होते हैं। पूँजीपतियो के अपने वर्गीय साथियो के साथ सम्बन्ध उत्पादन के ऐसे सम्बन्ध होते हैं जो प्रतियोगिता के रूप मे व्यक्त होते हैं। मजदूरो के आपसी सम्बन्ध— जो कि उत्पादन

के ही सम्बन्ध होते है— भाई-चारे और पारस्परिक सहायता के सम्बन्ध होते है।

उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादित वस्तुओ के वितरण को भी प्रभावित करते हैं। कबीलाई समाज की प्राकृतिक अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत श्रम की पैदावारों का वितरण समानता के सिद्धान्तो के आधार पर होता था। परन्तु वर्ग विभक्त समाजो मे सामाजिक पैदावार का बहुत बडा हिस्सा शोषको की जेब मे चला जाता है और उत्पीडित जन समुदायो का उसका केवल नाममात्र का ही हिस्सा मिलता है।

उत्पादन के सम्बन्ध बुनियादी तौर से दो प्रकार के होते है अशत्रुतापूर्ण और शत्रुतापूर्ण। उत्पादन के अशत्रुतापूर्ण सम्बन्ध सहयोग तथा पारस्परिक सहायता पर आधारित होते हैं, और उत्पादन के शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध प्रभुता तथा परवशता की स्थितियो पर आधारित होते हैं। इन सम्बन्धो का स्वरूप उत्पादन के साधनो के स्वामित्व की व्यवस्था पर निर्भर करता है। सहयोग तथा पारस्परिक सहायता की व्यवस्था केवल तभी कायम हो सकती है जबकि सम्पत्ति सामाजिक हो। निजी सम्पत्ति की व्यवस्था समाज को शत्रुतापूर्ण वर्गों मे बाट कर प्रभुता और पराधीनता के सम्बन्धो की स्थापना करती है।

इतिहास मे निजी सम्पत्ति तीन प्रकार की हुई है दासो के मालिको की सम्पत्ति, सामन्ती सम्पत्ति, तथा पूजीवादी सम्पत्ति। समाजवादी सम्पत्ति भी दो किस्म की हुई है आदिम साम्यवादी सम्पत्ति और समाजवादी सम्पत्ति। इस तरह इतिहास मे बारी बारी से पाच किस्म के उत्पादन सम्बन्ध देखने को मिलते हैं आदिम साम्यवादी समाज के उत्पादन सम्बन्ध, दासो के स्वामित्व पर आधारित समाज के सम्बन्ध साम न्ती उत्पादन व्यवस्था के सम्बन्ध, पूजीवादी उत्पादन के सम्बन्ध और समाजवादी समाजो के उत्पादन सम्बन्ध। आदिम साम्यवादी समाज मे समाज के सभी सदस्य अपने को जिन्दा रखने के लिए मिल जुलकर जो कुछ हासिल करते थे उसे मिलकर ही खाते थे। युद्ध मे तथा कठिनाई के सभी क्षणो मे वे एक दूसरे की सहायता करते थे। उत्पादन के साधन पूरे समाज की सम्पत्ति होते थे। समाज के प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक उत्पादन मे समान स्थान होता था।

परन्तु दास प्रथा, सामन्ती व्यवस्था तथा पूजीवादी समाज मे लोगो के बीच बिल्कुल दूसरी ही तरह के सम्बन्ध थे। उनके सम्बन्ध प्रभुता और पराधीनता के सम्बन्ध थे (और है)। इस तरह के सम्बन्धो का आधार यह चीज है कि उत्पादन के साधनो के मालिक शोषक है और समाज के उत्पीडित सदस्यो के पास उत्पादन के कोई भी साधन नही है। समाजवादी समाज व्यवस्था मे समाज

के सदस्यों के बीच सहयोग और पारस्परिक सहायता के सम्बन्ध इसलिए कायम होते हैं कि उसमें उत्पादन के साधनों की मालिक सम्पूर्ण जनता होती है।

उत्पादन सम्बन्धों की दो बुनियादी किस्मों (शत्रुतापूर्ण और अशत्रुतापूर्ण) के साथ साथ उत्पादन सम्बन्धों के तथाकथित ऐसे सक्रमणात्मक रूप भी पैदा हो जाते हैं जिनके अन्तर्गत एक ही समाज व्यवस्था के चौखटे के अन्दर भिन्न भिन्न प्रकार के आर्थिक सम्बन्धों का मेल देखने को मिलता है। प्रत्येक नयी सामाजिक सरचना (social formation) में कुछ देर तक उस सरचना के आर्थिक सम्बन्ध भी मौजूद रहते हैं जो उसमें पहले कायम थी।

उत्पादन के सम्बन्ध ऐसे भौतिक सम्बन्ध होते हैं जो मानव चेतना और इच्छा से स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। और मनुष्यों के बीच उनकी स्थापना भौतिक वस्तुओं के उत्पादन क्रम में होती है।

उत्पादन के सम्बन्ध समाज के लोगों के बीच के बुनियादी सम्बन्ध होते हैं। इनके बिना दूसरे किसी भी प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध असम्भव होते हैं। जैसा कि मार्क्स ने कहा था, समाज के शरीर की रचना (anatomy) उसकी अर्थ व्यवस्था में शुरू होती है।

सक्षेप में उत्पादन के दो बुनियादी पहलू होते हैं—उत्पादन की शक्तियाँ और उत्पादन के सम्बन्ध। इन दोनों के मेल से एक अटूट सयुक्त इकाई का, भौतिक उत्पादन के एक ठोस ऐतिहासिक स्वरूप अथवा तरीके का निर्माण होता है। भौतिक उत्पादन का यही स्वरूप या तरीका फिर आत्मिक उत्पादन के रूप को भी निर्धारित करता है।

> "स्वय भौतिक उत्पादन के सम्बन्ध में यदि उसके विशिष्ट ऐतिहासिक स्वरूप के आधार पर नही विचार किया जाता तो इस चीज का समझना असम्भव होगा कि आत्मिक उत्पादन के क्षेत्र में उसके तदनुरूप कौन सा विशिष्ट चीज है और एक का दूसरे पर पारस्परिक रूप से क्या प्रभाव पडता है।"*

अब हम इस बात पर विचार करना चाहिए कि उत्पादन पद्धति (mode of production) के दोनों पहलू एक दूसरे पर किस प्रकार प्रभाव डालते हैं तथा उनकी यह अन्योन्य क्रिया सामाजिक इतिहास में क्या भूमिका अदा करती है।

उत्पादन शक्तियों तथा उत्पादन सम्बन्धों के बीच की अन्योन्य क्रिया

उत्पादन की शक्तियाँ और सम्बन्धों का अस्तित्व हमेशा से अन्तर्वस्तु

---

* कार्ल मार्क्स अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त खण्ड १, मास्को, १९६९ पृष्ठ २८५।—स०

(मूल तत्व) और रूप (content and form) की एक अटट एकता की शक्ल मे रहा है और उसी के अ दर उनका विकास हुआ है। जैसा कि हमने पहले ही बतलाया है, उत्पादन की शक्तिया के विभिन्न तत्व (अपनी उ पादन सम्बन्धी तथा प्रौद्योगिक दक्षताओ से सम्पन्न लाग और उत्पादन के साधन) उत्पादन की वास्तविक प्रक्रिया म एक निश्चित तरीके से एक दूसर के साथ मिलकर काम करने हैं। उत्पादन के सम्बन्धो का विशिष्ट स्वरूप इस तरीके से ही निर्धारित होता है।

'उत्पादन का सामाजिक स्वरूप चाहे जा हो, मजदूर और उत्पादन के साधन हमशा उसके उपादान (कारक) रहते हैं। एक दूसर से अलग रहने की दशा म इनमे से प्रत्यक घटक केवल सम्भाव्य रूप मे ही उत्पादन का कारक बना रह सकता है। अगर उत्पादन हाना है तो आवश्यक है कि व एक साथ मिलें। यह मल जिस विशिष्ट ढग स होना है वही समाज की सरचना के विभिन्न आर्थिक युगा को एक दूसरे स विशिष्ट बनाता है। *

उत्पादन का विकास सबस पहल उत्पादन की शक्तिया के क्षेत्र म हाता है। समाज के भौतिक जीवन का सबसे लचकीला तथा परिवर्तनीय तत्व वही हाती हैं। इसकी क्या वजह है ? इसकी वजह यह है कि मनुष्य को प्रत्यक दिन खान, पीने और कपडा पहनन की जरूरत होती ह। ये उसकी जरूरी आवश्यकताए होती हैं, और इन्हे पूरा करने के लिए नये नये भौतिक माला की लगातार सप्लाई की आवश्यकता होती है। और चूकि मनुष्यो की आवश्यकताएँ निरन्तर बढ़ती और विकसित होती रहती हैं, इसलिए आवश्यक होता है कि समाज न केवल उत्पादन का जारी रखे, बल्कि विस्तारित पुनरुत्पादन की भी व्यवस्था करे। उत्पादन की शक्तिया के विकास की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया ह जिसम अनेक तत्व पारस्परिक रूप स एक दूसरे को प्रभावित करत हैं। परन्तु इसका निर्धारण सबसे अधिक श्रम के औजारा क विकास और सुधार से होता है। श्रम के औजारो के विकास और सुधार का यह काम अपेक्षाकृत स्वतन्त्र रूप स चलता है। एक नये औजार का विकास आवश्यक कर देता है कि और दूसर औजार का विकास किया जाय। और उत्पादन की एक शाखा म अगर किसी नई प्रौद्योगिक प्रक्रिया का चालू किया जाता है ता हो सकता है कि उत्पादन की दूसरी शाखाओ का पुनर्गठित करना भी आवश्यक हा जाय। सूत जब यन्त्रा के द्वारा कतन लगा तो बुनन की व्यवस्था भी यन्त्रा के जरिए करनी पडी, आदि।

उत्पादन की शक्तिया म होने वाल परिवर्तनो क बाद उत्पादन क सम्बन्धा

* कार्ल मार्क्स, पूजी खण्ड २, मास्को, १९६७, पृष्ठ ३६ ३७।—स०

के सदस्यों के बीच सहयोग और पारस्परिक सहायता के सम्बन्ध इसलिए कायम होते हैं कि उसमें उत्पादन के साधनों की मालिक सम्पूर्ण जनता होती है।

उत्पादन सम्बन्धों की दो बुनियादी किस्मों (शत्रुतापूर्ण और अशत्रुतापूर्ण) के साथ साथ उत्पादन सम्बन्धों के तथाकथित ऐसे संक्रमणात्मक रूप भी पैदा हो जाते हैं जिनके अन्तर्गत एक ही समाज व्यवस्था के चौखटे के अन्दर भिन्न भिन्न प्रकार के आर्थिक सम्बन्धों का मेल देखने को मिलता है। प्रत्येक नयी सामाजिक संरचना (social formation) में कुछ देर तक उस संरचना के आर्थिक सम्बन्ध भी मौजूद रहते हैं जो उससे पहले कायम थी।

उत्पादन के सम्बन्ध ऐसे भौतिक सम्बन्ध होते हैं जो मानव चेतना और इच्छा से स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। और मनुष्यों के बीच उनकी स्थापना भौतिक वस्तुओं के उत्पादन क्रम में होती है।

उत्पादन के सम्बन्ध समाज के लोगों के बीच के बुनियादी सम्बन्ध होते हैं। इनके बिना दूसरे किसी भी प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध असम्भव होते हैं। जैसा कि मार्क्स ने कहा था समाज के शरीर की रचना (anatomy) उसकी अर्थ व्यवस्था से शुरू होती है।

संक्षेप में उत्पादन के दो बुनियादी पहलू होते हैं—उत्पादन की शक्तियाँ और उत्पादन के सम्बन्ध। इन दोनों के मेल से एक अटूट संयुक्त इकाई का, भौतिक उत्पादन के एक ठोस ऐतिहासिक स्वरूप अथवा तरीके का निर्माण होता है। भौतिक उत्पादन का यही स्वरूप या तरीका फिर आत्मिक उत्पादन के रूप को भी निर्धारित करता है।

> "स्वयं भौतिक उत्पादन के सम्बन्ध में यदि उसके विशिष्ट ऐतिहासिक स्वरूप के आधार पर नहीं विचार किया जाता तो इस चीज का समझना असम्भव होगा कि आत्मिक उत्पादन के क्षेत्र में उसके तदनुरूप कौन सी विशिष्ट चीज है और एक का दूसरे पर पारस्परिक रूप में क्या प्रभाव पड़ता है।" *

अब हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि उत्पादन पद्धति (mode of production) के दोनों पहलू एक दूसरे पर किस प्रकार प्रभाव डालते हैं तथा उनकी यह अन्योन्य क्रिया सामाजिक इतिहास में क्या भूमिका अदा करती है।

उत्पादन शक्तियों तथा उत्पादन सम्बन्धों के बीच की अन्योन्य क्रिया

उत्पादन की शक्तियों और सम्बन्धों का अस्तित्व हमेशा से अन्तर्वस्तु

---

* कार्ल मार्क्स अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त खण्ड १, मास्को, १९६९ पृष्ठ २८५।—सं०

(मूल तत्व) और रूप (content and form) की एक अटूट एकता की शक्ल मे रहा है और उसी के अन्दर उनका विकास हुआ है। जैसा कि हमने पहले ही बतलाया है, उत्पादन की शक्तियो के विभिन्न तत्व (अपनी उत्पादन सम्बन्धी तथा प्रौद्योगिक दक्षताओ से सम्पन्न लोग और उत्पादन के साधन) उत्पादन की वास्तविक प्रक्रिया मे एक निश्चित तरीके से एक दूसरे के साथ मिलकर काम करते है। उत्पादन के सम्बन्धो का विशिष्ट स्वरूप इस तरीके से ही निर्धारित होता है।

> 'उत्पादन का सामाजिक स्वरूप चाहे जो हो, मजदूर और उत्पादन के साधन हमेशा उसके उपादान (कारक) रहते है। एक दूसरे से अलग रहने की दशा मे इनमे से प्रत्येक घटक केवल सम्भाव्य रूप मे ही उत्पादन का कारक बना रह सकता है। अगर उत्पादन होना है तो आवश्यक है कि वे एक साथ मिलें। यह मेल जिस विशिष्ट ढग से होता है वही समाज की सरचना के विभिन्न आर्थिक युगो को एक दूसरे से विशिष्ट बनाता है।'*

उत्पादन का विकास सबसे पहले उत्पादन की शक्तियो के क्षेत्र मे होता है। समाज के भौतिक जीवन का सबसे लचकीला तथा परिवर्तनीय तत्व वही होती हैं। इसकी क्या वजह है? इसकी वजह यह है कि मनुष्य को प्रत्येक दिन खाने, पीने और कपडा पहनने की जरूरत होती है। ये उसकी जरूरी आवश्यकताएँ होती है, और इन्हे पूरा करने के लिए नये नये भौतिक मालो की लगातार सप्लाई की आवश्यकता होती है। और चूकि मनुष्यो की आवश्यकताएँ निरन्तर बढती और विकसित होती रहती हैं, इसलिए आवश्यक होता है कि समाज न केवल उत्पादन को जारी रखे, बल्कि विस्तारित पुनरुत्पादन की भी व्यवस्था करे। उत्पादन की शक्तियो के विकास की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है जिसमे अनेक तत्व पारस्परिक रूप से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। परन्तु इसका निर्धारण सबसे अधिक श्रम के औजारो के विकास और सुधार से होता है। श्रम के औजारो के विकास और सुधार का यह काम अपेक्षाकृत स्वतन्त्र रूप से चलता है। एक नये औजार का विकास आवश्यक कर देता है कि और दूसरे औजार का विकास किया जाय। और उत्पादन की एक शाखा मे अगर किसी नई प्रौद्योगिक प्रक्रिया को चालू किया जाता है तो हो सकता है कि उत्पादन की दूसरी शाखाओ का पुनर्गठित करना भी आवश्यक हो जाय। सूत जब यन्त्रो के द्वारा बनने लगा तो बुनने की व्यवस्था भी यन्त्रो के जरिए करनी पडी, आदि।

उत्पादन की शक्तियो मे होने वाले परिवर्तनो के बाद उत्पादन के सम्बन्धो

---

* कार्ल मार्क्स, पूजी, खण्ड २, मास्को १९६७, पृष्ठ ३६ ३७।—स०

में भी परिवर्तन हो जाते है। "इसलिए उत्पादक शक्तियाँ मानवों की व्यावहारिक क्रियाशीलता का परिणाम होती हैं, परन्तु यह क्रियाशीलता स्वयं उन परिस्थितियों द्वारा, जिनमें मनुष्य अपने को पाते है, (तथा) उन उत्पादक शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है जिन्हें उनसे भी पहले से मौजूद समाज के रूप में पहले ही प्राप्त कर लिया गया था ।" *

समाज की उत्पादक शक्तियाँ तो तेजी से बदल जाती है किन्तु सम्पत्ति के स्वरूप अत्यन्त स्थायी होते हैं वे शताब्दियों तक (जैसा कि सामन्ती और पूँजीवादी समाजों में देखने को मिला है) अथवा हजारों वर्ष तक (जैसा कि दास समाज में हमने देखा है) अथवा लाखों साल तक (जैसा कि आदिम साम्यवाद के काल में हुआ था) एक ही जैसे बने रह सकते है। परन्तु उत्पादन की शक्तियाँ इन कालों की सीमाओं के अन्दर ही काफी अधिक बदल जाती हैं। इसका नतीजा यह होता है कि उत्पादन की शक्तियों तथा उत्पादन के सम्बन्धों के विकास की गति असमान हो जाती है। इस असमानता (विषमता) का कारण क्या है ? इसका कारण यह है कि उत्पादन की शक्तियों के विकास में तो समाज के सभी अंगों की किसी न किसी प्रकार से दिलचस्पी होती है, किन्तु उत्पादन के सम्बन्धों का विकास करने में सब की दिलचस्पी नहीं होती। शोषित वर्ग तो बहुत चाहते हैं कि पुराने और जीर्ण हो गये उत्पादन के सम्बन्धों को बदल दिया जाय, किन्तु शासक वर्ग जी जान से इस बात की कोशिश करते हैं कि मौजूदा सम्बन्धों को ही बनाये रखा जाय। प्रतिक्रियावादी सामाजिक शक्तियाँ पुरानी सामाजिक व्यवस्थाओं की जी जान से हिमायत करती हैं और उत्पादन के उन सम्बन्धों को जिनकी उपयोगिता अब समाप्त हो गयी है, हर तरह से बचाने की कोशिश करती हैं। प्रतिक्रियावादी शक्तियों के प्रतिरोध को समाज की प्रगतिशील शक्तियाँ केवल क्रान्ति के ही द्वारा समाप्त कर सकती हैं।

निस्सन्देह, उत्पादन की शक्तियों और सम्बन्धों के असम विकास की भी एक सीमा होती है। उत्पादन के सम्बन्ध जब उत्पादन की शक्तियों से पीछे पड़ जाते है तब उनके बीच एक अन्तर्विरोध उत्पन्न हो जाता है जो समय के साथ साथ और तेज होता जाता है। अन्त में यह अन्तर्विरोध एक खुले संघर्ष का रूप ग्रहण कर लेता है। उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियों के विकास के मार्ग में एक ब्रेक, एक रोड़ा बन जाते हैं। आदिम साम्यवाद के काल के अन्त में ऐसा ही हुआ था। बाद में, दास प्रथा के काल के अन्त में और, उसके भी बाद,

---

* कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित रचनाएँ तीन खण्डों में, खण्ड १, मास्को, १९६६ पृष्ठ ५१८ ।-सं०

सामन्तवादी व्यवस्था क काल के अन्त मे भी ऐसा ही हुआ था। और आज पूजीवादी व्यवस्था की अत्यन्त शक्तिशाली उत्पादन शक्तिया तथा उत्पादन के साधना के स्वामित्व के इस पूजीवादी स्वरूप के बीच, जिसकी उपयोगिता बहुत पहल ही समाप्त हो चुकी है एक जबरदस्त सघर्ष चल रहा है।

उत्पादन क पुरान पड गये सम्बन्धा तथा उत्पादन की उन्नत शक्तिया के बीच के अन्तर्विरोध का पुरान और जीर्ण उत्पादन सम्बन्धो के स्थान पर ऐसे नय सम्बन्धा की स्थापना करक समाप्त किया जाता है जो उत्पादन शक्तिया क स्तर क अनुरूप होत हैं। शत्रुतापूर्ण वर्गों वाल इन समाजा के उत्पादन सम्बन्ध, जा निजी सम्पत्ति की व्यवस्था पर कायम होत हैं, निरन्तर विकसित होती हुई उत्पादन शक्तिया का साथ बहुत दिना तक नही दे सकते। ऐसा व उत्पादन की *नयी पद्धति की स्थापना की केवल प्रारम्भिक अवस्थाओ म ही कर सकत हैं।* किन्तु उत्पादन क नय सम्बन्ध जल्दी ही फिर उत्पादन की शक्तियो स पीछे पडने लगत हैं। इसक फलस्वरूप नयी उत्पादक शक्तिया और उत्पादन क पुराने सम्बन्धा के दरम्यान एक नय स्तर पर अन्तर्विरोध पैदा हो जाता है। यह अन्तर्विरोध फिर एक खुल सघर्ष का रूप ग्रहण कर लता है और तब इतिहास आगे की ओर एक और छलांग लगाता है।

इस प्रकार, उत्पादन की शक्तियो और सम्बन्धों के बीच एक नियम शासित सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए उत्पादन के समाजवादी सम्बन्धा से कम्युनिस्ट सम्बन्धा की ओर प्रगति करन के लिए पहल यह आवश्यक होगा कि उत्पादन की शक्तियो को एक अत्यन्त ऊँचे स्तर तक ल जाया जाय, अथात, कम्युनिज्म क लिए आवश्यक भौतिक तथा प्राविधिक आधार कायम कर लिया जाय और सर्वतोमुखी ढग म विकसित एक नय प्रकार का इसान तैयार कर लिया जाय। सक्षप म, उत्पादन के सम्बन्धो का विकास उत्पादन की **शक्तियों के स्तर से** निर्धारित होता है। उत्पादन की शक्तिया का विकास उत्पादन के पुरान पड गय सम्बन्धा के स्थान पर नये सम्बन्धा की स्थापना करन की ऐतिहासिक आवश्यकता उत्पन्न कर दता है। उत्पादन तथा सम्पूर्ण समाज का अगर सफलतापूर्वक उन्नति करना है, तो आवश्यक है कि उत्पादन के सम्बन्ध, उत्पादन क स्तर के अनुरूप हो, उसके साथ एकताल हो। यदि यह अनुरूपता मौजूद होती है तो उत्पादन क सम्बन्ध उत्पादन की शक्तिया क विकास को प्रोत्साहित करत हैं। किन्तु जहाँ भी यह अनुरूपता समाप्त हो जाती है वहाँ उत्पादन क सम्बन्ध उत्पादन की शक्तिया के विकास क माग म बाधक बन जात हैं ब्रेक का काम करन लगते हैं।

म भी परिवतन हो जाते है। "इसलिए उत्पादक शक्तिया मानवा की व्यावहारिक क्रियाशीलता का परिणाम होती हैं, परन्तु यह क्रियाशीलता स्वय उन परिस्थितिया द्वारा, जिनम मनुष्य अपने का पाते है, (तथा) उन उत्पादक शक्तियो द्वारा निर्धारित होती है जिन्हे उनसे भी पहले से मौजूद समाज के रूप म पहले ही प्राप्त कर लिया गया था "*

समाज की उत्पादक शक्तिया तो तेजी से बदल जाती हे किन्तु सम्पत्ति क स्वरूप अत्यन्त स्थायी होते ह व शताब्दियो तक (जैसा कि सामन्ती और पूजीवादी समाजो मे देखने का मिला है), अथवा हजारो वर्ष तक (जसा कि दास समाज म हमने देखा है), अथवा लाखो साल तक (जसा कि आदिम साम्यवाद के काल म हुआ था) एक ही जसे बने रह सकने है। परन्तु, उत्पादन की शक्तिया इन कालो की सीमाओ के अन्दर ही काफी अधिक बदल जाती हैं। इसका नतीजा यह होता है कि उत्पादन की शक्तिया तथा उत्पादन के सम्बन्धो क विकास की गति असमान हो जाती है। इस असमानता (विषमता) का कारण क्या है? इसका कारण यह है कि उत्पादन की शक्तियो के विकास म तो समाज के सभी अगो की किसी न किसी प्रकार से दिलचस्पी होती है, किन्तु उत्पादन क सम्बन्धो का विकास करने म सब की दिलचस्पी नहीं होती। शोषित वर्ग तो बहुत चाहते है कि पुराने और जीर्ण हो गये उत्पादन के सम्बन्धो का बदल दिया जाय, किन्तु शासक वर्ग जी जान से इस बात की कोशिश करते है कि मौजूदा सम्बन्धो को ही बनाये रखा जाय। प्रतिक्रियावादी सामाजिक शक्तिया पुरानी सामाजिक व्यवस्थाओ की जी जान स हिमायत करती है और उत्पादन के उन सम्बन्धो को जिनकी उपयोगिता अब समाप्त हो गयी है, हर तरह स बचाने की कोशिश करती है। प्रतिक्रियावादी शक्तियो के प्रतिरोध को समाज की प्रगतिशील शक्तियाँ केवल क्रान्ति के ही द्वारा समाप्त कर सकती है।

निस्सन्देह उत्पादन की शक्तियो और सम्बन्धो के असम विकास की भी एक सीमा होती है। उत्पादन के सम्बन्ध जब उत्पादन की शक्तियो मे पीछे पड जाते है तब उनके बीच एक अन्तर्विरोध उत्पन्न हो जाता है जो समय क साथ साथ और तेज होता जाता है। अन्त म यह अन्तर्विरोध एक खुले संघर्ष का रूप ग्रहण कर लेता है। उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियो क विकास के मार्ग मे एक ब्रेक, एक रोडा बन जाते है। आदिम साम्यवाद के काल के अन्त म ऐसा ही हुआ था। बाद म, दास प्रथा के काल क अन्त म और, उसके भी बाद,

---

* कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एगेल्स सकलित रचनाएँ, तीन खण्डो म, खण्ड १, मास्को, १९६९ पृष्ठ ५१८।-स०

सामन्तवादी व्यवस्था के काल के अन्त मे भी ऐसा ही हुआ था। और आज पूँजीवादी व्यवस्था की अत्यन्त शक्तिशाली उत्पादन शक्तियाँ तथा उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के उस पूँजीवादी स्वरूप के बीच, जिसकी उपयोगिता बहुत पहले ही समाप्त हो चुकी है, एक जबरदस्त संघर्ष चल रहा है।

उत्पादन के पुराने पड़ गये सम्बन्धों तथा उत्पादन की उन्नत शक्तियों के बीच के अन्तर्विरोध को पुराने और जीर्ण उत्पादन सम्बन्धों के स्थान पर ऐसे नये सम्बन्धों की स्थापना करके समाप्त किया जाता है जो उत्पादन शक्तियों के स्तर के अनुरूप होते हैं। शत्रुतापूर्ण वर्गों वाले इन समाजों के उत्पादन सम्बन्ध, जो निजी सम्पत्ति की व्यवस्था पर कायम होते है, निरन्तर विकसित होती हुई उत्पादन शक्तियों का साथ बहुत दिनों तक नही दे सकते। ऐसा वे उत्पादन की नयी पद्धति की स्थापना की केवल प्रारम्भिक अवस्थाओं मे ही कर सकते हैं। किन्तु उत्पादन के नये सम्बन्ध जल्दी ही फिर उत्पादन की शक्तियों से पीछे पड़ने लगते हैं। इसके फलस्वरूप, नयी उत्पादक शक्तियों और उत्पादन के पुराने सम्बन्धों के दरम्यान एक नये स्तर पर अन्तर्विरोध पैदा हो जाता है। यह अन्तर्विरोध फिर एक खुले संघर्ष का रूप ग्रहण कर लेता है और तब इतिहास आगे की ओर एक और छलांग लगाता है।

इस प्रकार, उत्पादन की शक्तियों और सम्बन्धों के बीच एक नियम शासित सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए उत्पादन के समाजवादी सम्बन्धों से कम्युनिस्ट सम्बन्धों की ओर प्रगति करने के लिए पहले यह आवश्यक होगा कि उत्पादन की शक्तियों को एक अत्यन्त ऊँचे स्तर तक ले जाया जाय, अर्थात, कम्युनिज्म के लिए आवश्यक भौतिक तथा प्राविधिक आधार कायम कर लिया जाय और सर्वतोमुखी ढंग से विकसित एक नये प्रकार का इन्सान तैयार कर लिया जाय। संक्षेप में, **उत्पादन के सम्बन्धों का विकास उत्पादन की शक्तियों के स्तर से निर्धारित होता है।** उत्पादन की शक्तियों का विकास उत्पादन के पुराने पड़ गये सम्बन्धों के स्थान पर नये सम्बन्धों की स्थापना करने की ऐतिहासिक आवश्यकता उत्पन्न कर देता है। उत्पादन तथा सम्पूर्ण समाज को अगर सफलतापूर्वक उन्नति करना है, तो आवश्यक है कि उत्पादन के सम्बन्ध, उत्पादन के स्तर के अनुरूप हों, उसके साथ एकताल हों। यदि यह अनुरूपता मौजूद होती है तो उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियों के विकास को प्रोत्साहित करते है। किन्तु जहाँ भी यह अनुरूपता समाप्त हो जाती है, वहाँ उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियों के विकास के मार्ग में बाधक बन जाते हैं, ब्रेक का काम करने लगते है।

उत्पादन के सम्बन्धों के स्वरूप का उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर के अनुरूप होना एक वस्तुगत नियम है।

अब प्रश्न यह उठता है कि उत्पादन की विशेष पद्धति के विकास को कौन तय करता है? उत्पादन के सम्बन्धों की उत्पादन की शक्तियों के साथ अनुरूपता और सदृश्यता, या उनके बीच का अन्तर्विरोध? **दोनों।** उनकी सादृश्यता उत्पादन की किसी विशिष्ट पद्धति के दायरे में तब तक समाज के विकास में सहायक होती है *जब तक कि उत्पादन के सम्बन्धों का चरित्र प्रगतिशील बना* रहता है। परन्तु, अन्ततोगत्वा, उनके बीच के अन्तर्विरोध का परिणाम यह होता है कि उत्पादन की एक पद्धति का स्थान दूसरी पद्धति ले लेती है।

उत्पादन के सम्बन्ध, उत्पादन की शक्तियों की प्रगति के साथ साथ बदलते जाने के साथ ही इस प्रगति को रोकने की भी कोशिश करते हैं। इन दोनों के बीच की अन्योन्य क्रिया रूप (form) और अन्तवस्तु (content) के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को व्यक्त करती है। उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियों को किस प्रकार और किस तन्त्र (mechanism) के द्वारा प्रभावित करते हैं? साधारण मेहनतकश जनता के अलावा कोई अन्य यन्त्र उनके पास नहीं है। मेहनतकश जनता ही उत्पादन का विकास करती है और अपने विशिष्ट हितों और अधिकारों को प्राप्त करने के प्रयास के दौरान उसको प्रभावित करती है। यदि कोई सामाजिक व्यवस्था मनुष्यों को इस बात के लिए प्रोत्साहित करती है कि वे प्रौद्योगिकी का सुधार करने के लिए काम करें, उत्पादन को संगठित करें, और यदि वह मजदूरों की कार्य कुशलता तथा उनके सांस्कृतिक और प्राविधिक स्तर को ऊँचा उठाती है तो वह व्यवस्था उत्पादन की शक्तियों के विकास को भी बढ़ावा देती है। परन्तु यदि वह मजदूरों को ऐसी स्थिति में डाल देती है जिसमें कि *उन्हें उत्पादन के विकास में कोई दिलचस्पी नहीं रह जाती*, तब वह उत्पादन की शक्तियों की प्रगति को रोकती है।

'अपने जीवन के लिए सामाजिक पैदावार के दौरान मनुष्य ऐसे निश्चित सम्बन्ध आपस में कायम करते हैं जो लाजिमी होते हैं और उनकी इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं। पैदावार के यह सम्बन्ध उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंजिल से मेल खाते हैं अपने विकास की एक मंजिल पर पहुँचकर, समाज की भौतिक उत्पादक शक्तियाँ उस समय के उत्पादन सम्बन्धों से टकराने लगती है अथवा—इसी चीज को कानूनी शब्दावली में यों कहा जा सकता है कि—*जब तक सम्पत्ति के जिन* सम्बन्धों के अन्तर्गत वे काम करती आयी थीं उनसे टकराने लगती हैं। उत्पादक शक्तियों के विकास के रूप (forms of development) न

रहकर ये सम्बन्ध उनकी बेडियाँ बन जाते हैं। तब सामाजिक क्रान्ति का युग शुरू होता है।"*

इस प्रकार, उत्पादन की शक्तियों और सम्बन्धों के बीच की अन्योन्य क्रिया का यह द्वन्द्ववाद उस क्रान्तिकारी सिद्धान्त के लिए वस्तुगत आधार तैयार कर देता है जो समाज के व्यावहारिक रूप से क्रान्तिकारी रूपान्तरण के लिए इतना आवश्यक है।

उत्पादन, उपभोग, आवश्यकताएँ और हित

आवश्यकता और हित की धारणाएं

व्यक्तियों, सामाजिक समुदायों तथा पूरे समाज की आवश्यकताओं का मतलब वस्तुओं तथा परिस्थितियों की वे जरूरतें होता है जो सामान्य ढंग से उनके काम करने और विकास के लिए अनिवार्य होती है। आवश्यकताओं की सृष्टि श्रम करता है और श्रम के ही द्वारा उनकी पूर्ति होती हैं। व्यक्तियों की आवश्यकताएँ उनके पालन पोषण के दौरान उस समय पैदा होती हैं जिस समय कि उनका परिचय उन सांस्कृतिक मूल्यों से कराया जाता है जिनकी मानव समाज ने अब तक सृष्टि की है। इसलिए, व्यक्तियों की ये आवश्यकताएँ एतिहासिक रूप से निर्धारित होती हैं। समाज की आवश्यकताओं की एक अत्यन्त जटिल तथा निरन्तर बढ़ती हुई व्यवस्था है। इन आवश्यकताओं को सामाजिक या सार्वजनिक, तथा व्यक्तिगत या निजी आवश्यकताओं के वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। सामाजिक आवश्यकताओं, पूरे समाज की आवश्यकताओं के अन्तर्गत उत्पादन के साधनों, मुद्रा के सचय तथा रक्षित निधियों, सशस्त्र सेनाओं के रख रखाव के लिए साधनों, प्रशासकीय यंत्र, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, शिक्षा, कलाओं, स्वास्थ्य सेवा, आदि, आदि की तमाम आवश्यकताएँ आ जाती हैं।

व्यक्तिगत आवश्यकताओं के अन्तर्गत केवल वे आवश्यकताएँ आती हैं जो एक विचारशील सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य के लिए सामान्य ढंग से काम तथा विकास करने के लिए जरूरी है। व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही आवश्यकताएँ दो प्रकार की होती हैं भौतिक और आत्मिक। ऐतिहासिक रूप से भौतिक आवश्यकताएँ प्राथमिक (या मूलभूत) होती हैं और आत्मिक गौण।

---

* कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, सकलित ग्रन्थावली, तीन खण्डों में, खण्ड १, मास्को, १९६९, पृष्ठ ५०३ ५०४।—स०

मनुष्य की आत्मिक आवश्यकताएँ उसकी भौतिक आवश्यकताओं की बुनियाद पर और उनको पूरा करने की प्रक्रिया के ही दौरान पैदा हुई है।

परन्तु समस्त मानवीय आवश्यकताओं को केवल सामाजिक साधनों में ही पूरा किया जा सकता है। मानवीय आवश्यकताएँ वस्तुगत सचाई है। अगर इस बात का निर्णय करने के लिए कि अर्थ व्यवस्था की विभिन्न शाखाओं तथा विज्ञान और संस्कृति का किस दिशा में विकसित किया जाना चाहिए सही फैसले किये जाने हैं तो एकदम आवश्यक है कि मनुष्यों की आवश्यकताओं का पता लगाया जाय और वैज्ञानिक ढंग से उनका सही सही मूल्यांकन किया जाय, लोगों को वास्तव में किन चीजों की जरूरत है और इन जरूरतों को पूरा करने का कौन-सा सबसे अच्छा तरीका हो सकता है—इसका अध्ययन किया जाय।

आवश्यकताएँ ऐसे प्रयोजनों के रूप में व्यक्त होती हैं जो सभी प्रकार की मानवीय क्रियाशीलता को प्रेरित करते हैं। भोजन, ठण्ड से बचाव, तथा सर के ऊपर एक छप्पर की आवश्यकता लोगों को इस बात के लिए विवश करती है कि श्रम के औजारों और तरीकों का सुधार करने के लिए वे देह और दिमाग की अपनी पूरी शक्ति लगायें।

समाज के जीवन में घटित होने वाली हर चीज जनता सामाजिक समुदायों तथा वर्गों की गतिविधियों के ही माध्यम से घटती है। जनता, सामाजिक समुदाय तथा ये वर्ग उत्पादन से पैदा होने वाली निश्चित आवश्यकताओं से ही प्रेरित होकर काम करते हैं। साथ ही साथ, उनकी ये आवश्यकताएँ समाज की और आगे प्रगति के लिए मानसिक प्रोत्साहनों का भी काम करती हैं। आवश्यकताओं को विशिष्ट सामाजिक समुदायों, वर्गों पार्टियों तथा व्यक्तियों की जिस हद तक स्वीकृति और समर्थन मिलते हैं उसी हद तक वे उनके हितों का स्वरूप ग्रहण कर लेती हैं। 'किसी समाज के आर्थिक सम्बन्ध सर्वप्रथम अपने को उसके हितों के रूप में प्रस्तुत करते हैं।'* सामाजिक राजनीतिक चिन्तन तथा सामाजिक राजनीतिक संस्थाओं के विकास की प्रक्रिया के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि विभिन्न वर्गों के भौतिक हितों की जाँच-पड़ताल की जाय—इसे लेनिन मार्क्सवादी तरीके का मूलभूत सिद्धान्त मानते थे।**

सामाजिक जीवन में जो कुछ भी कभी हुआ है, अथवा इस समय हो रहा

---

* कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित ग्रन्थावली, तीन खण्डों में, खण्ड २, मास्को १९६९ पृष्ठ ३६३।—स०

** देखिए वी०आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड २, पृष्ठ ४६३।—स०

है, वह किसी न किसी विशिष्ट हित की ही अभिव्यक्ति होता है। हित, एक प्रकार से, उस कमानी (स्प्रिंग) की कुंडलियों की तरह होते हैं जो समाज के यंत्र को आगे की ओर ढकेलती है। हित ही व्यक्तियों और सामाजिक वर्गों तथा सम्पूर्ण समाज की दिशा तथा उनके कार्यकलापों की अन्तर्वस्तु को निर्धारित करते हैं।

मानवजाति के समस्त सामाजिक समुदायों तथा वर्गों के बुनियादी हित, सबसे अधिक उनके भौतिक या आर्थिक हित ही होते हैं। अंतिम विश्लेषण में ये भौतिक या आर्थिक हित ही उनके राजनीतिक, कानूनी, नैतिक, धार्मिक, सौंदर्य सम्बन्धी, वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा दूसरे हितों को तै करते है। अपनी अभिव्यक्ति के उच्चतम रूप में ये सारे हित सम्बंधित वर्ग के सामाजिक आदर्शों के रूप में संयुक्त और सकेंद्रित होकर प्रकट होते हैं। किसी वर्ग विशेष के लिए अपने ऐतिहासिक लक्ष्य की चेतना प्राप्त करने के लिए जरूरी होता है कि पहले वह अपनी मूलभूत आवश्यकताओं और हितों की समझदारी प्राप्त कर ले और उन्हें एक राजनीतिक पार्टी के वैचारिक सिद्धान्तों तथा कार्यक्रम की माँगों के रूप में व्यक्त करे।

ऐतिहासिक प्रक्रिया में विभिन्न हितों का महत्व बदलता रहता है सामाजिक समुदायों अथवा वर्गों के हित व्यक्तियों के हितों से ऊपर होते हैं, और सम्पूर्ण मानव जाति के हित अलग अलग वर्गों के हितों से अधिक महत्व रखते हैं। लेनिन ने लिखा था,

> " मार्क्सवाद की बुनियादी धारणाओं के दृष्टिकोण से, सामाजिक विकास के हितों को सर्वहारा वर्ग के हितों से ऊँचा माना जाता है—पूरे मजदूर आन्दोलन के हित मजदूरों के किसी अलग भाग के, अथवा उनके आन्दोलन की अलग अलग अवस्थाओं के हितों से ऊपर होते है।"*

लेनिन ज़ोर देते हुए कहते थे कि किसी भी सामाजिक हित की अभिव्यक्ति का सर्वोच्च स्वरूप उत्पादन की शक्तियों के विकास में दिलचस्पी बनना होता है, उत्पादन की शक्तियों के विकास का स्तर ही मानव जाति की ऐतिहासिक प्रगति का माप होता है।

उत्पादन की उत्पत्ति और विकास का ऐतिहासिक महत्व इस साधारण सी चीज़ में है कि उससे मनुष्यों की सामाजिक तथा वैयक्तिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। मानव समाज का जबसे अस्तित्व हुआ है तबसे आज तक लोगों ने भौतिक मूल्यों का उत्पादन करना कभी बन्द नहीं किया। पृथ्वी पर उसके

---

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड ४, पृष्ठ २३६।–स०

प्रादुर्भाव के समय से ही मनुष्य को लगातार खाते पीते रहना पड़ा है। दसियो लाख वर्षों के अपने इतिहास में मानव की आवश्यकताओं को "एक दिन की भी छुट्टी" नहीं मिली। हर पूरी हो जाने वाली जरूरत ने एक नयी जरूरत पैदा कर दी है। नयी जरूरतों ने नयी वस्तुओं की माग की ओर, इसलिए, ऐसे नये औजारों की माग की जिनसे उन्हें पैदा किया जा सके, आदि। पशुओं से मनुष्य ठीक इसी बात में भिन्न और ऊँचा है कि उसके अन्दर अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाते जाने की असीम क्षमता है। उत्पादन की प्रगति नयी आवश्यकताओं को जन्म देती है और पुरानी आवश्यकताओं को बदल देती है, और फिर, विकसित होती हुई ये आवश्यकताएँ उत्पादन को बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन प्रदान करती है।

इस प्रकार, उत्पादन और उपभोग एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई दो ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जो एक दूसरे के बिना जीवित नहीं रह सकती, उत्पादन की प्रक्रिया स्वयं श्रम, कच्चे मालों तथा श्रम के औजारों के उपभोग की प्रक्रिया होती है, और उपभोग की क्रिया श्रम के—अर्थात् उत्पादन के मुख्य अभिकर्ता के—पुनरुत्पादन की प्रक्रिया होती है।

> "समाज में उत्पादन की प्रक्रिया का रूप कुछ भी हो यह आवश्यक है कि वह एक निरन्तर चलनेवाली प्रक्रिया हो, और एक निश्चित अवधि के अन्दर बार बार उन्हीं अवस्थाओं में से गुज़रे। जिस तरह कोई समाज उपभोग करना कभी बन्द नहीं कर सकता, उसी प्रकार वह उत्पादन करना भी कभी बन्द नहीं कर सकता। इसलिए, उत्पादन की प्रक्रिया पर यदि एक सम्बद्ध इकाई के रूप में और एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में विचार किया जाय जो हर बार नये सिरे से आरम्भ हो जाती है, तो उत्पादन की प्रत्येक सामाजिक प्रक्रिया साथ ही साथ पुनरुत्पादन की भी प्रक्रिया होती है।"*

पुनरुत्पादन इस बात को मानकर चलता है कि उपभोग—उत्पादक उपभोग, अर्थात् उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान होने वाले उत्पादन के साधनों के उपभोग, तथा लोगों द्वारा किये जाने वाले खाना, कपड़ा, जूता, आदि के व्यक्तिगत उपभोग में बँटा होता है।

इसलिए, उत्पादन और उपभोग के बीच की अन्योन्य क्रिया में उत्पादन ही प्रमुख भूमिका अदा करता है। उत्पादन उपभोग की सामग्रियाँ की सप्लाई करता है उपभोग के तरीके का निर्धारित करता है, और मानव आवश्यकताओं का जन्म देता है। आदिम काल के बर्बर आदमी की आवश्यकताएँ उसके समय के उत्पादन के निम्न स्तर द्वारा तय होती थी वह गोश्त के एक अधभुने

---

* कार्ल मार्क्स, पूँजी, खण्ड १, हिन्दी संस्करण, पृष्ठ ६३६।—स०

टुकडे, किसी जानवर की एक खाल, तथा एक गुफा से ही सतुष्ट हो जाता था। जैसे-जसे उत्पादन बढता है वसे ही वैसे जीवन स्तर भी ऊँचा होता जाता है। नयी नयी आवश्यकताएँ उत्पन्न होती जाती हैं। प्राचीन यूनानियो को जगली आदमियो के भोजन और कपडो से सतोष नही हो सकता था। उनके मकान कपडे तथा भोजन बिल्कुल दूसरी तरह के होते थे—यद्यपि, वर्गों म बँटे तमाम समाजो की तरह, प्राचीन यूनानियो के अन्दर भी एक सामाजिक वग और दूसरे सामाजिक वग के मकानो, कपडो और खाने म बहुत फक होता था। अलग अलग सामाजिक समुदायो के उपभोग के स्तरो मे भीषण अन्तर पदा हो सकता है। उदाहरण के लिए, हम देखते हैं कि एक समाज के अन्दर कुछ लोग तो भूखा मर रह हैं और गन्दी अधेरी कोठरियो मे रह रहे है और दूसरे लोग ऐशो-आराम की गोद मे सुख भोग रहे है तथा सुअरो की तरह अपन पेटो को ठूस ठूस कर भर रहे है।

उत्पादन और उपभोग की अन्योन्य क्रिया (एक दूसर पर प्रभाव डालने की क्रिया) का प्रश्न अत्यधिक व्यावहारिक महत्व रखता है, क्योंकि उपभोग के स्वरूप म परिवतन करके समाज को रूपान्तरित नही किया जा सकता। समाज को बदलन के लिए आवश्यक है कि पहले उत्पादन के स्वरूप को बदल दिया जाय। पूजीवादी समाज म चलने वाले भौतिक वस्तुओ के अनुचित वितरण के सम्बन्ध म आदमी जितना चाहे उतना रोष व्यक्त कर सकता है। लकिन अकेले ऐस नैतिक रोष से कुछ बन बिगड नही सकता। इस बात को कल्पनावादी समाजवादियो के उदाहरण से अच्छी तरह देखा जा चुका है। वे भौतिक वस्तुओ के मात्र उचित वितरण का ही सपना देखते थे। माक्सवाद न इस प्रश्न पर दूसरे छोर से विचार किया। उसने सिद्ध किया कि सबस पहले उत्पादन के तरीके को बदलना आवश्यक होता है। इसी सिद्धान्त को स्वीकार करके सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी न अपन देशवासियो के सामने कम्युनिज़्म के भौतिक तथा प्राविधिक आधार को तैयार करन का काम रखा है। उसी के आधार पर उपभोग के उच्चतर स्तर को सब लोगो क लिए सुलभ बनाया जा सकेगा।

सामाजिक आर्थिक सरचनाएँ

उत्पादन की शक्तियो और उत्पादन के सम्बन्धो के मेल से ही, एक तरह स, समाज का भौतिक पिंजर (या ढाचा) बनता है। समाज के इस ढाचे के अन्दर ही समाज के विचारधारात्मक सम्बन्ध तथा उनसे मल खाने वाली सस्थाएँ होती है। और, इनके तथा भिन्न भिन्न प्रकार के दूसरे तमाम सामाजिक सबधो के मल से समाज के जीवित, स्वचालित शरीर की रचना होती है।

निश्चित गुणों से सम्पन्न किसी समाज पर—जिसमें उसके समस्त पक्ष, उत्पादन की उसकी पद्धति, उसके अन्दर के परिवार तथा जीवन के दैनन्दिन के सम्बन्ध, उसके वैज्ञानिक विकास का स्तर, उसका सम्पूर्ण ऊपरी ढाँचा शामिल होते हैं—जब हम एक साथ तथा एक अविभक्त पूर्ण इकाई के रूप में विचार करते हैं तो उसे एक सामाजिक संरचना (social formation) कहा जाता है।

मार्क्स से पहले के पूँजीवादी समाजशास्त्री आम समाज के सम्बन्ध में केवल मात्र विचार करते थे। उनके विपरीत, मार्क्स ही वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने समाज के सम्बन्ध में ठोस ढंग से विचार किया था और सामाजिक संरचना की धारणा को पेश करते हुए कहा था कि मानव समाज का "ऐतिहासिक विकास की एक निश्चित अवस्था, विशिष्ट पृथक चरित्र रखने वाले एक समाज" के रूप में देखा जाना चाहिए।*

इसमें कोई शक नहीं कि इस बात को लोग मार्क्स से पहले से भी जानते थे कि मानवजाति विकास की कई अवस्थाओं से गुजर चुकी है, किन्तु एक समाज व्यवस्था की जगह दूसरी समाज व्यवस्था की स्थापना की प्रक्रिया को जो नियम सचालित करता है उसे मार्क्स ने ही खोजा था।

> "इतिहास तथा राजनीति से सम्बन्धित विचारों के क्षेत्र में पहले जो अराजकता और मनमानापन व्याप्त था उसके स्थान पर एक अद्भुत रूप से एकताबद्ध तथा समन्वयपूर्ण ऐसे वैज्ञानिक सिद्धान्त की स्थापना कर दी गयी थी जो बतलाता है कि, उत्पादक शक्तियों के विकास के फलस्वरूप, सामाजिक जीवन की एक व्यवस्था के गर्भ से किस प्रकार एक दूसरी तथा उच्चतर सामाजिक व्यवस्था पैदा हो जाती है—उदाहरण के लिए सामन्तवाद के गर्भ से पूँजीवाद कैसे पैदा हो जाता है।"**

सामाजिक संरचनाएँ सामाजिक इतिहास के विराट कालों का प्रतिनिधित्व करती हैं। प्रत्येक सामाजिक संरचना आर्थिक सामाजिक तथा विचारधारात्मक और आत्मिक सम्बन्धों के गुणात्मक रूप से निश्चित एक योग के कारण अपना एक विशिष्ट रूप रखती है, अर्थात, वह अपने ऐतिहासिक विकास की एक निश्चित अवस्था का पूरा समाज होती है।

पहली सामाजिक संरचना आदिम कम्युनिस्ट समाज की थी। उसकी जगह

---

* कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स संकलित ग्रन्थावली तीन खण्डों में खण्ड १, मास्को, १९६९ पृष्ठ ४९० ।—सं०

** वी० आई० लेनिन सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड १९ पृष्ठ २५ ।—सं०

दास प्रथा पर आधारित समाज ने ली थी। दास प्रथा पर आधारित समाज के स्थान पर फिर सामन्ती समाज की और, बाद म सामन्ती समाज की जगह पूजीवादी समाज की स्थापना हुई थी। कम्युनिज्म (साम्यवाद) सर्वोच्च सामाजिक सरचना होगी। उसकी पहली अवस्था समाजवाद है।

मार्क्स के बारे मे लिखते हुए लेनिन न कहा था, 'केवल उत्पादन सम्बन्धो के माध्यम से समाज की तत्कालीन सरचना के ढाचे की बनावट तथा उसके विकास की व्याख्या करते हुए भी, हर जगह और निरन्तर, इन उत्पादन सम्बन्धो के अनुरूप ऊपरी ढाचे की जांच पडताल उन्होने की थी और (समाज के) ककाल को मास और रक्त के आवरण से आवेष्ठित किया था।"*

पैदा हो जाने के बाद प्रत्येक सामाजिक सरचना स्वय अपने विशिष्ट नियमो के अनुसार चलती है। वह कायम रहती है और फिर अन्त मे एक उच्चतर सरचना मे रूपान्तरित हो जाती है।

विभिन्न ऐतिहासिक युग सामाजिक सरचना के विकास की मुख्य अवस्थाओ का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रत्येक युग अपने म सामाजिक घटना प्रवाह के उन सम्पूर्ण पक्षो को समेटे रहता है जो प्रत्येक सरचना के विकास की किसी एक निश्चित अवस्था की पहचान होते है। उदाहरण के लिए, हम "उभरते हुए पूजीवाद के युग" तथा "साम्राज्यवाद, अथवा मरणासन्न पूजीवाद के युग की बात करते हैं। युग की अवधारणा का प्रयोग एक व्यापक काल सूचक अर्थ म किया जाता है जिससे कि किसी युग के अन्दर साथ साथ मौजूद कई सामाजिक सरचनाए देखने को मिल जाती हैं। "आधुनिक युग" का प्रयोग टूटते हुए पूजीवाद और अक्तूबर क्रान्ति के बाद से उभरते हुए समाजवाद—दोनो को निर्दिष्ट करने के लिए किया जाता है। इस प्रकार, ऐतिहासिक युग की धारणा सामाजिक सरचना की धारणा स अधिक ठोस है। अमूर्त से मूर्त की तरफ—अर्थात समाज, सरचना, युग की स्थापना की तरफ प्रकृति की प्रगति म वह (एतिहासिक युग) अगली सीढी का काम करता है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद के उन शत्रुओं का पर्दाफाश करते समय, जो कहते थ कि ऐतिहासिक भौतिकवाद इतिहास को पूर्ण रूप स कई अलग अलग 'शुद्ध' भागो म साफ साफ तथा कृत्रिम रूप स बाँट देता है, लेनिन न अच्छी तरह यह सिद्ध कर दिया था कि एक सरचना के तत्व उस सरचना के तत्व से जो उसके बाद आती है द्वन्द्वात्मक रूप स जुडे होते हैं। " 'शुद्ध' घटना प्रवाह न कही होते हैं, न प्रकृति म, अथवा समाज म हो ही सकते हैं—मार्क्सीय द्वन्द्ववाद हमे

* वी० आइ० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड १, पृष्ठ १४१।—स०

यही सिखलाता है, क्योंकि द्वन्द्ववाद बतलाता है कि शुद्धता की धारणा ही मानवीय मज्ञान की एक प्रकार की ऐसी सकुचितता का, एक प्रकार के ऐसे एकतरफेपन का आभास देती है जिसके अन्दर किसी वस्तु को उसकी सम्पूर्ण पूर्णता और जटिलता के साथ हृदयगम नही किया जा सकता। ससार मे 'शुद्ध' पूजीवाद जैसी न कोई चीज है, न हो सकती है, हम हमेशा जो देखने को मिलता है वह या तो साम तवाद, अधकचरावाद, अथवा किसी और चीज की **मिलावट** होती है।"*

समाज के अध्ययन की तरफ ठोस एतिहासिक दष्टिकोण के अपनाये जाने से पूजीवादी सिद्धा तकारो के इस तरह के सुझाव भी ध्वस्त हो जाते है कि सामाजिक घटना प्रवाह अद्वितीय होते हैं और उनकी पुनरावत्ति नही की जा सकती।

"भौतिक सामाजिक सम्ब धो के विश्लेपण ने तुर त फिर इस बात को सम्भव बना दिया कि प्रतिवतन (बार बार घटन) तथा नियमितता की क्रियाओ को देखा जा सके और विभिन्न देशो की व्यवस्थाओ का सामा यीकरण करके उ हे **सामाजिक सरचना** की एक ही अविभक्त मूलभूत धारणा के रूप मे प्रस्तुत किया जा सके।"**

सामाजिक सरचना की धारणा ने इस चीज को सम्भव बना दिया है कि सामाजिक घटना प्रवाहो (तथा किसी आदश के दष्टिकोण से किये जाने वाले उनके मूल्याकन) का मात्र विवरण देने की बात से आगे बढकर सख्ती से उनका इस तरह वैज्ञानिक विश्लेपण किया जा सके जिससे कि, उदाहरण के लिए उस चीज को हम अलग कर लें जिसकी वजह से एक पूजीवादी देश दूसरे पूजीवादी देश से जुदा होता है और जिसे कि उन सब मे (समस्त पूजीवादी देशो मे—अनु०) समान रूप से पाया जाता है।"***

सामाजिक सरचनाओ के सिद्धा त की तह मे उस वस्तुगत नियम की मा यता होती है जो, उनके (उन सामाजिक सरचनाओ के) भौतिक तथा तदनुरूप पुनरुत्पादन सम्ब धी परिस्थितियो के आधार पर, सामाजिक जीवन के एक *स्वरूप के स्थान पर दूसरे स्वरूप की स्थापना की प्रक्रिया को निर्देशित* करता है। मार्क्स ने लिखा था,

'कोई भी सामाजिक व्यवस्था तब तक कभी नष्ट नही होती जब तक

---

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड २१, पष्ठ २३६।—स०

** वही खण्ड १, पष्ठ १४०।—स०

*** वही।—स०

कि वे तमाम उत्पादक शक्तियाँ जिनके लिए उसके अन्दर विकसित होने की गुंजाइश होती है विकसित नहीं हो चुकतीं, उत्पादन के नये, उच्चतर सम्बन्ध भी तब तक कभी पैदा नहीं होते जब तक कि उनके अस्तित्व के लिए आवश्यक भौतिक परिस्थितियाँ स्वयं पुराने समाज के गर्भ मे पककर तैयार नहीं हो जातीं।' *

विश्व इतिहास की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या का यही सार है।

'सामाजिक संरचना' की धारणा का मानव इतिहास की कालावधियों को लक्षित करने, तथा प्रत्येक कालावधि के अन्दर—उदाहरण के लिए पूंजीवाद से साम्यवाद तक की कालावधि के अन्दर—सामाजिक विकास की वस्तुगत, नियम-शासित आम प्रवृत्ति को इंगित करने के काम मे जबदस्त रीति शास्त्रीय (methodological) महत्व होता है।

बाद मे आने वाली प्रत्येक सामाजिक संरचना अपने पूर्व की सामाजिक संरचना से इस बात म भिन्न हाती है कि श्रम उत्पादिता का स्तर उसमे अधिक ऊँचा होता है। इस प्रकार, सामाजिक संरचनाओं का सिद्धान्त हम ऐतिहासिक प्रगति के मूल तत्व को समझने मे तथा उन प्रतिक्रियावादी पूंजीवादी अवधारणाओं का पर्दाफाश करने मे मदद देता है जो सामाजिक प्रगति की सम्भावना से इंकार करती हैं और मनुष्य के पतन तथा मानवजाति की अनिवार्य तथा सन्निकट मृत्यु के सम्बन्ध म निराशापूर्ण ढग से बकवास करती है।

* कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित रचनायें, तीन खण्डों में, खण्ड १, मास्को, १९६९, पृष्ठ ५०४।—सं०

अध्याय नौ

वर्ग और वर्ग सघर्ष

वर्गों की प्रकृति तथा उत्पत्ति

दास प्रथा के उदय क बाद स ही समाज एक दूसरे से बुनियादी तौर से भिन्न बडे बडे समूहा या वर्गों म बटा चला आया है। मुख्य वर्गों के—जसे कि दासा के स्वामी और दासा, साम ती प्रभुओ और किसानो पूजीपतिया और मजदूरो के—जीवन का ढग तथा उनके रहन सहन की परिस्थितिया बिल्कुल भिन्न होती ह उनके हित और लक्ष्य भिन्न होते है यहा तक कि उनके राजनीतिक विचार और नैतिक आदश भी भिन्न होते हैं। उनक कपडे, और आचार व्यवहार क तौर-तरीके भी भिन्न हाते हैं। सक्षेप म, उनकी सम्पूण मनावत्ति तथा भावनात्मक बनावट एक दूसरे मे सवथा भिन्न होती है। जो लोग महलो मे रहते है उनके सोचने का ढग उन लोगा मे भिन्न हाता है जा झोपडिया म रहते है।

समाज क शत्रुतापूण वर्गों मे इस विभाजन का आर्थिक आधार वह व्यवस्था है जिसम उत्पादन के साधनो पर निजी स्वामित्व होता है। इसी से पता चलता है कि क्यो कुछ वग हुकूमत करते है और क्या दूसरो पर हुकूमत की जाती है क्या कुछ लोग शोषक और दूसर लोग शोषित होत है। उत्पादन के साधनो के साथ किसी वग का सम्बध ही दोना चीजो का यानी उस ढग को जिससे उसे आमदनी हाती है तथा आमदनी की उस मात्रा को जा उसे प्राप्त होती है तै करता है। किसी वग की आर्थिक स्थिति सीधे सीधे उन गुणा और विशेषताओ के कुल योग के रूप मे प्रकट होती है, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है अर्थात उसके हिता, विचारो, नतिक मूल्या आदि क कुल योग क रूप मे। वर्गों के बीच मूलभूत फक वह फक होता है जो उत्पादन के साधना क साथ

उनके सम्बन्धो म होता है। उनके बीच के दूसरे तमाम फक गौण होते हैं और इसी मूलभूत या प्राथमिक फक स ही पैदा होते है।

समाज मे वर्ग-विभाजना की प्रकृति के सम्बन्ध मे इस समझदारी का सामाजिक स्तरीकरण (stratification) की अवैज्ञानिक पूजीवादी धारणा के साथ किसी प्रकार मेल नही हो सकता। 'स्तरीकरण" शब्द को भूगभ-शास्त्र (geology) से लिया गया है। भूगभ शास्त्र मे उसका मतलब पथ्वी की पपडी म बनन वाली तहा से होता है। स्तरीकरण के सिद्धान्तकार कहत है कि सामाजिक 'वग' की धारणा आज अप्रचलित (obsolete) हो गयी है और इसलिए उसकी जगह "स्तर" की धारणा को रख दिया जाना चाहिए। लोग किन स्तरो से सम्बन्ध रखते हैं—यह तै करने की कसौटी एकदम अस्पष्ट है। उदाहरण के लिए, इसका निणय लागो क पेशे के आधार पर किया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे किसी ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनी क निदेशक-मण्डल का अध्यक्ष तथा उसी उद्यम म काम करने वाला सफाया एक ही स्तर क लोग—अर्थात किराय पर रखे गये नौकरा के स्तर के आदमी मान जायेंगे। कभी कभी कहा जाता है कि स्तर का फैसला करन के लिए लोगा की मानसिकी (psycho logy) को कसौटी मान लिया जाय अर्थात, यह मान लिया जाय कि उनका सम्बन्ध उस वग से ह जिसे व खुद अपना मानते है और जिसके बारे म वे यह महसूस करते है कि उसी म उन्ह होना चाहिए। इस प्रकार वर्गों की परिभाषा बिल्कुल मनमाने ढग से कर दी जाती है, उनक आर्थिक आधार की या तो उपेक्षा कर दी जाती है, या उसे तोड मरोडकर पश किया जाता है।

लेनिन की परिभाषा के अनुसार, वग 'लोगो के ऐसे बडे-बडे समूह होते हैं जो सामाजिक उत्पादन की ऐतिहासिक रूप से निर्धारित व्यवस्था मे अपने अलग अलग स्थानो की वजह से, उत्पादन के साधनो के साथ अपन सम्बन्धो की वजह से (अधिकांशतया ये सम्बन्ध निश्चित तथा कानूनी तौर से सूत्रबद्ध होते है), श्रम क सामाजिक सगठन म अपनी अलग अलग भूमिका की वजह से, और इसलिए, सामाजिक धन सम्पदा मे अपने हिस्से के आकार और इस हिस्से को प्राप्त करन के तरीके की वजह से भी एक दूसरे भिन्न होते है।"*

अपने सामान्य वग हितो के आधार पर, तथा उन वर्गों के हितो के खिलाफ सघर्ष करते हुए जो उनका विरोध करते हैं व किसी खास वग के प्रतिनिधि वग के रूप म अपने को सगठित और सुदृढ बनाते हैं। इसमे मनोगत वाला कारक अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है कोई भी वग केवल

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड २९, पृष्ठ ४२१। —स०

संघर्ष के दौरान ही अपने हितों की चेतना प्राप्त कर सकता है और अपने वर्ग संगठनों का निर्माण कर सकता है।

ऐसा वर्ग जो पैदा तो हो गया है किन्तु जो अपने मूलभूत हितों के सम्बन्ध में अभी तक सचेत नहीं हुआ है अपने लिए काम नहीं कर सकता। जब उसे अपने हितों की चेतना प्राप्त हो जाती है और वह अपने को संगठित कर लेता है तब वह अपने वर्ग के लिए काम करने वाला वर्ग बन जाता है। तब उसके सर्वाधिक वर्ग चेतन तत्व एक होकर अपने वर्ग संगठन स्थापित करते हैं। पूंजीवाद के उदय के बाद से इन वर्ग संगठनों में विशेष रूप से महत्वपूर्ण राजनीतिक पार्टियाँ रही हैं। वर्ग शाश्वत नहीं हैं उनका उदय उत्पादन के शोषणात्मक तरीकों के आविर्भाव के साथ जुड़ी हुई एतिहासिक अनिवार्यता की वजह से होता है। उत्पादन के तरीके जब बदलते हैं तब वे भी नियम शासित नियमितता के साथ बदल जाते हैं। इसके अलावा भविष्य के कम्युनिस्ट समाज में, जबकि जनता के स्वामित्व की केवल एक ही अविभक्त समाज व्यवस्था होगी, वे अनिवार्य रूप से लुप्त हो जायेंगे।

वर्गों की उत्पत्ति समाज में श्रम विभाजन की उत्पत्ति तथा उसके विकास के साथ घनिष्ट रूप से जुड़ी हुई है। आदिम कबीलों के आम जन समुदायों के बीच से पशुओं को पालने वाले विशेषित कबीलों का जब उदय हुआ तभी श्रम का पहला महान सामाजिक विभाजन हुआ था। इस श्रम विभाजन के फलस्वरूप पशुओं को पालने वाले और भूमि को जोतने वाले लोगों के बीच विनिमय का आरम्भ हुआ। इस विनिमय से एक ओर सामाजिक धन सम्पदा में वृद्धि हुई और दूसरी ओर लोगों का वर्गों में भेदीकरण बढ़ा। श्रम का दूसरा बड़ा सामाजिक विभाजन तब हुआ जबकि अलग अलग दस्तकारियों का काम खेती के काम से अलग हो गया। इससे विनिमय के लिए तो परिस्थितियां अच्छी हुई, किन्तु लोगों की आर्थिक असमानता बढ़ गयी।

मानसिक श्रम के शारीरिक श्रम से अलग होने में श्रम का एक और विभाजन हो गया। मानसिक श्रम पर शासक वर्गों ने एकाधिकार कायम कर लिया। उत्पादन के प्रबन्धन देश की सरकार, धार्मिक पूजा पाठ, वैज्ञानिक पठन पाठन कलाओं, दर्शन, आदि से सम्बन्धित समस्त उच्च पदों पर शासक वर्गों ने अपना अधिकार कायम कर लिया और बहुसंख्या के विशाल बहुमत को शारीरिक श्रम करने के लिए छोड़ दिया। मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच का यह विरोध—जो कि शहर और देहात के बीच के फर्क के रूप में भी व्यक्त होता है तमाम वर्ग समाजों का प्रधान लक्षण होता है।

समाज की वर्गीय सरचना

समाज के मुख्य वग वे होते हैं जिन्हे उत्पादन का तत्कालीन तरीका जन्म देता है। वे वग ही उत्पादन के उस तरीके के वाहक होते है। दास प्रथा के अन्तगत मुख्य वग दासो और दासो के स्वामियो के थे। सामन्तवाद के अन्तगत सामन्ती प्रभुओ और किसानो के वग मुख्य वग थे। पूजीवाद के अन्तगत मुख्य वग पूजीपतियो और मजदूरो के है। किसी भी वग समाज मे मुख्य वग दो होते हैं—एक वह जो उत्पादन के साधनो का मालिक होता है और हुकूमत करता है, और दूसरा वह जिसके पास न सम्पत्ति होती है, न कोई सत्ता। शोषितो का विशाल जन समुदाय इसी दूसरे वग म होता है। इन दोनो वर्गो के बीच के सम्बन्ध हमेशा शत्रुतापूण होते है। वे शोषण के मुख्य स्वरूपो को व्यक्त करते हैं।

इतिहास मे शोषण का पहला स्वरूप दास प्रथा पर आधारित था। दास प्रथा के बाद सामन्ती गुलामी की प्रथा आयी थी। और फिर पूजीवादी समाज व्यवस्था के अन्तगत किराये पर काम करने वाले मजदूरो की व्यवस्था स्थापित हुई थी। इस भांति, दासता या गुलामी के तीन ऐतिहासिक स्वरूप देखने को मिलते हैं। इनम से प्रत्येक एक शत्रुतापूण सामाजिक सरचना के चरित्र को चित्रित करता है। दासता के इन स्वरूपो म फक केवल उनके अन्दर पाये जाने वाले शोषण के रूप तथा उस सामाजिक स्थिति के आधार पर होता है जो भौतिक वस्तुओ के वास्तविक उत्पादको की उनके अन्दर होती है।

किसी भी शोषक समाज के अन्दर मुख्य वर्गो के अलावा और भी वग होते हैं। उदाहरण के लिए, प्राचीन दुनिया मे, दासो के स्वामियो और दासो के अलावा, छोटे छोटे किसान और दस्तकार भी रहते थे। दासो का श्रम इनमे से अनेक को उनके कार्यों से वचित कर देता है और तब तबाह और बरबाद होकर वे आवारा तथा पतित समाज की तलछट बन जाते हैं। वे लुटेरो, चोरो, भिखारियो और वेश्याओ, आदि का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

"शुद्ध" पूजीवाद का अस्तित्व कही नही है। उदाहरण के लिए, पूजीपतियो और मजदूरो के साथ भूस्वामी भी पाये जाते हैं। यह सही है कि कुछ देशो म भूस्वामित्व की प्रथा का पूरे तौर से अन्त कर दिया गया है। दूसरे देशो म, उदाहरण के लिए, जमनी म, भूस्वामियो की जागीरो को धीरे धीरे पूजीवादी फार्मों का रूप दे दिया गया है और भूस्वामियो का वग खेतिहर पूजीपतियो के वग म रूपान्तरित हो गया है। ऐसे कम विकसित देशो म (जैसा कि जारशाही रूस था) जिनम सामन्तवाद के अवशेष बने रहते हैं भूस्वामी भी एक अलग वग के रूप म कायम रहते है। पराधीन देशो मे इस समय भी यह वग एक महत्वपूण शक्ति बना हुआ है।

पूंजीवादी समाज मे पाये जाने वाले गैर प्रमुख वर्गो म एक वग निम्न पूजीपति वग का, विशेष रूप से किसानो के वग का होता है। निम्न पूजीपति वग, निजी स्वामिया के एक वग के रूप म, पूजीपति वग मे सम्बधित होता है। कि तु इसे लोगो के एक वग के रूप मे जो स्वय अपनी मेहनत मशक्कत के सहारे जीवन यापन करते है और जिनका बडे पूजीपतियो द्वारा शोषण किया जाता है निम्न पूजीपतिया के इस वग का सम्ब ध मजदूर वग के साथ होता है। निम्न पूजीपति वग की यह दो मुखी स्थिति ही वग सघष के सम्बध म उसके हिचकिचाहट भरे तथा ढुलमुल दष्टिकोण को निधारित करती है। पूजीवाद के विकास क साथ साथ लाजिमी तौर से किसान वग छोटे दस्तकारा, तथा समाज के दूसरे निम्न पूजीवादी सदस्या का कई भिन्न भिन्न स्तरो मे विभेदीकरण होता गया। ऊपर का उनका एक छोटा सा हिस्सा पूजीपति बन गया और उनके विशाल हिस्से सवहारा, अद्ध सवहारा और आवारा मजदूरा की श्रेणिया म जा पहुँचे।

विकसित पूजीवादी देशो मैं इजारेदारिया और बैंकें किसानो के शोषण का बराबर बढाती जा रही है। एकाधिकारी पूजीवाद के राजकीय एकाधिकारी पूजीवाद (state monopoly capitalism) म परिवर्तित हो जाने के फलस्वरूप, समाज के उच्च वग क मुट्ठी भर लोगा के हाथ मे सारी धन सम्पदा सकेद्रित हो गयी है।

पिछली कुछ दशाब्दियो म हमने देखा है कि पूजीपति वग क सदस्या की सख्या म कमी हो गयी है, कि तु उनकी धन सम्पदा तथा सत्ता म जबदस्त वद्धि हो गयी है। पूजीपति वग न अपने अन्दर स इजारेदारा का एक ऐसा उच्च वग पदा कर दिया है जिसके हित न केवल मजदूर वग क हितो के खिलाफ पडते हैं, बल्कि मझोल और छोटे पूजीपतिया के कुछ हिस्सो के भी खिलाफ हैं। किसान, दस्तकार, कारीगर, छोटे दूकानदार, आदि लगातार दीवालिया होते जाते हैं। इस प्रक्रिया क फलस्वरूप मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरा तथा वतनधारी कमचारिया की सख्या बढती जा रही है। इजीनियरो, टेक्नीशियना, सेल्समैना (विक्रेताओ) का पूजीवादी समाज शास्त्री एक विशेष श्रेणी म रखकर "नय मध्यम वग' का नाम दते है। किन्तु आधुनिक पूजीवादी विकास वास्तव म समाज क इन अगा का अधिकाधिक मात्रा म मजदूर वग का अग बनाता जा रहा है। मजदूरी पर काम करने वाल मजदूरा के दरम्यान दफ्तर क कमचारियों, इजीनियरा तथा टक्नीशियना की प्रतिशतता भी बढती जा रही है।

सामाजिक वर्ग तथा राजनीतिक पार्टियाँ

राजनीतिक पार्टी अपने वर्ग का उन्नत, हिरावल दस्ता होती है। किसी पार्टी का उसके वर्ग के साथ सम्बन्ध पूरे के साथ उसके अंश के सम्बन्ध के समान होता है। अपने हितों की रक्षा प्रत्येक वर्ग अपनी सत्ता की स्थापना की कोशिश करके करता है। इस उद्देश्य के लिए वह अपनी एक ऐसी पार्टी बनाता है जिसका काम होता है कि उसके वर्ग संघर्ष को इस तरह चलाये जिससे कि वह पूरे समाज का नेता बन जाय। परन्तु राजनीतिक पार्टियां वर्ग संघर्ष की एक अत्यन्त उन्नत अवस्था में ही पैदा होती हैं। लेनिन ने लिखा है कि,

'एक ऐसे समाज में जो वर्ग विभाजन पर आधारित है, यह अनिवार्य है कि शत्रुतापूर्ण वर्गों के बीच का संघर्ष अपने विकास की एक खास अवस्था में पहुँचकर एक राजनीतिक संघर्ष का रूप ले ले। वर्गों के राजनीतिक संघर्ष की सबसे अधिक सादृश्य, सबसे अधिक व्यापक तथा विशिष्ट अभिव्यक्ति पार्टियों के बीच होने वाले संघर्ष के रूप में होती है।"*

पूंजीपति वर्ग के पक्षपोषक पूंजीवादी राजनीतिक पार्टियों को वर्गों से ऊपर रहने वाली ऐसी राष्ट्रीय संस्थाओं के रूप में पेश करने की कोशिश करते हैं जो समाज के विरोधी वर्गों के हितों के बीच समन्वय स्थापित करने का काम करती हैं। वे कहते हैं कि इस या उस पार्टी के प्रति वफादारी रखने का वर्ग से कोई सम्बन्ध नहीं होता, पार्टियों का आधार तो परम्परागत, सामाजिक, पारिवारिक, अथवा धार्मिक होता है। इस दृष्टिकोण के समर्थन में वे कहते हैं कि देखिए, पूंजीवादी समाज में तो बहु पार्टी व्यवस्था होती है। लेकिन जो कोई थोड़ी-बहुत भी राजनीति समझता है वह, उदाहरण के लिए, इस बात को जानता है कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका की दोनों प्रमुख पार्टियों—डेमोक्रेटों और रिपब्लिकनों के बीच कोई बुनियादी फर्क नहीं है। वह यह भी जानता है कि ऐसा इसलिए नहीं है कि ये दोनों पार्टियाँ एक ही प्रकार के धार्मिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक, पारिवारिक अथवा अन्य प्रकार की परम्पराओं पर आधारित हैं, बल्कि इसलिए है कि अपनी विचारधारा और नीतियों के द्वारा ये दोनों पार्टियाँ एक ही वर्ग के, शासक वर्ग के, पूंजीपति वर्ग के हितों की, एकाधिकारी पूंजी के हितों की हिमायत करती हैं। अमरीका की द्वि पार्टी प्रणाली पूंजीवादी राजसत्ता के वर्ग चरित्र को छिपाने का मात्र एक पर्दा है। जैसा कि मार्क्स ने बहुत ही सही सही कहा था, पूंजीपति वर्ग को

---

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड १०, पृष्ठ ७६।—सं०

है। पूंजीवादी देशों में मज़दूर वर्ग का आंदोलन बढ़ता है तो, अन्ततः, उसके फल-स्वरूप, मज़दूर वर्ग की अनेक पार्टियाँ कायम होती हैं। ये पार्टियां अलग-अलग ढंग से मज़दूर वर्ग के आर्थिक, राजनीतिक तथा विचारधारात्मक हितों की अभिव्यक्ति करती हैं। इस भिन्नता की वजह यह है कि पूंजीवादी विकास क्रम में, मज़दूर वर्ग की पाँतों में दूसरे वर्गों से, मुख्यतः देहातों और शहरों के निम्न-पूंजीवादी वर्गों से, निरन्तर लोग आते और शामिल होते रहते हैं। इसके अलावा, पूंजीपति वर्ग अपने एकाधिकारी मुनाफ़ा के एक भाग का, पराधीन देशों की अपनी औपनिवेशिक लूट खसोट के एक भाग का इस्तेमाल मज़दूर वर्ग के एक हिस्से को खरीद लेने और मज़दूरों के अन्दर एक "अभिजात वर्ग" पैदा करने के लिए करता है। फिर मज़दूर वर्ग के आंदोलन के अन्दर अवसरवाद तथा अन्य भटकावों को बढ़ावा देने के लिए मज़दूरों के इस 'अभिजात वर्ग' का इस्तेमाल किया जाता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में जो सामाजिक जनवादी (सोशल डेमोक्रेटिक) पार्टियाँ मज़दूर आंदोलन का नेतृत्व करती थीं वे पूंजीवाद पर हमला करने के काम में अक्षम सिद्ध हुई थीं। उनके अवसरवादी नेताओं की कृपा से, जिन्होंने सर्वहारा वर्ग के हितों के साथ विश्वासघात करने तथा पूंजीपति वर्ग के साथ सहयोग करने का रास्ता अपनाया था, इन पार्टियों की जुझारू शक्ति शून्य और लकवाग्रस्त हो गयी थी। इस प्रकार इतिहास ने स्वयं एक नये प्रकार की पार्टियों के निर्माण के कार्य को सामने प्रस्तुत कर दिया था। लेनिन ही वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस तरह की पार्टी की रूस में स्थापना की थी। उनके द्वारा बनायी गयी पार्टी ने मज़दूर वर्ग के हिरावल दस्ते की तरह काम किया और उसके बुनियादी हितों तथा उनके क्रांतिकारी सारतत्व को वाणी प्रदान की। लेनिन ने मज़दूर वर्ग को सिखलाया कि अपने संघर्ष में वह केवल तभी सफल हो सकेगा जबकि उसका नेतृत्व एक मार्क्सवादी पार्टी के हाथ में होगा। इस बात को समझाते हुए कि मज़दूर वर्ग की एक सच्ची पार्टी की स्थापना करना एक ऐतिहासिक अनिवार्यता है, उन्होंने लिखा था :

"हमें क्रांतिकारियों का एक संगठन दे दो, और फिर देखो कि हम रूस को कैसे बदल देते हैं!"*

लेनिन द्वारा बनायी गयी नये प्रकार की पार्टी ने पुराने ज़ारशाही रूस को

---

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड ५, पृष्ठ ४६७।—सं०

बदल दिया, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से पिछड़े एक देश को उसने एक शक्तिशाली और खुशहाल समाजवादी राष्ट्र में बदल दिया।

नाना प्रकार के अवसरवादियों के विरुद्ध अपने लम्बे और कठिन संघर्ष के दौरान लेनिन तथा बाल्शेविकों ने पार्टी के सर्वहारावर्गीय चरित्र की डटकर रक्षा की थी और टूटकर अनेक निम्न पूंजीवादी गुटों और प्रवृत्तियों का पतित रूप ग्रहण करने से उसे उन्होंने बचाया था। बाल्शेविक पार्टी के लक्ष्य वही थे जो तमाम उत्पीड़ित लोगों के लक्ष्य थे। प्रारम्भ में ही वह जनता की सच्ची पार्टी थी। इस पार्टी के नेतृत्व में चलकर और किसानों को अपने साथ लेकर मजदूर वर्ग ने जारशाही के तख्ते को उलट दिया और रूस में पूंजीवादी जनवादी क्रांति को पूरा किया। यह क्रान्ति ज्यों ज्यों आगे बढ़ती गयी त्यों ही त्यों तमाम पूंजीवादी और निम्न पूंजीवादी पार्टियां जनता में एकदम कटती गयीं और राजनीतिक रूप से दिवालिया बन गयीं। बाल्शेविक पार्टी ही रूस की एकमात्र ऐसी पार्टी साबित हुई जिसने समाजवाद के लिए मजदूर वर्ग के संघर्ष को भूमि के लिए किसानों के संघर्ष के साथ, रूस की उत्पीड़ित कौमों के राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष के साथ, तथा पूरे राष्ट्र के शांति आन्दोलन के साथ जोड़ा और इन सारे संघर्षों को एक ऐसी अविभक्त क्रांतिकारी धारा का रूप दे दिया जिसका एकमात्र उद्देश्य पूंजीपति वर्ग की अस्थायी सरकार को उलटकर उसके स्थान पर सोवियत सत्ता की स्थापना करना था।

समाजवादी क्रांति की विजय के बाद बोल्शेविक पार्टी रूस की शासक पार्टी बन गयी। पूंजीवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण के काल में देश के सम्पूर्ण राष्ट्रीय, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन का समाजवादी ढंग से पुनर्निर्माण करने, सोवियत समाज की सामाजिक राजनीतिक तथा विचार-धारात्मक एकता को मजबूत करने, तथा सोवियत राजसत्ता के सामाजिक आधार को सुदृढ़ एवम् व्यापक बनाने के काम में पार्टी ने नेतृत्व प्रदान किया। कम्युनिज्म का निर्माण करने का काम—जो कि मजदूर वर्ग का ऐतिहासिक लक्ष्य है—सम्पूर्ण सोवियत जनता का काम बन गया। सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के सामाजिक आधार में भी परिवर्तन हुआ, मजदूर वर्ग की पार्टी से बदल कर वह सम्पूर्ण जनता की पार्टी बन गयी और उसकी राष्ट्रीय और अन्तर-राष्ट्रीय नीतियां अब सम्पूर्ण राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं।

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी सोवियत जनता का एक ऐसा जुझारू तथा तपा हुआ हिरावल दस्ता है जिसने सोवियत संघ के सर्वाधिक आगे बढ़े हुए तथा वर्ग चेतन मजदूरों, सामूहिक फार्मों के किसानों तथा बुद्धिजीवियों को, उनकी स्वेच्छा के आधार पर एक साथ जोड़ दिया है।

पार्टी की विराट सजनात्मक शक्ति का स्रोत इस बात म निहित है कि अपने समस्त काय कलाप म वह जनता के मूलभूत हितो से निर्देशित होती है, वह करोडा लागो की इच्छा-आकाक्षाओ तथा उनके प्रयासा की अभिव्यक्ति करती है, तथा वह वैज्ञानिक कम्युनिज्म के सिद्धात पर, मार्क्सवाद लेनिनवाद पर आधारित है।

महान लेनिन द्वारा स्थापित की गयी कम्युनिस्ट पार्टी ने हमारे देश के जनगण का नेतृत्व करके समाजवाद को विजयी बनाया है और अब वह विशाल पैमाने पर चल रहे कम्युनिज्म के निर्माण काय का नेतृत्व कर रही है। व्यापक पमाने पर किय जा रहे कम्युनिस्ट निर्माण के इस काय की खास विशेषता यह है कि उसमे सोवियत समाज की नतृत्वकारी और निर्देशक शक्ति के रूप म सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका तथा महत्व मे निरन्तर तथा नियम शासित ढग स वद्धि होती जा रही है। नये समाज क निर्माण से सम्बधित कायभार जितन ही भव्य हाते है पार्टी की सगठनात्मक भूमिका का महत्व उनम उतना ही अधिक बढता जाता है। अपन क्रातिकारी काय तथा विचारो के माध्यम से कम्युनिस्ट पार्टी विश्व इतिहास क सम्पूर्ण क्रम को भी अत्यन्त शक्तिशाली ढग म प्रभावित कर रही है। वास्तव म, आज की दुनिया की वह सर्वाधिक महत्वपूण राजनीतिक शक्ति बन गयी है।

समाजवादी देशा तथा सारे ससार क कम्युनिस्ट आन्दोलन की एकता को मजबूत बनान के लिए सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी हर वह काम कर रही है जा आवश्यक है। तमाम बिरादराना कम्युनिस्ट और मजदूर पार्टियो के साथ उसक सम्बन्ध सच्चे माना म लनिनवादी हैं। लेनिन की मत्यु के बाद से सावियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी कभी भी इतनी मजबूत नही रही जितनी वह आज है। आज वह जटिल से जटिल सद्धान्तिक और व्यावहारिक समस्याओ को हल करन की क्षमता रखती है।

दूसरी बिरादराना पार्टिया के साथ साथ सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी न सिद्धातो क क्षत्र म अत्यन्त महत्वपूर्ण खाज की है तथा आधुनिक सामाजिक विकास से सम्बन्धित सामयिक पश्ना क सम्बन्ध म नय सद्धान्तिक उसूल निर्धारित करके उनका विकास किया है। मार्क्सवाद लनिनवाद क इतिहास मे पहली बार दुनिया के मुक्ति सघष की मुख्य मजिलो को सामन्तवादी, उपनिवशवादी तथा पूजीवादी उत्पीडन के उन्मूलन स लेकर कम्युनिस्ट समाज क निर्माण तक की मजिलो का—ठोस ढग से उसन स्पष्ट और परिभाषित किया है। आधुनिक युग के सार तत्व का खोलकर उसन हमारे सामने स्पष्ट रूप स रख दिया है, समाजवादी क्रान्ति तथा सवहारा वग के अधिनायकत्व की विजय की तरफ ले

जाने वाले विभिन्न मार्गों का उसने अन्वेषण किया है, मजदूर वर्ग के आम जनवादी और समाजवादी कार्य भागों के पारस्परिक सम्बन्ध को उसने उजागर किया है, समाजवाद की शक्तियों की राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की शक्तियों के साथ मैत्री से सम्बन्धित लेनिनवादी शिक्षाओं को उसने समृद्ध बनाया है, और आधुनिक काल में युद्ध और शांति की समस्या को वैज्ञानिक आधार पर हल करने का उसने मार्ग बताया है। पार्टी का नया कार्यक्रम, जिसे सम्पूर्ण सोवियत जनता तथा विश्व के कम्युनिस्ट आंदोलन ने सर्वसम्मति से अपनी स्वीकृति प्रदान की है, मानव समाज के विकास के नियमों तथा उसकी सम्भावनाओं के अध्ययन के क्षेत्र में पार्टी के सैद्धान्तिक कार्य की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है।

अपने सम्पूर्ण इतिहास के दौरान सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी ने दक्षिणपक्षी और वामपक्षी अवसरवाद के विरुद्ध समझौता विहीन संघर्ष किया है। देश के अन्दर तथा देश के बाहर अंतराष्ट्रीय क्षेत्र में, दोनों ही जगह, वास्तविकवाद, संशोधनवाद, जड़सूत्रवाद, संकीर्णतावाद, अंध राष्ट्रीयतावाद तथा राष्ट्रीय अथवा जातीय अहम्मन्यतावाद की तमाम किस्मों और रूपों के विरुद्ध उसने प्रचण्ड संघर्ष किया है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद के महान सिद्धान्तों की रक्षा के संघर्ष में पार्टी ने अपने को इस्पाती तथा सबल बनाया है। इसीलिए, पार्टी तोड़कों और अवसरवादियों की साजिशों से—वे चाहे जहां से आती हों, वह जरा भी नहीं डरती।

वर्ग संघर्ष ही सामाजिक विकास की प्रेरक शक्ति है

समाज में वर्गों और वर्ग विरोधों के पैदा होते ही मानव जाति के विशाल बहुमत ने अपने उत्पीड़कों के विरुद्ध संघर्ष का आरम्भ कर दिया था। उत्पीडन और शोषण के विरुद्ध संसार के श्रमजीवियों का प्रतिरोध इतिहास की महान प्रेरक तथा सृजनात्मक शक्ति रहा है। किसानों के विद्रोहों और युद्धों ने सामन्तवाद की जड़ें खोखली कर दी थी। पूंजीवादी समाज का इतिहास पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग के तीव्र संघर्ष का इतिहास है। और औपनिवेशिक तथा पराधीन देशों का साम्राज्यवादियों द्वारा किये जाने वाले शोषण ने शक्तिशाली राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों को जन्म दिया था।

इतिहास में वर्ग संघर्ष भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट हुआ है और उसकी तीव्रता भी भिन्न भिन्न मात्रा की रही है। सुदूर के अतीतकाल में भी लोगों के अन्दर इस संघर्ष की चेतना मौजूद थी। वर्ग संघर्ष के तथ्यों का प्राचीन काल तथा नवजागरण काल के इतिहासकारों ने भी अत्यन्त सजीव विवरण प्रस्तुत किया है, क्योंकि उनके लिए यह असम्भव था कि उसके मूलभूत सारतत्व के विषय में कुछ कहे बिना ही तात्कालिक सामाजिक जीवन का चित्र वे पेश कर

दे। किंतु वर्ग-संघर्ष की प्रकृति नियमों द्वारा शासित होती है–इस बात का केवल मार्क्स और एंगेल्स ने ही स्पष्ट किया था। शत्रुतापूर्ण समाजों के विकास का सम्पूर्ण इतिहास इन्हीं नियमों से निर्धारित होता है

" समस्त ऐतिहासिक संघर्ष, वे चाहे राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक, अथवा विचारधारा के अन्य किसी भी क्षेत्र में हों, वास्तव में, सामाजिक वर्गों के संघर्षों की ही स्पष्ट अभिव्यक्ति कमोबेश मात्रा में होते हैं और इन वर्गों के अस्तित्व, तथा उसी के कारण उनके बीच होने वाली टक्करें भी, फिर, इन वर्गों की आर्थिक स्थिति के विकास की मात्रा, उनके उत्पादन के तरीके तथा उसी के द्वारा निर्धारित विनिमय की उनकी पद्धति के द्वारा अवस्थापित (conditioned) होते हैं।"*

एंगेल्स के कथनानुसार, यह नियम ऐतिहासिक विज्ञान के लिए उतना ही अधिक महत्व रखता है जितना कि ऊर्जा के रूपांतरण का नियम प्रकृति विज्ञान के लिए रखता है।

वर्ग संघर्ष की उत्पत्ति उन शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोधों के गर्भ से हुई थी जो शोषकों और शोषितों के बीच पाये जाते हैं। समाज में उत्पीडित वर्गों की जो स्थिति होती है और अपने उत्पीडिकों के हाथ जिस जुल्मी दमन को उन्हें भोगना पडता है वह स्वयं उन्हें क्रांतिकारी संघर्ष करने के लिए बाध्य कर देता है। वह संघर्ष अपने मूलभूत हितों के सम्बन्ध में सम्बंधित वर्ग द्वारा सचेत होने से पहले ही स्वयं स्फूर्त ढंग से शुरू हो जाता है किन्तु ज्यों ज्यों वह वर्ग अपने इन हितों की जानकारी प्राप्त करता जाता है त्यों ही त्यों उसका संघर्ष भी धीरे धीरे सचेत होता जाता है।

वर्ग संघर्ष की हमेशा कुछ खास विशेषताएँ होती हैं। ये विशेषताएँ संबंधित समाज में प्रचलित उत्पादन के विशिष्ट तरीके तथा उसकी वर्गीय बनावट (संरचना) से पैदा होती हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन रोम में वर्ग संघर्ष मुख्यतया विशेषाधिकार सम्पन्न अल्पमत के बीच, अर्थात्, स्वतंत्र धनाढ्यों तथा स्वतन्त्र गरीबों के बीच चलता था। श्रमजीवी आबादी के अधिकांश भाग का, विशेष तौर से दासों का, एक दूसरे से जूझती हुई ये पार्टियां एक निष्क्रिय शक्ति के रूप में उपयोग करती थीं। किन्तु दास प्रथा का जब क्षय होने लगा और उसमें शक्ति नहीं रह गयी कि वह दासों की विशाल संख्या को पूरे तौर से अपने अधीन बनाये रख सके, तब दासों के विद्रोहों का श्रीगणेश हुआ। दासों के

---

* कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित रचनाएं तीन खण्डों में, खण्ड १, मास्को, १९६९, पृष्ठ ३९६-३९७। –सं०

सबसे बड़े विद्रोह का नेता स्पार्टाकस था। बहुधा रोम के स्वतन्त्र नागरिकों में जो सबसे गरीब होते थे वे दासों के साथ लड़ाई में शामिल हो जाते थे। किन्तु दास, जो कि अनगिनत कबीलों से आये लोगों का ढीले ढाले ढंग से संगठित एक विशाल जन समुदाय थे इसलिए नहीं जीत सके कि वे उत्पादन के किसी नये, उच्चतर तरीके से सन्देश वाहक या प्रतिनिधि नहीं थे। उनका संघर्ष मुख्यतया स्वयं स्फूर्त संघर्ष था। उसका लक्ष्य भी अत्यन्त सीमित—दासता से मुक्ति प्राप्त करने का—लक्ष्य था। इसके बावजूद, दासों के संघर्षों ने दास प्रथा की नींवों को खोखला कर दिया था और उसका ध्वंस करने में सहायता पहुंचाई थी।

सामन्तवाद के अन्तर्गत वर्ग संघर्ष और भी अधिक ऊंचे स्तर तक पहुंचा था। किसानों का समुदाय एक अधिक सजातीय किस्म का जन समुदाय था। वह एक ही समुदाय अथवा संगठन में संयुक्त होता था। सामन्ती शोषण के अधिक कठोर होने के कारण किसानों और उनके सामन्ती प्रभुओं के बीच वर्ग शत्रुता की भावना और भी तीव्र रूप में पैदा हुई। सामन्तवादी समाज में जो स्वतःस्फूर्त जन विद्रोह होते थे उनमें किसानों के विशाल जन समुदाय हिस्सा लेते थे। ये विद्रोह अपनी तीक्ष्णता और कटुता के लिए प्रसिद्ध थे। बहुधा वे दीर्घकालीन किसान युद्धों का रूप ग्रहण कर लेते थे। फ्रांस में जकरी विद्रोह, इंगलैंड में वाट टाइलर के नेतृत्व में होने वाला विद्रोह, बोहेमिया के हौसाइटों के युद्ध, जर्मनी और रूस के किसान युद्ध, चीन का ताईपिंग का विद्रोह, आदि—सब ऐसे ही विद्रोह थे जिन्होंने दीर्घकालीन किसान युद्धों का रूप अख्तियार कर लिया था। किसानों के विद्रोह और युद्ध अधिकाधिक मात्रा में सचेत, उद्देश्यपूर्ण आंदोलनों का रूप ग्रहण करते गये। उनके अधिकांश विद्रोहों का अत्यन्त बर्बरता के साथ कुचल दिया गया था और उनका बदला किसानों के साथ खून की होलियाँ खेल-कर लिया गया था। उदाहरण के लिए, जर्मनी में जब किसान युद्ध पराजित हो गया तो उसके नेता टामस मुन्ज़र को फांसी से लटका दिया गया था और सैकड़ों किसानों की आंखों को ज़िंदा ही निकाल लिया गया था। कुछ ही हफ्तों के अन्दर लड़ाइयों तथा दमनकारी कार्यवाहियों में वहां एक लाख से अधिक किसान मारे गये थे। उस समय जिन कटु शब्दों को अक्सर दोहराया जाता था वे यह थे : सामन्ती प्रभु सारे किसानों को नहीं मार सकते क्योंकि फिर उनका काम करने के लिए कौन रह जायगा? पर इन शब्दों से उन्हें कोई विशेष सान्त्वना नहीं मिलती थी। जो लोग ज़िंदा बच गये थे उन्हें अपने शेष सारे जीवन भर जुर्माना चुकाते रहना पड़ा था। सामन्ती प्रभु और गिरजा के पादरी बिना किसी लाज शर्म के गांवों को लूटते रहते थे। उनका बहाना यह था कि किसानों ने उनको जो नुकसान पहुंचाया था उसका वे मुआवज़ा वसूल कर रहे

थे। देहात खडहर बन गये थे। जगह जगह एक दूसरे का हाथ पकडे हुए अधो की टोलियाँ भटकती दिखलायी देती थी।

किसानो की मुक्ति के लिए जिन वस्तुगत और मनोगत पूव आवश्यकताओ की जरूरत थी वे उस वक्त मौजूद नही थी। किसान आपसी फूट के कारण बँटे हुए थे। और, लाजिमी तौर से मजदूर वग के नेतृत्व का उस समय अभाव था। इसलिए किसानो का हार जाना स्वाभाविक था। परन्तु वे हार गये थे—इसका मतलब यह कदापि नही होता कि उनके विद्रोह बेकार गये थे। इसके विपरीत, सामन्तवाद की जडो को खोखला करके उसके पतन को लाने मे मदद पहुचाकर उन्होने एक प्रगतिशील भूमिका अदा की थी।

मजदूर वग का ऐतिहासिक लक्ष्य पूजीवाद तथा मानव द्वारा मानव के शोषण की व्यवस्था का उ मूलन करना तथा एक वग विहीन, कम्युनिस्ट समाज की रचना करना है। पूजीपति वग का विरोध करन वाले जितने भी वग है मजदूर वर्ग उनम सर्वाधिक वग चेतन है। मजदूर वग का सम्ब ध बडे पैमाने के उत्पादन से, अर्थात सामाजिक अथ व्यवस्था के सबसे उन्नत स्वरूप से है तथा बडे बडे कारखाना मे, जिनमे मजदूर भारी सख्या मे इकट्ठा होकर काम करत है, काम की जो परिस्थितिया हैं वे मजदूरो के अदर सगठन, अनुशासन तथा एकता की भावना पैदा करती हैं और सक्रिय और सचेत रूप से सघष करने के लिए उ ह सवाधिक योग्य बना देती हैं। हडतालो म भाग लकर मजदूर स्वय अपन अनुभव के जरिए अपने को इस बात की प्रतीति करा लेत हैं कि अगर उ ह अपने वग शत्रु के विरुद्ध लडना है तो उसके लिए उनकी एकता और सगठित रूप से कदम उठाने की उनकी क्षमता ही उनके सबसे सबल अस्त्र हो सकते ह।

पहले के उत्पीडित वर्गो और मजदूर वग म बहुत बडा फक है। मजदूर वग मे न केवल राष्ट्रीय स्तर पर, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी अपनी एकता स्थापित करने की जबदस्त क्षमता है—जो पहले के उत्पीडित वर्गो म नही थी। मजदूर वग की इस क्षमता के फलस्वरूप उसके सघष ने विश्व यापी आकार ग्रहण कर लिया है। मजदूर वग तमाम श्रमजीवी वर्गो मे सबसे अधिक सगठित वग है। मजदूर वर्ग के वगहित भी वही है जो समस्त श्रमजीवी जनता के हैं। मजदूर वग की ही भाति समस्त मेहनतकश जनता भी पूजीवादी उत्पीडन से नजात प्राप्त करन की इच्छा रखती है। मजदूर वग तथा विशाल जन समुदायो क बीच स्थापित होने वाली स्थायी मत्री इसी वजह से सम्भव होती है।

जैसा कि लनिन न बताया था मजदूरो और किसानो की क्रातिकारी मैत्री ही पूजीवाद के ऊपर उनकी जीत की गारण्टी है। मजदूर वग अपनी इस वग चेतना तथा सगठन शक्ति की वजह से ही वतमान समाज का

सर्वाधिक क्रांतिकारी वर्ग बन गया है। किसान वर्ग को भी क्रूर शोषण का सामना करना पड़ता है, किन्तु किसान के पास जमीन का अपना एक टुकड़ा होता है और उसकी वजह से उसके दिमाग के अन्दर मजदूर दृष्टिकोण तथा एक छोटे स्वामी के दृष्टिकोण के बीच एक संग्राम छिड़ा रहता है। मजदूरों के पास उनके हाथों के सिवा कुछ नहीं होता। जैसा कि मार्क्स ने कहा था, अपनी (गुलामी की) जंजीरों के अलावा खोने के लिए उनके पास और कुछ नहीं है और पाने के लिए उनके सामने सारी दुनिया पड़ी हुई है। मजदूर वर्ग अपने संघर्ष को कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चलाता है। कम्युनिस्ट पार्टी उसे इस बात की वैज्ञानिक जानकारी से लैस करती है कि उसके मूलभूत वर्ग हित क्या हैं और उनकी कैसे रक्षा की जानी चाहिए। इससे स्पष्ट नतीजा यह निकलता है कि पूंजीवादी विकास द्वारा उत्पन्न की गयी वर्तमान परिस्थितियों में, किसान वर्ग तथा अन्य तमाम मेहनतकश जनता के साथ मिलकर केवल मजदूर वर्ग ही पूंजीवाद को दफनाने तथा एक नये, कम्युनिस्ट समाज का निर्माण करने के ऐतिहासिक कार्य भार को पूरा कर सकता है।

मजदूर वर्ग के संघर्ष के प्रमुख रूप

वर्ग संघर्ष—आर्थिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक—अनेक रूपों में प्रकट होता है। उसके संघर्ष की व्यापकता कितनी है यह चीज मुख्यतया उस स्तर पर निर्भर करती है जो अपने विकास के क्रम में उस वर्ग ने उस समय तक प्राप्त कर लिया होता है। ऐतिहासिक रूप से वर्ग संघर्ष का पहला रूप आर्थिक संघर्ष का होता है। यह संघर्ष अब भी बहुत बड़ी मात्रा में मजदूर वर्ग के संघर्ष का एक स्वतःस्फूर्त रूप होता है। इस संघर्ष का उद्देश्य अधिक मजदूरी प्राप्त करने, काम के घंटों में कमी करवाने, काम की परिस्थितियों को बेहतर बनवाने, आदि से सम्बन्धित मजदूरों के रोजमर्रा के हितों की हिमायत करना होता है। आर्थिक संघर्ष का मजदूर वर्ग के लिए अत्यधिक महत्व है, क्योंकि केवल उसी के जरिए मजदूरों की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति कराई जा सकती है और उनके बुनियादी अधिकारों पर मालिकों द्वारा किये जाने वाले हमलों का सक्रिय ढंग से मुकाबला किया जा सकता है। जो मांगें मजदूरों के काम और जीवन की परिस्थितियों से सीधे सीधे पैदा होती हैं उन्हें हर मजदूर अच्छी तरह जानता है। इसलिए आर्थिक संघर्षों में हमेशा मेहनतकश जनता के व्यापक हिस्से शामिल हो जाते हैं। इन संघर्षों में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करके तथा वर्ग चेतना प्रदान करके ये आर्थिक संघर्ष मजदूरों की शिक्षा के लिए वर्ग संघर्ष की प्राथमिक पाठशालाओं का कार्य करते हैं। उनकी क्रान्तिकारी शिक्षा को

बढाकर य आर्थिक सघष मजदूरो को और भी बडे उद्देश्यो के लिए लडने को तैयार करते हैं।

मजदूरा के प्रथम सगठन, अर्थात् उनकी ट्रेड यूनियनें (मजदूर सभाएं) आर्थिक सघष के दौरान पैदा हुई थी। मजदूर वग की एकता और उसका सगठन वर्ग सघष मे उसकी सफलता की सबसे महत्वपूण शत है। अच्छा सगठन करके कुछ पूजीवादी देशो मे मजदूर वग भारी आर्थिक उपलब्धिया हासिल कर रहा है। परन्तु केवल आर्थिक सघष के माध्यम स मजदूर वग को कभी मुक्ति नही प्राप्त हो सकती पूजी के हाथ श्रम को बेहतर शर्तो पर बेचने के सघष से स्वय शोषण का कभी अन्त नही किया जा सकता।

वग सघष का सर्वोच्च रूप राजनीतिक सघष होता है। मजदूर वग की बुनियादी मागो का केवल उसी के ज़रिए पूरा कराया जा सकता है। लेनिन ने बतलाया है कि,

" वर्गो के सर्वाधिक मूलभूत निर्णायक हितो की पूर्ति आमतौर से केवल बुनियादी राजनीतिक परिवतनो के द्वारा ही हो सकती है। विशेष रूप से सवहारा वग के मूलभूत आर्थिक हितो की पूर्ति कवल एक ऐसी राजनीतिक क्रान्ति के द्वारा ही हो सकती है जो पूजीपति वग के अधिनायकत्व को हटाकर उसके स्थान पर सवहारा वग के अधिनायकत्व की स्थापना करती है।' *

राजनीतिक सघर्ष, सम्पूण मजदूर वग का सम्पूण पूजीपति वग के विरुद्ध सघष, पूजीवाद के उन आर्थिक सम्बन्धो स निर्धारित होता है जिनके अन्तगत एक वग के रूप म पूजीपतिया के हित एक वग के रूप म मजदूरा के हितो मे टकराते हैं। राजनीतिक क्षेत्र मे हिता का यह विरोध या टकराव और भी तीव्र होता है। अपन जीवन की परिस्थितियो को बेहतर बनाने के कट सघर्ष मे मजदूरो की टक्कर सीधे सीधे पूजीवादी राजसत्ता से—' सामूहिक पूजीपति से"— होती है, जिसके फलस्वरूप वास्तव मे, प्रत्येक वग सघष एक राजनीतिक सघष का रूप ले लेता है क्योकि फिर उसमे पूरे के पूरे वग के हित शामिल हो जाते हैं।

किन्ही विशेष कारखानो के अन्दर, अथवा उद्योग की किन्ही विशेष शाखाओ के अन्दर हडताल करके मालिको को काम के घन्टे कम करने के लिए मजबूर करने का सघष आर्थिक सघष का उदाहरण है। परन्तु, अगर मजदूरो का आन्दोलन काम के आठ घण्टे के दिन की कानूनी मान्यता दिलवाना चाहता है तो यह एक राजनीतिक सघष बन जाता है। इस प्रकार, राजनीतिक आन्दोलन,

---

* वी० आई० लेनिन, सम्पूण ग्रन्थावली, खण्ड ५, पृष्ठ ३६० ६१।—स०

अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक वर्ग द्वारा किया जाने वाला आन्दोलन, अलग अलग चलने वाले आर्थिक आन्दोलनों के ही अन्दर से पैदा होता है। इन आर्थिक आन्दोलनों को थोड़ा संगठित करने की जरूरत होती है और तब वे स्वयं इस संगठन को आगे विकसित करने का एक साधन बन जाते हैं। आर्थिक संघर्ष ने मजदूर वर्ग के संगठन के प्रथम स्वरूप को अर्थात उनकी ट्रेड यूनियनों को, जन्म दिया था, परन्तु राजनीतिक संघर्ष ने वर्ग संगठन के सर्वोच्च स्वरूप की राजनीतिक पार्टी की सृष्टि कर दी है। मजदूर वर्ग के संघर्ष का मूलभूत लक्ष्य मजदूरों की सत्ता की स्थापना करना और उसे सुदृढ़ बनाना होता है। किन्तु यह संघर्ष केवल तभी सफल हो सकता है जबकि उसका पथ प्रदर्शन एक मार्क्सवादी पार्टी करती हो।

आर्थिक और राजनीतिक संघर्षों के साथ ही साथ, मजदूर वर्ग के संघर्ष का एक तीसरा महत्वपूर्ण रूप भी होता है—और यह रूप है विचारधारात्मक संघर्ष का। इस संघर्ष का उद्देश्य मजदूरों के मस्तिष्कों को पूजीवादी विचारधारा से मुक्त करना तथा उन्हें समाजवादी चिन्तन से परिचित कराना होता है, जिससे कि वे समझ सकें कि उनके सर्वाधिक बुनियादी हित क्या हैं। मजदूर वर्ग अपने वर्ग हितों की सुरक्षा के लिए, अर्थात एक वर्ग के रूप में अपने सम्पूर्ण हितों की सुरक्षा के लिए एक क्रान्तिकारी पार्टी के नेतृत्व में आगे बढ़ता है। इससे मजदूरों की वर्ग चेतना में वृद्धि होती है अर्थात इससे देश विशेष के सभी मजदूरों के हित एक जैसे ही होते हैं इसके सम्बन्ध में उनकी चेतना बढ़ती है। इससे वे समझने लगते हैं कि सारे मजदूर एक ही वर्ग के होते हैं, और पूजीपतियों के वर्ग के विरुद्ध संघर्ष का तूयनाद करके ही वे अपनी स्थिति को बेहतर बना सकते हैं और अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

वर्तमान काल में विचारधारात्मक संघर्ष विशेष रूप से तीव्र और महत्वपूर्ण हो गया है। विश्व समाजवादी व्यवस्था जितनी ही अधिक सफलताएँ प्राप्त करती जाती है विश्व पूजीवाद का संकट उतना ही अधिक गहरा होता जाता है और इसके फलस्वरूप, वर्ग संघर्ष और भी कटु हो उठता है। ऐसी हालत में आम जन समुदायों को कम्युनिज्म की विजय के लिए बटोरने और लामबन्द करने की अपनी भूमिका को मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचार और भी अधिक प्रभावशाली ढंग से पूरा करते हैं।

पूजीवाद के आधुनिक विचारवेत्ता और सुधारवादी लोग वर्ग विरोधों पर पर्दा डालने की चेष्टा में अक्सर 'सामाजिक चलनशीलता' के सिद्धान्त का इस्तेमाल करने की कोशिश करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार, पूजीवाद के अन्तर्गत जो

विभिन्न सामाजिक स्तरो के लोग रहते हैं वे अत्यन्त अस्थिर किस्म के होते है और इसलिए उनम से किसी भी आदमी के लिए बिल्कुल आसान होता है कि वह एक स्तर से दूसरे स्तर मे चला जाय। उदाहरण के लिए पूजीपति दीवा लिया हो जाता है और मजदूर बन जाता है, और मजदूर शिक्षा प्राप्त करके एक बुद्धिजीवी का रूप ले लेता है। इस सिद्धान्त के हिमायती कहते हैं कि इस प्रकार के चलनशील स्तरो के लोगो के कोई स्थायी वग हित हो ही नही सकते। इसस प्रमाणित होता है कि पूजीवाद के अन्तगत वर्गीय भेद अपना महत्व खो चुके है! परन्तु जीवन कुछ दूसरी ही कहानी बतलाता है। वह बतलाता है कि केवल इने गिने असाधारण व्यक्ति ही "नीचे से उठकर ऊपर" तक पहुच पाते है, पर, जहा तक आम जन समुदायो का सम्बन्ध है उनके लिए "चलनशीलता" का अथ अधिकाशतया नीचे की ओर, और भी मुसीबतो के गढ मे, खिसकते जाना होता है।

पूजीवादी तथा सामाजिक जनवादी सिद्धान्तकार तथाकथित मध्यम वग के विषय म बातें करने म विशेष दिलचस्पी लते है। उनके कथनानुसार, "मध्यम वग' पूजीवाद के अन्तगत एक विराट आकार ग्रहण करता जा रहा है। उसके अन्तगत पूजीपति और मजदूर दोनो ही भारी सख्या मे शामिल होते जा रहे है। परन्तु आर्थिक और राजनीतिक रूप से ऐसा कही कोई अलहदा मध्यम वग नही है जो उत्पादन की प्रक्रिया मे कोई विशेष स्थान रखता हो। सामाजिक-जनवादी सिद्धान्तकारो ने, विशेष रूप से पश्चिम जमनी और आस्ट्रेलिया के उनके भाई बिरादरो ने, एक तथाकथित सामाजिक भागीदारी के विचार को पेश किया है। वे कहते हैं कि आधुनिक पूजीवाद की परिस्थितियो के अन्तगत मजदूर और उद्योगपति अब एक दूसरे के विरोधी नही रह गय, बल्कि एक दूसरे के भागीदार बन गये हैं और, इसलिए, उन्ह चाहिए कि अपने सामान्य लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए वे परस्पर सहयोग करें। "सामाजिक भागीदारी" का यह सिद्धान्त 'मानवीय औद्योगिक सम्बन्ध" के सिद्धान्त से बहुत मिलता जुलता है। इस सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक सघर्षों को दूर करने के लिए मुख्य चीज जो आवश्यक है वह यह है कि काम के स्थान पर एक उचित "सामान्य' मनोवैज्ञानिक 'वातावरण' पैदा कर दिया जाय। इसके लिए आवश्यक ह कि कारखानो—फैक्ट्रियो के अन्दर 'आराम' का वातावरण पैदा कर दिया जाय। इस वातावरण को सभव बनाने के लिए मालिको और प्रबन्धको को चाहिए कि मजदूरो के प्रति अपनी सदिच्छा को व्यक्त करने के लिए वे अधिक से अधिक वाह्य प्रदशन का—जस कि हाथ मिलाने छुट्टियो तथा पारिवारिक उत्सवो क अवसर पर बधाइया दने और अभिनन्दन पेश करने, मजदूरो की बस्तियो म जाने, आदि जसे तरीको का

इस्तेमाल करें। इन भलेमानुसो के कहने के अनुसार, इन चीजों से वर्ग संघर्ष समाप्त हो जाएगा।

पूंजीवाद के पक्ष पोषकों की इन खोजों का कि–आधुनिक पूंजीवादी समाज में वर्ग और वर्ग संघर्ष लुप्त हो गये हैं—सुधारवादी और संशोधनवादी खूब ज़ोर शोर से प्रचार करते है। सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम में दक्षिणपन्थी समाजवादियों के क्रमिक "विकास" की प्रक्रिया को निम्न प्रकार बतलाया गया है

'पहले दक्षिणपन्थी समाजवादी वर्ग संघर्ष की चरम परिणति को—अर्थात सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के सिद्धान्त को–मानने से इनकार करते थे। आज वे न केवल इस बात से इनकार करते हैं कि पूंजीवादी समाज में कोई वर्ग संघर्ष है, बल्कि इस बात से भी इनकार करते हैं कि उसके अन्दर परस्पर विरोधी वर्गों का अस्तित्व है।"

किन्तु, आधुनिक पूंजीवादी विश्व के जीवन की वास्तविकताएँ ऐसी हैं कि समाज मे वर्गीय विभिन्नीकरण की प्रक्रिया अधिकाधिक तीव्र होती जा रही है तथा वर्ग संघर्ष निरन्तर कटु से कटुतर होता जा रहा है। मजदूर वर्ग अपने आर्थिक और राजनीतिक हितों की सुरक्षा के लिए अपने संघर्षों के दायरे का विस्तार कर रहा है। अलग अलग पूंजीवादी देशों में वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया अलग अलग और असमान रूप से चलती है, किन्तु हाल के वर्षों में फ्रान्स, इटली, जापान तथा अमरीका में उसकी प्रक्रिया विशेष रूप से अत्यन्त तीव्र हो उठी है। अमरीका के अन्दर १६४५ और १६६० के बीच चार हजार एक सौ उन्तालीस (४,१३६) हड़तालें हुई थी जिनमे चौबीस लाख तरह हजार (२४१३,०००) मजदूरों ने भाग लिया था। (युद्ध से पूर्व के वर्षों में हड़तालों की संख्या इसकी केवल आधी थी) १६६० के आखिरी तथा १६६१ के प्रारम्भिक दिनों में बेलजियम के अन्दर जो विराट लड़ाइयां लड़ी गयी थीं उन्होंने एकदम स्पष्ट कर दिया था कि साम्राज्यवादी औपनिवेशिक व्यवस्था के विघटन के फलस्वरूप साम्राज्यवादी देशों के अन्दर भी सामाजिक अन्तर्विरोध अनिवार्य रूप से तीव्र हो उठते हैं।

एकाधिकारी पूंजी के राजकीय–एकाधिकारी पूंजी के रूप में विकसित हो जाने का लाज़िमी नतीजा यह होता है कि बड़ी बड़ी इजारेदारियां मजदूर वर्ग तथा व्यापक जन समाज के हितों पर अपने हमलों को तेज़ कर देती हैं। अपनी सत्ता को बनाये रखने की चेष्टा में वित्तीय अल्पतन्त्र सामान्य दमनकारी तौर तरीकों का इस्तेमाल करने के अलावा, मजदूर वर्ग और उसके संगठनों में–

जिनम राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय पैमाने का उसका ट्रेड यूनियन आन्दोलन भी शामिल है—फूट डालने के लिए धोखाधडी और भ्रष्टाचार के नाना तरीकों का भी उपयोग करता है। ट्रेड यूनियना, सहकारी समितियो तथा मजदूरा के अन्य सगठना की नेताशाही को वह खरीद लेता है और उद्योग धन्धा, म्यूनिस्पल सस्थाओ तथा राजकीय तन्त्र मे मोटी मोटी तनख्वाहा वाली अच्छी नौकरियाँ देकर मजदूरा के नौकरशाहो की सख्या म वद्धि कर देता है। अमरीका और स्पेन म तरह-तरह के कम्युनिस्ट विरोधी और मजदूर विरोधी कानून पास किये गये हैं, यूनान स्पन, इण्डानेशिया तथा अन्य देशा मे कम्युनिस्ट पार्टी का गैर-कानूनी कर दिया गया है, कुछ पूजीवादी देशा म भारी तादाद म कम्युनिस्टो तथा दूसरे आगे बढे हुए मजदूरो का काम से निकालकर बाहर किया गया है और उनकी काली सूचिया बनाकर सब जगह घुमा दी गयी है जिससे कि उन्ह कही भी नौकरी न मिल सके। कुछ देशा म कमचारिया को "राजनीतिक विश्वास-नीयता" की परीक्षाएँ पास करनी पडती है, वरना उन्ह नौकरिया नही मिलती। जनवादी अखबारा के खिलाफ पुलिस की दमनात्मक कायवाहिया तथा हडतालो को कुचलने के लिए हथियारबद शक्ति का इस्तेमाल करने की कायवाहियाँ निरतर बढती जा रही हैं। वास्तव म, साम्राज्यवादी पूजीवादी सरकारो के लिए इस तरह की कायवाहिया करना अब एक सामान्य चीज बन गयी है।

परन्तु अब सम्पूण विश्व के पैमाने पर मजदूर आन्दोलन के बढाव के लिए अनुकूल परिस्थिति पैदा हो गयी है। सोवियत सघ की उपलब्धियो तथा सम्पूण विश्व समाजवादी व्यवस्था की अदभुत प्रगति, विश्व पूजीवाद के अधिकाधिक गहरे होते हुए सकट, आम जन समुदायो के बीच कम्युनिस्ट पार्टिया के उत्तरोत्तर बढते हुए प्रभाव, तथा सुधारवाद के वैचारिक दीवालियेपन और अन्त, आदि-आदि के कारण वग सघष की परिस्थितियो मे श्रमजीवी जनता के पक्ष म आज अत्यन्त महत्वपूण परिवतन पैदा हो गये है।

आधुनिक परिस्थितियो मे चलने वाले सवहारा वग के आर्थिक सघष की विशेषता केवल यह नही है कि अब उसका चरित्र विशेष रूप से कटु हो गया है बल्कि उसकी विशेषता यह भी है कि राजनीतिक सघर्षो के साथ—शान्ति के पक्ष मे तथा हथियारो की दौड के विरुद्ध, देशो के फासिस्टीकरण के विरुद्ध समाजवाद के सघष के एक अभिन्न अग के रूप मे जनवाद के लिए सघष, आदि-आदि—के साथ—उसका सम्बन्ध बहुत घनिष्ट हो गया है। राजनीतिक हडतालें अब मजदूर वग का एक महत्वपूण हथियार बन गयी है।

मजदूर वग मुख्य तौर से पूजीवादी इजारदारिया पर हमला कर रहा है। इन इजारेदारिया का अन्त करने म समाज के सभी अगा की दिलचस्पी है।

इसलिए इस संघर्ष के दौरान मजदूर वर्ग की समस्त श्रमजीवी जनता के साथ एकता कायम हो जाती है। अपने मुख्य मित्र और सहयोगी—किसान वर्ग को मजदूर वर्ग सामन्तवाद के अवशेषों तथा इजारेदारियों के प्रभुत्व के विरुद्ध संघर्ष में एकताबद्ध करता है। सफेद कालरों वाले मजदूरों (यानी बाबुओं) और बुद्धिजीवियों के व्यापक हिस्से भी, जिन्हें पूंजीवाद ने तबाह करके सर्वहारा की श्रेणी में पहुंचा दिया है मजदूर वर्ग के सहयोगी बन जाते हैं।

विकासशील देशों में चलने वाले इस वर्ग संघर्ष का राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के साथ अच्छी तरह तालमेल कायम हो गया है। साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के दौरान अनेक वर्ग संयुक्त मोर्चा बनाकर एक साथ आगे बढ़ सकते हैं, क्योंकि इस संघर्ष का सामाजिक सारतत्व जनवादी है। किन्तु इस संघर्ष में भाग लेने वाले अलग अलग वर्ग उसके सम्बन्ध में एक ही रुख नहीं अपनाते। राष्ट्रीय, साम्राज्य विरोधी और जनवादी क्रान्ति से सम्बन्धित कामों को पूरे तौर से पूरा करने के लिए सबसे डटकर मजदूर वर्ग लड़ता है। किसान वर्ग की इस बात में गहरी दिलचस्पी होती है कि भूमि सुधार किये जायें तथा सामन्ती अवशेषों का अन्त किया जाय इसलिए वह मजदूर वर्ग का सहयोगी होता है। दूसरी जनवादी शक्तियां भी इस संघर्ष में मजदूर वर्ग के साथ आ जाती हैं।

औपनिवेशिक तथा पराधीन देशों का वह राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग भी, जो साम्राज्यवादी हल्कों से जुड़ा नहीं हुआ है एक राष्ट्रीय जनवादी सहयोग के मोर्चे में शामिल हो सकता है। अनेक देशों में वहां के राष्ट्रीय आन्दोलन का पूंजीपति वर्ग ने स्वयं नेतृत्व किया था और अब, उन देशों की मुक्ति के बाद, वह वहां का शासक वर्ग बन गया है। इन देशों में साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के विरुद्ध लड़ने की क्षमता अब भी राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के अन्दर बाकी है, और, इसलिए इस अर्थ में, वह वहां एक प्रगतिशील भूमिका अदा कर रहा है। परन्तु राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का चरित्र दो मुहां होता है। और इसलिए साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के साथ समझौता करने के रुझान भी उसके अन्दर दिखलायी देते हैं।

जो देश अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे हैं उन्हें तथा उन देशों को भी, जिन्होंने लड़कर अपनी आजादी हासिल कर ली है, अत्यन्त आवश्यक तथा कठिन सामाजिक कार्य भारों का सामना करना पड़ता है। किन्तु इन सामाजिक कार्य भारों को पूरा करने की प्रक्रिया में वर्ग हितों के बीच टकराव पैदा हो जाते है। इसके फलस्वरूप वर्ग संघर्ष बहुत तीव्र हो जाता है। फिर, सामाजिक संघर्ष ज्यों ज्यों तीव्र रूप लेते जाते हैं त्यों ही त्यों राष्ट्रीय

पूजीपति वग के अन्दर देश के अन्दर के प्रतिक्रियावाद और विदेशी साम्राज्यवाद के साथ समझौता सहयोग करने का रुझान और भी अधिक मात्रा मे स्पष्ट दिखलायी देने लगता है। इसके विपरीत, आम जन समुदाय अधिकाधिक मात्रा मे यह महसूस करने लगते हैं कि युगा पुराने पिछडेपन से नजात पाने का तथा अपने जीवन की परिस्थितियां का सुधारने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि वे गैर पूजीवादी विकास के माग को अपनायें। सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय कमेटी के एक खुले पत्र मे कहा गया है कि,

'राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के अन्दर मजदूर वग और कम्युनिस्ट पार्टी का लक्ष्य है **साम्राज्यवाद-विरोधी जनवादी क्राति के काय भारो को पूरा** करना, किसान वग तथा देशभक्त राष्ट्रीय पूजीपति वग के सहयोग से बनाय गय राष्ट्रीय मोर्चे को आगे बढाना तथा मजबूत करना, एक राष्ट्रीय जनवादी राजसत्ता की स्थापना के लिए जमीन तैयार करना तथा देश को विकास के गैर पूजीवादी माग पर ले जाना।"

अन्तर्राष्ट्रीय क्रातिकारी मजदूर आन्दोलन का प्रतिनिधित्व आज उसके तीन अगा द्वारा होता है। ये तीन अग है विश्व समाजवादी व्यवस्था, पूजीवादी देशा की कम्युनिस्ट पार्टियाँ, तथा एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका की कौमा के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन। कम्युनिस्ट मजदूर पार्टियो की अन्तर्राष्ट्रीय बठक ने (जून १६६६ मे) कहा था कि लेनिनवाद के फरहरे को हाथ मे लिये हुए अधिकाश देशो के क्रातिकारी आन्दोलनो ने नयी ऊँचाईयो को हासिल किया है और जगह जगह नयी कम्युनिस्ट पार्टिया बन गयी है और सुदृढ हुई हैं, और विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन वास्तव म एक विश्वव्यापी, आधुनिक तथा अत्यधिक प्रभावशाली राजनीतिक शक्ति बन गया है।

राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलना की भविष्य की जीता की भी एक प्रमुख गारटी यही है कि विश्व समाजवादी व्यवस्था के साथ—जो कि साम्राज्यवाद विरोधी सघष की आज मुख्य शक्ति है—अपनी मत्री और सहयाग को वे अटूट रूप से बनाये रखें और पूजीवादी देशो के मजदूर आन्दोलनो के साथ भी अपने रिश्ता को मजबूती से कायम रखें। आधुनिक परिस्थितियो मे पूजी तथा विदेशी उत्पीडन के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर वग का सघष तभी सफल हो सकता है जब कि दुनिया म शाति बनी रहे। इसलिए, आधुनिक काल का मुख्य प्रश्न युद्ध और शाति का प्रश्न है। और, इसीलिए, अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आदोलन की भी आम

नीति आज यही है कि शांति, जनवाद, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा समाजवाद के लिए साथ साथ संघर्ष किया जाय।

पूंजीवादी दुनिया के अन्दर निरन्तर व्यापक होता हुआ वर्ग संघर्ष इस मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्त का अकाट्य प्रमाण है कि समस्त शोषण करने वाले समाजों के सामाजिक वर्गों के बीच होने वाला संघर्ष ही इतिहास की प्रेरक शक्ति होता है—और, सामाजिक क्रांति के कालों में, वर्ग संघर्ष चरम सीमा पर पहुंच कर तीव्रतम रूपों में प्रकट होता है।

अध्याय दस

सामाजिक क्राति

क्राति की प्रकृति

इतिहास क्रमिक विकास के ऐसे कालो का सिलसिला होता है जिनमे, बीच-बीच म, क्राति की सापेक्ष रूप से तीव्र अवधियो के बाद, व्यवधान उत्पन्न हो जाता है। क्राति की इन सक्षिप्त अवधियो मे पूरी की पूरी सामाजिक व्यवस्थाएँ टूटकर टुकडे टुकडे हो जाती है। सामाजिक क्राति के दौरान पुरानी सामाजिक व्यवस्था का पूण रूप से विध्वस हो जाता है और समाज एक सामाजिक सरचना से दूसरी सामाजिक सरचना मे सक्रमण कर जाता है। क्रातियो से पहले सामाजिक विकास के कमोबेश लम्बे कालो का एक दौर आता है।

पूजीवादी क्रातियो से पहले, योरप मे शाही राजवश लडाइया के द्वारा तथा बलपूवक सत्ता पर कब्जा करके एक दूसरे को हटा देते थ और अपनी सत्ता स्थापित करते थ। अलग अलग देश और भिन्न भिन्न सामन्ती जागीरदार एक दूसरे स लडत थे, मिलकर समझौते कर लेत थे, फिर झगडते थे, और फिर दोस्ती कायम कर लते थे। और अपनी इन तमाम हरकता के दौरान व एक दूसरे की, अथवा पास पडोस के सामन्ती गढो की जमीना को हथिया लेत थे, एक दूसरे की गढिया को लूट लेत थे, मवेशियो को हाँक ल जात थे और अपन अपमानो का एक दूसर से भयकर बदला लेते रहते थ। किन्तु, उनके इन तमाम कारनामो की वजह से, सामन्ती व्यवस्था क सार-तत्व म कभी रत्ती भर भी अतर नही पैदा होता था। और, यद्यपि बीच-बीच म, किसानो के विद्रोहा की लपटें भडक उठती थी, किन्तु शासक वग किसाना के अपर्याप्त सगठन की स्थिति का लाभ उठा लेते थे, और जरा भी दया दिखलाय बिना उन्हे कुचल देते थे।

लेकिन फिर शक्तिशाली सामाजिक उथल पुथल के एक युग का सूत्रपात हुआ। सोलहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दियों के बीच प्रमुख योरोपीय देशों की सामाजिक व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन हुए और सामन्तवाद का स्थान पूंजीवाद ने ले लिया।

उठते हुए पूंजीपति वर्ग के दार्शनिकों ने जनता के क्रान्ति करने के अधिकार को न्यायोचित ठहराते हुए सैद्धान्तिक तर्क प्रस्तुत किये। रोबसपियर, मरात और सेण्ट जस्टे ने, जो कि अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में होने वाली फ्रान्सीसी क्रान्ति के प्रसिद्ध प्रजा नायक थे, इस अधिकार के पक्ष में अत्यन्त आवेशपूर्ण भाषण दिये और इससे पहले भी सुविख्यात क्रान्तिकारी जनवादी तथा कल्पनावादी कम्युनिस्ट नेता जौन मेरिलयर ने क्रान्ति करने के लिए जनता का आवाहन करते हुए लिखा था

"... अपने सामन्ती राजाओं और बादशाहों के जालिम जुए को हमेशा के लिए उतार फेंकने के लिए एक ... होने की कोशिश करो ... अन्याय और अपयश के अन्य सभी राज्य सिंहासनों को हर जगह उखाड़ कर फेंक दो, इन तमाम राजमुकुटों से सजे सरों को तोड़कर टुकड़े टुकड़े कर दो, अपने क्रूर शासकों के दर्प और घमण्ड को ध्वस्त कर दो—और उन्हें किसी भी प्रकार से ऐसा मौका न दो कि वे फिर तुम्हारे ऊपर हुकूमत कर सकें।' *

टॉमस जैफसन ने घोषणा की कि सभी मनुष्य बराबर पैदा हुए थे और सरकारों की स्थापना इसलिए की गयी है कि वे मनुष्यों को जीवन, स्वतन्त्रता और सुख की खोज सम्बन्धी उनके अविच्छेद्य अधिकारों की प्राप्ति करा सकें। उन्होंने लिखा था कि,

"जब भी कोई सरकार इन लक्ष्यों के विरुद्ध काम करने लगे तो जनता का न केवल यह अधिकार है, बल्कि उसका यह कर्तव्य भी है कि अपनी सुरक्षा तथा सुख की गारण्टी के लिए, वह उस सरकार की जगह नयी सरकार की स्थापना करे।"

जैफसन ने आगे लिखा था,

विज्ञान के प्रकाश के आम विस्तार ने प्रत्येक व्यक्ति के सामने इस

---

* जे० मस्लियर, वसीयत, खण्ड ३, एमस्टडम, १८६६, पृष्ठ ३७०-३७८।—स०

प्रत्यक्ष सत्य को उजागर करके रख दिया है कि न तो मानवजाति का अधिकाश भाग अपनी पीठो पर काठिया बाध कर पदा हुआ था, और न च द खुशनसीब लाग ही बूटो और घाडे पर चढने की नोकदार एडियो से सुसज्जित इस तरह पैदा हुए थे कि ईश्वर की कृपा से शेष लागो की पीठ पर व चढाई कर सकें।"*

नवजात अमरीकी गणतत्र के महानतम प्रवक्ता द्वारा कहे गये ये अदभुत शब्द जनता के इस अविच्छेद्य अधिकार की मजबूती से पुष्टि करते है कि क्रांति करने का उसे पूरा हक है। उदीयमान पूजीपति वग के सिद्धान्तकार बहुत आगे तक देखते थे और लोगा का आवाहन करते थे कि सडी गली साम ती व्यवस्था के विरुद्ध वे क्रांति करें। परन्तु ज्याही पूजीपति वग की सत्ता की स्थापना हो गयी और उसके विरुद्ध वग सघष तीव्र होने लगा, त्याही क्रांति करने के जनता के अधिकार के सम्बन्ध मे पूजीवादी विचारको के विचार आमूल रूप से बदल गये और उनका स्वरूप प्रतिक्रियावादी हो गया। मरत हुए पूजीपति वग के हिमायती और पक्ष पोपक अब भविष्य की ओर पीठ करन की कोशिश करते है। क्रान्ति को अब वे एक अप्राकृतिक, अथवा आकस्मिक घटना बताते हैं और सामाजिक क्रांतियो की वैधानिकता से सीधे सीधे इनकार करत ह, क्योकि वे जानते है कि क्राति अब स्वय उस पूजीपति वग के शासन के खिलाफ हान जा रही है जिसके हितो के वे पैरोकार हैं।

सामाजिक क्रांतियो की जडें समाज के आर्थिक जीवन म अत्यन्त गहराई तक फैली होती हैं और इसलिए वे ऐतिहासिक रूप से आवश्यक होती हैं। समस्त क्रांतियो का स्रात उन सघर्षों मे होता है जो उत्पादन की नयी शक्तिया तथा उत्पादन के उन पुराने सम्बन्धा के बीच छिडत है जिन्ह खत्म करना आवश्यक हो गया है। इस भाँति क्राति सामाजिक प्रगति के साधारण क्रम को भग नही करती—जैसा कि मावसवाद—लनिनवाद के दुश्मन कहते है, बल्कि वह वग समाज को आग ल जान का एक अनिवाय रूप होती है।

क्रांतियाँ व्यक्तियो, दलो, अथवा यहाँ तक कि, वर्गों की इच्छा-आकांक्षाओ के सुभीते के अनुसार नही होती, बल्कि तभी होती हैं जबकि उनके लिए आवश्यक वस्तुगत परिस्थितिया परिपक्व हो जाती है। वर्गों म बँटे समाज क अन्दर क्रांति की वस्तुगत आवश्यकता इस बात स पैदा हाती है कि शासक वग- अपनी राजनीतिक कानूनी तथा अन्य प्रकार की सस्थाओ की सम्पूण व्यवस्था की मदद से, और सर्वाधिक अपनी राज्यसत्ता तथा अपन कानूनो की मदद से—

* टॉमस जफसन की रचनाएँ, खण्ड ४, बोस्टन, १८३०, पृष्ठ ४४१। –स०

उत्पादन के पुराने सम्बन्धों को बचाये रखते हैं। इन्हीं बाधाओं को दूर करने के लिए नयी सामाजिक शक्तियों की आवश्यकता होती है, इन्हीं नयी शक्तियों की मदद से पुरानी शक्तियों का मुकाबला किया जाता है और चूंकि प्रतिक्रियावादी वर्ग उत्पादन के पुराने सम्बन्धों को राज्यसत्ता का इस्तेमाल करके ज्यों का त्यों बनाये रखने की कोशिश करते हैं, इसलिए आवश्यक हो जाता है कि प्रगतिशील वर्ग भी सबसे पहले राजनीतिक सत्ता को ही जीत कर उस पर अपना अधिकार कायम करें। उत्पादन शक्तियों के विकास-क्रम के अन्दर गहराई से काम करने वाली प्रक्रियाएँ अन्ततोगत्वा एक जबदस्त भूचाल पैदा कर देती हैं। इस भूचाल के दौरान जनता के क्रोध की उत्तुंग लहरें राजनीतिक सत्ता के पुराने जहाज़ को डुबा देती हैं और नयी सामाजिक शक्तियों को जन्म देती हैं। इसका अर्थ यह होता है कि उत्पादन के नये सम्बन्ध विजयी होंगे या नहीं – यह बात, अन्तिम विश्लेषण में, इस चीज़ पर निर्भर करती है कि क्रांतिकारी वर्ग राज्यसत्ता पर अधिकार करने में सफल हो पाते हैं या नहीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि राज्यसत्ता का प्रश्न ही प्रत्येक क्रान्ति का मुख्य प्रश्न होता है। एक प्रतिक्रियावादी वर्ग के हाथ से एक प्रगतिशील वर्ग के हाथ में सत्ता का स्थानान्तरण केवल एक तीव्र वर्ग संघर्ष के माध्यम से ही हो सकता है। इसी वर्ग संघर्ष का सर्वोच्च रूप क्रान्ति होती है, जो अक्सर गृह युद्ध में परिवर्तित हो जाती है (यद्यपि इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि हर परिस्थिति में क्रान्ति गृह युद्ध का ही रूप ग्रहण कर लेती है)।

सामाजिक चिन्तन की प्रगति के लिए भी क्रान्तियों का ज़बदस्त महत्त्व होता है इन क्रान्तियों से पता चल जाता है कि वर्गों के आपसी सम्बन्धों की वास्तविक स्थिति क्या है। इसके अतिरिक्त, वे समाज की आगे की तस्वीर भी स्पष्ट कर देती हैं। इससे लोगों को इस बात का पता लगाने में भी मदद मिलती है कि समाज के सम्बन्ध में जो अलग अलग सिद्धान्त हैं उनमें कितनी सच्चाई है और फिर इन्हीं सब चीज़ों के आधार पर वे इस बात की भी समझदारी प्राप्त कर लेते हैं कि ऐतिहासिक वास्तविकता के अन्दर उनकी कौन सी जगह है। केवल क्रान्तियाँ ही प्रतिक्रियावादी सामाजिक व्यवस्थाओं का उन्मूलन कर सकती हैं और प्रगतिशील व्यवस्थाओं की स्थापना कर सकती हैं। शान्तिपूर्ण सामाजिक विकास के काल में जो आर्थिक और वर्गीय विरोध उठ खड़े होते हैं उन्हें भी केवल क्रान्ति ही दूर कर सकती है। आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक प्रगति के मार्ग में जो विघ्न बाधाएँ आती हैं उन्हें क्रान्ति के ही प्रहार से दूर किया जा सकता है। सामाजिक उथल-पुथल उस सामाजिक व्यवस्था के सम्पूर्ण बदसूरत अन्दरूनी पक्ष को खोलकर सामने

रख देती है जिसकी जीवनावधि पूरी हो चुकी है। उसकी असलियत को देखकर लोग और भी गहराई से सोचने तथा आवश्यक राजनीतिक नतीजे निकालने लगते हैं। किसी देश की जनता की आत्म चेतना को जगाने व बढाने में इस तरह की उथल-पुथल से बहुत सहायता मिलती है। इसके फलस्वरूप, अपेक्षाकृत एक छोटी सी कालावधि के अन्दर ही वह सामाजिक जीवन में उन अंतर्विरोधियों की जानकारी प्राप्त कर लेती है और उन्हें व्यावहारिक रूप से दूर कर देती हैं जो, कदाचित, सैकडो साल से धीरे धीरे बढते आ रहे थे।

क्रान्ति के काल करोडो लोगों की सृजनात्मक शक्ति में अभूतपूर्व तेज पैदा कर देते हैं। सामाजिक क्रान्ति के दौरान वे लोग जो क्रान्ति करते हैं आत्मिक रूप से समृद्ध हो जाते हैं—वे नये मानव बन जाते हैं। मार्क्स ने कहा था कि प्रकृति को बदल कर मनुष्य स्वयं अपनी प्रकृति को बदल लेता है। यह बात स्पष्ट रूप से उन लोगों पर और भी अधिक मात्रा में लागू होती है जो स्वयं अपने सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति को बदल देते हैं। क्रान्तिकारियों के बिना कोई क्रान्ति नही हो सकती। किन्तु, क्रान्ति खुद भी क्रान्तिकारियों को जन्म देती है और उन्हें पूर्ण बनाती है। लोगों को अपने अन्दर ऐसी ऐसी शक्तियां और क्षमताओं का पता चलता है जिनका उन्हें कभी गुमान तक न था। क्रान्ति को इसीलिए मार्क्स ने इतिहास का इंजन कहा था। क्रान्तियां अत्यन्त भव्य प्रकार का घटना-प्रवाह होती है—कुछ लोगों के लिए वे भयावह होती है, कुछ दूसरों के लिए वे चिर प्रतीक्षित क्षण की सुखद उपलब्धि होती है। उनका ऐतिहासिक सार उस चीज में नीहित होता है जिसे वे प्राप्त कर लेती हैं, वह उनके (क्रान्तियों के) सकारात्मक परिणामों के रूप में साकार होता है। किन्तु इससे यह भी स्पष्ट है कि हमें अत्यन्त सतर्कता से काम लेना चाहिए और केवल क्रान्ति के लिए क्रान्ति करने के मोह जाल से दूर रहना चाहिए।

क्रान्तिकारी परिस्थिति उन वस्तुगत परिस्थितियों का (जो व्यक्तिगत दलों, पार्टियों तथा वर्गों की इच्छा से स्वतन्त्र होती है) कुल योग होती है जो कि किसी विशेष समाज व्यवस्था के आर्थिक व राजनीतिक संकट को जाहिर करती है और क्रान्ति को सम्भव बनाती हैं। लेनिन ने सिखलाया था कि क्रान्तिकारी परिस्थिति के निम्न लक्षण होते है "१ (वह परिस्थिति) जिसमे कि बिना कोई तब्दीली किए हुए अपने शासन को बनाये रखना शासक वर्गों के लिए असम्भव हो जाता है, जिसमें कि, 'ऊपर के वर्गों' के अन्दर किसी न किसी रूप में एक संकट व्याप्त होता है, शासक वर्ग की नीति में ऐसा संकट पैदा हो जाता है जिससे कि एक ऐसी दरार उत्पन्न हो जाती है जिसके अन्दर से उत्पीडित वर्गों में असंतोष और आक्रोश का ज्वालामुखी फूट कर बहने लगता है। किसी क्रान्ति

की सफलता के लिए आम तौर से केवल इतना ही काफी नही होता कि 'नीचे के वर्ग' पुराने ढंग से रहने के लिए 'तैयार नही है', उसके लिए यह भी आवश्यक होता है कि 'ऊपर के वर्ग' भी पुराने ढंग से रहने मे असमर्थ हो', २ जिसमे कि उत्पीडित वर्गों की तकलीफें तथा गरीबी हमेशा से भी कही ज्यादा उग्र हो गयी हो, ३ जिसमे कि, ऊपर के कारणो के फलस्वरूप, उन आम समुदायो की क्रियाशीलता मे काफी तेज़ी आ गयी हो जो 'शाति काल' मे तो बिना कोई शिकवा शिकायत किये अपने को लुटते जाने देते है, किन्तु जो, उथल पुथल के तूफानी दिनो मे, सकट की समस्त परिस्थितियो के कारण तथा स्वय 'ऊपर के वर्गों' की हरकतो के कारण, स्वतत्र ऐतिहासिक सघर्ष के मैदान मे आ पहुँचते है।

'इन वस्तुगत तब्दीलियो के बिना, जो कि न केवल व्यक्तिगत दलो और पार्टियो की, बल्कि व्यक्तिगत वर्गों तक की इच्छा से स्वतत्र होती हैं, किसी भी क्राति का होना आम तौर से असम्भव होता है।'*

इसमे तो कोई शक ही नही कि क्रातिकारी परिस्थिति न हो तो क्राति नही हो सकती। परन्तु प्रत्येक क्रातिकारी परिस्थिति भी क्राति को जन्म नही देती। वस्तुगत (objective) रूप से क्रातिकारी परिस्थिति तैयार हो तो उसके फलस्वरूप क्राति हो सकती है —लेकिन ऐसा तभी हो सकता है जबकि उसके (क्राति के) लिए मनोगत (subjective) परिस्थितिया भी परिपक्व हो। क्राति के नियमो का विश्लेषण करते हुए लेनिन इस निष्कर्ष पर पहुचे थे कि क्राति के लिए यदि समस्त आवश्यक वस्तुगत पूर्व परिस्थितिया मौजूद हो तो फिर उसकी सफलता के लिए मनोगतवादी परिस्थिति ही निर्णायक होती है। क्रातिकारी वर्गों की नैतिक शक्ति और प्रभाव तथा क्राति के उद्देश्यो और कार्यभारो के सम्बन्ध मे उनकी चेतना जैसे मनोगतवादी तत्वो को लेनिन ने क्राति की सफलता के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण बतलाया था। इस भाँति क्राति के लिए स्थिति तब परिपक्व होती है जबकि उसके वस्तुगत कारणो की मौजूदगी के साथ साथ इस बात की भी गारण्टी हो कि क्रातिकारी वर्ग व्यापक जन समुदायो की मदद से, ऐसा क्रातिकारी कदम उठाने के लिए तैयार और सक्षम है जिससे कि पुराने शासन को ध्वस्त किया जा सकता है। लेनिन ने यह भी बतलाया था कि पुराने शासन को जब तक धक्का देकर गिराया नही जाता तब तक वह कभी गिरता नही है। लेनिन ने कहा था कि मजदूर वर्ग की सकल्पवद्धता, आत्मसमर्पण करने के बजाय मर मिटने की उसकी अदम्य इच्छा शक्ति— यही चीजें इतिहास के निर्माण मे निर्णायक होती हैं।

---

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड २१, पृष्ठ २१३ १४।—स०

क्रांति का चरित्र तथा उसकी प्रेरक शक्तियाँ

किसी क्राति का चरित्र इस बात पर निभर करता है कि उसके फलस्वरूप कौन सा वग सत्ता मे आयगा और समाज मे राजनीतिक रूप से प्रभुत्वशाली शक्ति बनगा तथा इस क्रम मे, उत्पादन के कैसे सम्बन्ध कायम होग।

किसी क्राति की प्रेरक शक्तियाँ व तमाम सामाजिक वग होते हैं जो उन प्रतिक्रियावादी वर्गो के विरुद्ध सघष म, जिनकी उपयोगिता एतिहासिक रूप से समाप्त हो गयी है, भाग लेते है और इस प्रकार, उत्पादन के नये तथा प्रगतिशील सम्बन्धो की स्थापना के लिए माग प्रशस्त करते हैं। किन्तु क्राति का जो वग वास्तव म पूरा करता है वही इस क्राति की नतृत्वकारी शक्ति होता है। दूसरे तमाम वर्गों तथा सामाजिक दलो को क्राति मे वही अपन साथ ले जाता है। किसी क्राति की प्रेरक शक्तियाँ कौन हैं? उसका नेतृत्वकारी वग कौन है?—इन चीजो का फैसला क्राति के चरित्र तथा उन ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियो के आधार पर होता है जिनके अतगत वह क्राति होती है, अर्थात इन चीजो का फैसला उस समय की सामाजिक शक्तियो क सतुलन के आधार पर होता है।

पूजीवादी क्रातियो क युग के अतर्गत सामाजिक विकास का वह काल आता है जिसमे सामतवाद का पतन हुआ था और पूजीवाद ने अपन पैर जमाये थे। पूजीवादी क्रातियो के फलस्वरूप राज्यसत्ता सामन्ती प्रभुओ, भूस्वामिया तथा अभिजात वग के सदस्यो के हाथा से छिनकर पूजीपति वग, अथवा पूजीपतियो और भूस्वामियो की मिली जुली सरकारो क हाथो म पहुँच गयी थी।

> "पूजीवादी क्राति क सम्मुख केवल एक काम था—पिछली सामाजिक व्यवस्था की समस्त बेडियो को तोड कर साफ कर दे, उन्ह दूर फेंक दे, उन्ह एकदम ध्वस्त कर दे। इस काम का पूरा करके प्रत्येक पूजीवादी क्राति उन सब चीजो को पूरा कर देती है जिनकी उससे अपेक्षा की जाती है, वह पूजीवाद की वद्धि की गति को तेज कर देती है।*

पूजीवादी क्रातिया इसलिए हुइ थी कि उत्पादन की उन नयी और अधिक उन्नत शक्तियो के, जो उस समय अस्तित्व म आ रही थी, तथा उत्पादन के उन जीण शीण सबधो के बीच, जिनका प्रतिनिधित्व सामती दासता की प्रथा करती थी, एक सघष उठ खडा हुआ था। सामती दासता के आधार पर कायम उत्पादन के पुराने सम्बन्ध आगे की सामाजिक प्रगति के माग म

---

* वी० आई० लेनिन, सम्पूण ग्रन्थावली, खण्ड २७, पृष्ठ ७६। स०

रोड़ा बन गये थे। इस आर्थिक संघर्ष ने नवोदित पूंजीपति वर्ग तथा सामन्ती राजाओं और अर्द्ध दासों (या बंधुआ मजदूरों) के स्वामियों के मरणोन्मुख वर्ग के बीच एक तीव्र सामाजिक संघर्ष का रूप ग्रहण कर लिया था। सामंती चौखटे के अन्तर्गत जैसे जैसे उत्पादन के पूंजीवादी सम्बन्ध विकसित हुए, वैसे ही वैसे पूंजीवादी क्रांति का मुख्य लक्ष्य सत्ता पर पूंजीपति वर्ग का अधिकार कायम करना हो गया।

पूंजीवादी क्रांतियों में किसान वर्ग, तथा नवजात पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के साथ प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध शहरों के निम्न पूंजीवादी और उठते हुए सर्वहारा की तरह के अन्य वर्ग भी शामिल थे। निस्सन्देह, पूंजीवादी क्रांतियों की नेतृत्वकारी शक्ति स्वयं पूंजीपति वर्ग था। किसानों, कारीगरों तथा शहरी सर्वहारा वर्ग को अपने इर्द गिर्द एकताबद्ध करके, उनकी सहायता से ही उसने राजनीतिक सत्ता पर कब्जा किया था।

पूंजीवादी क्रांतियों में पूंजीवादी जनवादी क्रांतियों का एक विशेष स्थान है। जैसा कि लेनिन ने कहा था इस प्रकार की क्रांतियों की महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि उनके अन्तर्गत

> "आम जन समुदाय, उनका बहुमत, उत्पीड़न और शोषण से दबे कुचले निम्नतम स्तर के सामाजिक समुदाय—स्वतन्त्र रूप से उठ खड़े हुए थे और क्रांति के पूरे क्रम पर उन्होंने स्वयं अपनी मांगों की छाप लगा दी थी, उनके ऊपर उन्होंने अपनी उन कोशिशों की छाप लगा दी थी जिनके द्वारा उस पुराने समाज के स्थान पर—जो नष्ट किया जा रहा था—स्वयं अपने तरीके से, वे एक नये समाज का निर्माण करने की चेष्टा कर रहे थे।"*

पूंजीवादी क्रांतियों का होना एतिहासिक रूप से एक अनिवार्य और प्रगतिशील घटना क्रम था। उत्पादन की शक्तियों के विकास में उनकी वजह से जबदस्त तरक्की हुई थी। किन्तु इस तरक्कीमें मदद देने के बाद पूंजीवाद सामाजिक प्रगति के मार्ग का सबसे बड़ा रोड़ा बन गया। जनता द्वारा पैदा की गयी उत्पादन की शक्तियों तथा उत्पादन के पूंजीवादी सम्बन्धों के बीच अन्तर्विरोध पैदा हो गया। इस अन्तर्विरोध के उत्पन्न हो जाने के बाद मानवजाति के सामने अपने पूंजीवादी खाल को तोड़ कर उससे बाहर निकलने का तात्कालिक काम आ उपस्थित हुआ—क्योंकि उत्पादन को मुक्त करने तथा अबाधित रूप से पुनः उसे सब सामान्य की सेवा में लगाने का इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं था।

---

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड २८, पृष्ठ १६१।—सं०

समाजवादी क्रान्ति–क्रान्ति की सर्वोच्च किस्म

एकमात्र चीज जिससे श्रमजीवी जनता का शोषण, गरीबी, बेकारी तथा राष्ट्रीय उत्पीडन से मुक्ति दिलायी जा सकती है, समाजवादी क्रांति तथा, उसके आधार पर, सामान्य हित में किया जाने वाला विश्व का रूपान्तरण है।

समाजवादी क्रान्तियों की प्रेरक शक्ति शोषित श्रमजीवी जनता होती है। उसके नेतृत्व की बागडोर होती है उस मजदूर वर्ग के हाथ में जिसके हित समाज के विशाल बहुमत के हितों के अनुरूप होते हैं। समाजवादी क्रांति का विश्व के पैमाने पर एक पूरा युग होता है। यह युग पूंजीवाद के उन्मूलन तथा राजनीति, अर्थशास्त्र और संस्कृति, आदि के क्षेत्रों में समाजवाद को सुदृढ तथा सुगठित बनाने का युग होता है। लेनिन ने लिखा था,

> "समाजवादी क्रांति कोई एक काम नहीं है वह किसी एक मोर्चे की एक टक्कर नहीं है बल्कि तीव्र वर्गीय टकरावों का, सभी मोर्चों पर, अर्थात, अर्थशास्त्र और राजनीति के समस्त प्रश्नों पर, लडाइयों की एक लम्बी शृंखला का पूरा युग है।"*

संकुचित अर्थ में समाजवादी क्रांति का मतलब सत्ता पर सर्वहारा वर्ग द्वारा सीधे सीधे कब्जा कर लेना, अर्थात शुद्ध रूप से एक राजनीतिक क्रांति करना होता है। निस्सन्देह, यह कदम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, बुनियादी है, किन्तु इसमें समाजवादी क्रांति की इतिश्री नहीं हो जाती। इसके विपरीत, इससे तो उसका मात्र श्रीगणेश होता है।

समाजवादी क्रांति पहले की सब प्रकार की क्रांतियों से पूर्णतया भिन्न होती है। उसकी वजह से जनता के जीवन में अत्यंत गहन परिवर्तन हो जाते हैं। पहले की क्रांतियाँ अपने को राजनीतिक सत्ता का परिवर्तन करने तक ही सीमित रखती थीं। इस सत्ता को वे उन नये आर्थिक सम्बन्धों के मात्र अनुरूप बनाने का काम करती थीं जो समाज के अन्दर पहले ही पैदा हो चुके थे। किन्तु, समाजवादी क्रांतियों के सामने दूसरी ही समस्या होती है—उनके सामने बिलकुल शुरू से एकदम नये तरह के आर्थिक सम्बन्धों की स्थापना करने की समस्या होती है। यही कारण है कि पहले की क्रांतियों का रूप अधिकांशतया ध्वंसात्मक होता था। परन्तु समाजवादी क्रांति की विशेषता, सबसे पहले, उसकी रचनात्मकता होती है। उसका सर्वोच्च लक्ष्य स्वामित्व के सामाजिक स्वरूपों और उत्पादन के समाजवादी सम्बन्धों की रचना करना होता है।

---

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड २२, पृष्ठ १५४। स०

पहले की सभी क्रांतियाँ निजी स्वामित्व के एक स्वरूप के स्थान पर दूसरे स्वरूप की, श्रमजीवी जनता को गुलाम बनाने के एक तरीके के स्थान पर मात्र एक दूसरे तरीके की स्थापना कर देती थी। उनका लक्ष्य शोषण को जड़ मूल से समाप्त करना नहीं होता था। इसके विपरीत, समाजवादी क्रांति मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के सभी स्वरूपों के और, इसलिए, उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व के सभी स्वरूपों के विरुद्ध होती है। इसके अलावा, एक और बुनियादी बात में समाजवादी क्रांति पहले की सभी क्रांतियों से भिन्न होती है। पहले की क्रांतियाँ आम जन समुदायों को केवल अस्थायी रूप से अपने साथ ले जा सकती थीं, परन्तु समाजवादी क्रांति समाजवाद के संघर्ष के लिए श्रमजीवी जनता के व्यापक तम अंगों तथा अन्य जनवादी शक्तियों के बीच एक सुदृढ़ तथा स्थायी एकता स्थापित कर देती है। किसी भी समाजवादी क्रांति के सामने मुख्य प्रश्न मजदूर वर्ग द्वारा राजनीतिक सत्ता पर—राज्यसत्ता पर—अधिकार करने तथा उसे बनाये रखने का होता है, क्योंकि जब तक मजदूर वर्ग का राज्य की शक्ति पर अधिकार नहीं हो जाता तब तक वह समाज के आर्थिक और सामाजिक रूपान्तरण के काम को शुरू नहीं कर सकता।

समाजवादी क्रांति की नींव मार्क्स और एंगेल्स ने डाली थी। पूंजीपतियों और मजदूरों के बीच जो अन्तर्विरोध है उन्हें उन्होंने उजागर कर दिया था और सिद्ध कर दिया था कि ये अंतर्विरोध गहरे ही होते जायेंगे और, इसके फलस्वरूप, समाजवादी क्रांति होगी। जिस समय मार्क्स और एंगेल्स समाजवादी क्रांति के सिद्धान्त की स्थापना कर रहे थे उस समय पूंजीवाद अपने विकास के शिखर पर था, वह लगभग अबाध रूप से सब जगह तरक्की कर रहा था इसलिए मार्क्स और एंगेल्स का ख्याल था कि समाजवादी क्रांति 'सभी सुसभ्य देशों में, अर्थात कम से कम इंगलैण्ड, अमरीका, फ्रांस तथा जर्मनी में, एक ही साथ होगी।'*

परन्तु, पूंजीवादी विकास की साम्राज्यवादी अवस्था के दौरान जो आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन हुए थे उनका सारांश स्पष्ट करते हुए लेनिन ने बतलाया कि साम्राज्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत पूंजीवादी देशों के विकास की गति असमान हो गयी थी। जो देश किसी समय आर्थिक रूप से पिछड़ गये थे वे तरक्की करके न सिर्फ अधिक उन्नत देशों के समकक्ष पहुंच गये थे, बल्कि उनसे

---

* कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित रचनाएँ (तीन खण्डों में), खण्ड १, मास्को १९६९, पृष्ठ ९२।—सं०

आगे तक निकल गये थे। इसके फलस्वरूप, शक्तियो का अन्तर्राष्ट्रीय सन्तुलन लगातार बदलता बिगडता रहता था तथा दुनिया के पुनर्विभाजन के लिए सघर्ष और युद्ध छिड रहे थे। लेनिन का कहना था कि पूजीवाद का विकास भिन्न भिन्न देशो मे बहुत ही असमान रूप से हो रहा था, और इसलिए, तमाम देशो मे एक साथ समाजवाद की विजय नही हो सकती थी। इसके विपरीत प्रारम्भ मे केवल एक अथवा केवल कुछ देशो मे ही उसकी जीत हो सकेगी।

विश्व व्यापी क्रातिकारी प्रक्रिया के रूप मे समाजवादी क्राति

समाजवादी क्राति कोई सकुचित राष्ट्रीय घटना मात्र नही है वह एक विश्व व्यापी, अन्तर्राष्ट्रीय प्रक्रिया है। एक देश मे होने वाली समाजवादी क्राति की विजय विश्व व्यापी पैमाने पर समाजवादी क्राति की प्रगति का आधार बन जाती है। इसका अर्थ कदापि यह नही होता कि एक देश मे समाजवादी क्राति के विजयी हो जाने के बाद फिर उसका दुनिया के दूसरे देशो मे निर्यात किया जा सकता है। क्रातिया राष्ट्रो के ऊपर बाहर से नही लादी जाती वे प्रत्येक देश मे उसके अपने आन्तरिक अन्तर्विरोधो के आधार पर स्वय विकसित और सम्पन्न होती हैं।

एक समय था जबकि पूजीवादी दुनिया की बुराइया और अन्तर्विरोध ही एकमात्र वह कारण होते थे जो जन समुदायो के अन्दर क्रातिकारी भावना को जन्म देते थे। अब इस कारण के साथ साथ, समाजवादी देशो के आर्थिक और राजनीतिक उदाहरण की शक्ति भी जुड गयी है। रूस मे जब समाजवादी क्राति हुई थी तब पूजीवादी सिद्धातकारो ने हर एक को विश्वास दिलाया था कि वह एक अपवाद थी, उसकी कही भी पुनरावृत्ति नही हो सकेगी। परन्तु, तीस वर्ष के अन्दर ही, एशिया और योरोप के अनेक देशो मे समाजवादी क्रातिया हो गयी। तब फिर यह कहा गया कि ऐसी चीजें पश्चिमी गोलार्ध मे कभी नही हो सकती। लेकिन क्यूबा की घटनाओ ने उनकी इस भविष्यवाणी को भी झुठला दिया है।

समाजवादी क्राति ही वर्तमान काल की सबसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक नियमबद्धता अथवा अनिवार्यता है। वही नयी दुनिया के जन्म का अनुपेक्ष्य समान है।

साम्राज्यवाद एक प्रकार का एक ऐसा विशालकाय पिरामिड (स्तूप) है जिसकी पेंदी को नीचे दुनिया के तमाम गुलाम देश दबे हुए है और जिसकी चोटी पर मुट्ठीभर साम्राज्यवादी ताकत बैठी हुई है। शोषण के इस कई मजिला भार से कुचले जा कर एशिया, अफ्रीका, दक्षिण अमरीका और ओशीनिया के

राष्ट्र उनके सामने अपने को बिल्कुल असहाय पाते थे। राजनीतिक रूप से उनके बीच फूट थी और अन्न तमाम दुनिया से भी गुलाम बनाये रखने वाले अपने स्वामियों के सामने वे एकदम निरस्त थे। किन्तु उपनिवेशवादी शक्तियों द्वारा औपनिवेशिक तथा पराधीन देशों का शोषण इतना भयानक था कि उसके फलस्वरूप, अ ततोगत्वा, दुनिया की उत्पीडित कौमों ने अपनी आजादी तथा राष्ट्रीय स्वतत्रता के लिए सघर्ष छेड़ दिया।

समाजवाद की प्रथम विजय से औपनिवेशिक तथा पराधीन देशों की मुक्ति के युग का श्रीगणेश हो गया था। युद्ध के बाद के काल में तो जैसे राष्ट्रीय मुक्ति की क्रान्तियों की शक्तिशाली लहरों ने साम्राज्यवाद द्वारा गुलाम बनाये गये देशों के विशाल बहुमत के अन्दर से औपनिवेशिक व्यवस्था को पूरे तौर से बहाकर साफ कर दिया है। इसके परिणामस्वरूप, ससार के राजनीतिक नक्शे में इस दौर में भारी परिवर्तन हो गये हैं। पचास के ऊपर नये आज़ाद देश पैदा हो गये हैं। राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की यह सशक्त धारा आज तीन महाद्वीपों के अन्दर बह रही है। उसके साथ साथ दर्जनों अन्य अलग देशों के लोग आगे बढ़ रहे हैं। राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की यह धारा लगभग आधी मानवजाति के भाग्य का निपटारा कर रही है।

राष्ट्रीय मुक्ति की क्रान्तियों का सामाजिक सारतत्व तथा उनके मुख्य काम क्या हैं? उनके आर्थिक और राजनीतिक सारतत्व के अन्तर्गत न केवल औपनिवेशिक उत्पीडन का उन्मूलन करना, बल्कि यह भी आ जाता है कि सम्पूर्ण किसान वर्ग को साथ लेकर उसके हित में उग्र खेतिहर सुधार किये जायें एक राष्ट्रीय उद्योग का निर्माण किया जाय सामाजिक जीवन का जनवादीकरण किया जाय, राजनीतिक स्वतत्रता को सुदृढ़ बनाया जाय, तथा एक शांति कामी वैदेशिक नीति पर अमल किया जाय। वर्तमानकालीन राष्ट्रीय मुक्ति की क्रान्तियों का लक्ष्य औपचारिक रूप से केवल राजनीतिक स्वतत्रता प्राप्त कर लेने तथा एक राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था की स्थापना कर लेने से ही नहीं पूरा हो जाता। अब ये क्रान्तियाँ इससे कहीं आगे तथा गहरे तक जाती हैं, वे साम्राज्यवाद से आर्थिक स्वतत्रता प्राप्त करने के सघर्ष के स्तर तक पहुँच जाती हैं—क्योंकि, राजनीतिक स्वतत्रता केवल तभी पूरी हो सकती है जबकि साम्राज्यवाद के आर्थिक शिकंजे को भी तोड़ दिया जाय—उसे देश से हटा दिया जाय।

राष्ट्रीय मुक्ति की आधुनिक क्रान्तियों की एक मूलभूत विशेषता वह बढ़ती हुई एकता है जो गुलाम देशों की जनता के बीच पैदा हो रही है। इस एकता का आधार अपने समान हितों के सम्बन्ध में उनकी नयी चेतना तथा एक दूसरे के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने के उनके प्रयास हैं। अफ्रीकी एशियाई आई-

चारे का आन्दोलन, अफ्रीकी और अरब देशों की एकता का आंदोलन, स्वतंत्र अफ्रीकी देशों द्वारा अन्य उन अफ्रीकी राष्ट्रों का जो अभी तक औपनिवेशिक गुटों से अपने को मुक्त नहीं कर पाये हैं—दी जाने वाली सहायता का आंदोलन, और मुक्त हो गये देशों द्वारा अपनी आर्थिक नीतियों को सयोजित रूप से मिल-जुलकर चलाने की कोशिशें, आदि—ये सब बातें इसी चीज को स्पष्ट करती है कि अलग अलग हर देश की जनता का संघर्ष राष्ट्रीय मुक्ति की क्रांति की एक ही उस लम्बी श्रृंखला की एक कड़ी है जिसका लक्ष्य सम्पूर्ण साम्राज्यवादी व्यवस्था का अन्त कर देना है।

समाजवादी आदर्शों की प्राप्ति के लिए प्रयास करना राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों के लिए अब एक आम चीज बन गयी है। गुलाम देशों की जनता के दिमागों और दिलों में समाजवादी विचार घर करते जा रहे हैं। इस चीज का असर उनकी आजादी की लड़ाई पर भी पड़ रहा है। इसीलिए यह मात्र सयोग की बात नहीं है कि अफ्रीका के जिन छत्तीस देशों ने आजादी हासिल कर ली है उनमे से दस ने एलान कर दिया है कि उनकी सरकारों की राजकीय नीति समाजवाद की स्थापना करना है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का रूप समाजवादी अथवा सर्वहारा वर्गीय होता है।

औपनिवेशिक और पराधीन देश विश्व समाजवादी व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर आन्दोलन के साथ एकता स्थापित करके ही अपनी आजादी की लड़ाई को सफलतापूर्वक चला सकते हैं। वर्तमान युग की विश्वव्यापी क्रान्तिकारी प्रक्रिया का स्वरूप और सारतत्व यह है कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में जुटे विभिन्न आन्दोलनों ने मिलकर एक ही विशाल धारा का रूप ले लिया है। इस प्रकार, समाजवाद और साम्यवाद (कम्युनिज्म) के निर्माण में रत देशों का संघर्ष पूंजीवादी देशों का क्रांतिकारी मजदूर आन्दोलन तथा अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए जूझती हुई उत्पीड़ित कौमों का आन्दोलन—ये सब मिलकर आज एक हो गये है। क्रांतिकारी शक्तियों के इस साम्राज्य-विरोधी मोर्चे में निर्णायक भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर वर्ग और उसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि—विश्व की समाजवादी व्यवस्था अदा करती है।

वर्तमान काल मे समाजवाद पूरी दुनिया के लोगों के दिलों और दिमागों को केवल अपने विचारों और सिद्धान्तों से ही नहीं, बल्कि, इन सबसे भी अधिक, अपनी महान उपलब्धियों और सफलताओं से, अपने सजीव उदाहरण से, जीतता जा रहा है। आर्थिक तथा सांस्कृतिक निर्माण के क्षेत्र में समाजवाद की उपलब्धियां जितनी ही बढ़ती जाती है उतनी ही अधिक उसकी आकर्षण शक्ति में वृद्धि होती जाती है।

इस भाति, औपनिवेशिक व्यवस्था का विघटन अब अपनी अतिम अवस्था के समीप पहुँच रहा है। उसके विघटन के निम्न मूलभूत नियम है पहले के गुलाम देश अपनी राजनीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता को बढाने मे लग हुए है, आपस म नाना रूपो से वे अपनी एकता स्थापित कर रहे है, और विश्व समाजवादी व्यवस्था के साथ अपने सम्बन्धो को मजबूत बना रहे हैं—क्योकि व जानत हैं कि साम्राज्यवादी आधिपत्य को समाप्त करन का केवल यही ठास तरीका हो सकता है। इसके अतिरिक्त, आजाद हो गय य दश विकास के गैर पूजीवादी माग पर चलन की कोशिश कर रह हैं।

आज के युग म समाजवाद की ओर जाय बिना तरक्की कर सकना असम्भव है। इस प्रकार इतिहास का आज यही तकाजा है राष्ट्रीय मुक्ति की क्रान्तिया को उसका आज यही आदेश है कि साम्राज्यवाद मे मोर्चा लकर व समाजवाद का पथ प्रशस्त करें। लेनिन ने कहा था कि, 'विश्व क्रान्ति क लिए शीघ्र ही छिडने वाली निर्णायक लडाइयो के दौरान, ससार की जनसख्या के बहुमत का वह आदोलन प्रारम्भ मे जिसका लक्ष्य राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करना था, पूजीवाद और साम्राज्यवाद क विरुद्ध हो जायगा और कदाचित, जितनी हम आशा करते है उसस भी कहीं अधिक क्रातिकारी भूमिका अदा करेगा।*"

विकास का गैर पूजीवादी माग

अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करन के बाद नव स्वतन्त्रता प्राप्त अनेक दशो के सामने यह प्रश्न उठा कि भविष्य के अपन विकास के लिए वे कौन सा माग चुनें। स्वाभाविक तौर से उनकी नजर ससार के आर्थिक रूप स उन्नत राष्ट्रो की ओर गयी। व जानना चाहते थे कि इन देशो से उन्ह कौन सा अनुभव प्राप्त हो सकता है। यहा हम एक और प्रश्न पर गौर कर लना चाहिए। प्रश्न यह है कि समाजवाद का रास्ता ग्रहण कर सकने स पहले क्या सभी दशा के लिए विकास की पूजीवादी अवस्था से गुजरना आवश्यक है ?

पूजीवाद से जनता को क्या मिलता है ? उसकी गरीबी को मिटाने क लिए जिस तेज आर्थिक प्रगति की आवश्यकता है वह उस पूजीवाद से नही प्राप्त हो सकती। पूजीवाद के कारण उसक कष्ट बराबर बढते ही जाते हैं। उसकी वजह से सामाजिक असमानताए और भी अधिक हो जाती हैं। हर आदमी के लिए काम तक की गारण्टी पूजीवादी अर्थ व्यवस्था के अन्तगत नही हो सकती। सास्कृतिक सुविधाए भी उसके अन्तगत केवल कुछ विशेषाधिकार सम्पन्न व्यक्तियो को ही प्राप्त हो सकती है।

---

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली खण्ड ३२ पृष्ठ ४८२। स०

और, समाजवाद से जनता को क्या प्राप्त होता है ? समाजवाद से उसे स्वतन्त्रता और सुख की प्राप्ति होती है। जैसा कि सोवियत संघ के अनुभव ने स्पष्ट रूप से उजागर कर दिया है, समाजवाद का अर्थ तीव्र आर्थिक प्रगति होता है। समाजवाद के अंतर्गत पुराना पिछड़ा हुआ जारशाही का सेतिहर रूस कुछ ही दशाब्दियों के अन्दर एक महानतम औद्योगिक शक्ति बन गया है। इस प्रगति में उसकी किसी ने सहायता भी नहीं की थी उल्टे, उसके मार्ग में जान-बूझ कर नाना प्रकार के भारी रोड़े अटकाये गये थे।

समाजवाद पृथ्वीतल से मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की व्यवस्था का सफाया किये दे रहा है। राजनीतिक अन्यायों का वह उन्मूलन कर रहा है। हर-एक के सामने सम्पूर्ण समाज के कल्याण के लिए उदात्त कार्य करने की सम्भावनाओं का द्वार वह उन्मुक्त कर रहा है। सम्पूर्ण समाज की भलाई के लिए काम करते हुए उसके अंतर्गत अपनी भलाई के लिए भी लोग काम करते हैं।

विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के भावी कार्यक्रम से सम्बन्धित दस्तावेजों में इस अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धांत की स्थापना की गयी है कि सामाजिक और आर्थिक रूप से कम विकसित देश भी गैर-पूँजीवादी मार्ग ग्रहण कर सकते हैं। वास्तव में, यह प्रश्न और भी व्यापक इस प्रश्न का अंग है कि वे देश, जिन्होंने सामाजिक उत्पादन की प्रगतिशाली प्रणाली अपना ली है, उन देशों की किस तरह सहायता कर सकते हैं जो आर्थिक रूप से कम विकसित हैं।

नव स्वतन्त्रता प्राप्त देशों के विकास के गैर पूंजीवादी मार्ग को ग्रहण करना न केवल सम्भव है, बल्कि विश्व इतिहास के वस्तुगत तर्क की वजह से यह उनके लिए अनिवार्य भी हो गया है। समाजवादी व्यवस्था के अस्तित्व, तथा उसके द्वारा दी जाने वाली भौतिक सहायता एवम् नैतिक समर्थन की वजह से, आर्थिक रूप से पिछड़े देशों के लिए यह बात अपेक्षाकृत सहल हो गयी है कि कष्टदाई पूंजीवादी अवस्था का छोटा कर, एक विशाल छलांग के द्वारा वे आगे बढ़ जायं। किन्तु इस सम्भावना को बिना कठिनाई के साकार नहीं किया जा सकता उसे साकार बनाने के लिए आवश्यक होता है कि देश की प्रगतिशील सामाजिक शक्तियाँ प्रतिक्रियावाद की अन्दरूनी और बाहरी ताकतों के खिलाफ डटकर संघर्ष करें, खुलकर उनसे मोर्चा लें। गैर पूंजीवादी मार्ग केवल समुपयुक्त राजनीतिक परिस्थितियों के अंतर्गत ही सम्भव हो सकता है। उसके लिए सबसे पहले एक राष्ट्रीय जनवादी सरकार की स्थापना करना आवश्यक होता है। सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम में राष्ट्रीय-जनवादी राज्य की परिभाषा एक ऐसे स्वतंत्र, प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य के रूप में की गयी है जो साम्राज्यवाद, फौजी

गुट बदिया तथा सब प्रकार के नव उपनिवेशवाद का विरोध करना है, जनता के आम जनतांत्रिक अधिकारों की रक्षा करता है तथा इस बात की पक्की व्यवस्था करता है कि राज्य की नीति के निर्धारण व काम में जनसमुदाय के सभी वर्ग तथा अंग भाग ले सकें। इस प्रकार के राष्ट्रीय जनवादी राज्य की वजह से समस्त श्रमजीवी जनता के हित में सामाजिक परिवर्तन करना सम्भव हो जाता है।

आर्थिक रूप से पिछड़े देशों की आबादी का विशाल बहुमत किसान होते हैं—ऐसे किसान जो अधिकांशतया सामुदायिक लेतिहर अर्थ व्यवस्था की परिस्थितियों में रहते हैं। अनेक किसान अब भी प्राकृतिक अर्थ-व्यवस्था की परिस्थितियों में रहते हैं। विदेशी पूंजी ने स्थानीय पूंजीपति वर्ग को इस बात के लिए विवश कर दिया है कि अपनी गतिविधियों को वह छोटे पैमाने के उत्पादन-कुटीर उद्योगों तथा छोटे मोटे व्यापारों के क्षेत्र तक ही सीमित रखे। इन देशों में *उत्पादन का कुछ न कुछ विकास अवश्य होता है—यद्यपि उसकी गति धीमी* होती है। उत्पादन के इस विकास के फलस्वरूप, अनिवार्य रूप से मजदूर वर्ग की बद्धि होती है। दरअसल, मजदूर वर्ग की वृद्धि की गति राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की बद्धि की गति से अधिक तेज होती है। विकासशील देशों के अंदर की वर्ग शक्तियों के सन्तुलन को तै करने में इस बात का अत्यधिक महत्व होता है। उन्नत पूंजीवादी देशों में स्थिति ऐसी नहीं होती। विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन की रणनीति और कार्यनीति की रचना करते समय इस खास विशेषता का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक होता है। इस बात का कि—राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की बद्धि की अपेक्षाकृत धीमी गति के मुकाबले में मजदूर वर्ग का विकास अधिक तेजी से होता है, न केवल इन देशों के भविष्य पर, *बल्कि सम्पूर्ण मानवजाति के* सामाजिक विकास की सम्भावनाओं पर भी भारी प्रभाव पड़ता है।

क्रान्ति के शान्तिमय और गर शान्तिमय मार्ग

इतिहास में अनेक महान और रक्त रंजित राजनीतिक लड़ाइयां हुई हैं। इन लड़ाइयों में राजनेताओं, सरकारों और पार्टियों के तख्ते उलट हैं और उनकी जगह दूसरों के राज्य कायम हुए हैं। हिंसा के इस इतिहास ने यह भ्रम पैदा कर दिया है कि राजनीतिक हिंसा आर्किमिडीज का कोई लीवर या उत्तोलक है जिसकी मदद से सामाजिक घटना क्रमों को किसी भी इच्छित दिशा में मोड़ दिया जा सकता है। अभी तक परिस्थितियां भी हमेशा ऐसी ही रही हैं जिनके अंतर्गत सामाजिक जीवन के ऐसे स्वरूपों को, जिनकी उपयोगिता समाप्त हो गयी है, इतिहास के राजपथ से हटाकर दूर फेंकने और नयी, प्रगतिशील शक्तियों के लिए मार्ग प्रशस्त करने के लिए समाज के *आगे बढ़े वर्गों को हर बार क्रान्तिकारी*

हिसा का ही उपयोग करने के लिए विवश होना पडा है। कार्ल मार्क्स ने कहा था,

"प्रत्येक उस पुराने समाज मे जिसके गभ मे एक नया समाज आ गया है, दायी का काम शक्ति करती है।"*

समाज के मरणासन्न वर्गों के भयानक और हिंसापूर्ण प्रतिरोध के कारण ही हिंसापूर्ण साधना का क्रातिकारी वर्गों को इस्तेमाल करना पडा है। प्लेखानोव ने कहा था कि,

'किसी सामाजिक वग के लिए अपने शासन की रक्षा कर सकने की जितनी ही कम सभावना हाती है उतनी ही अधिक प्रवृत्ति उसके अन्दर आतकवादी उपाया का इस्तेमाल करने की पायी जाती है।"**

किसी देश की जनता अगर कोई निमम या क्रूर कदम उठाती है तो उसकी वजह वह और भी अधिक क्रूर तथा युगो पुराना उत्पीडन होता है जो वह न जाने कब से सहती आयी है और जिसे वह अब भी [illegible] है। प्रतिक्रियावादियो की हिसा का एकमात्र उत्तर क्रान्तिकारी हिंसा ही [illegible] है। सशस्त्र विद्रोह तथा गृह-युद्ध के रूप मे जो हिसा होती है उसके [illegible] और स बडे पैमाने पर जबदस्त खूरेजी और मौत का [illegible], तथा भौतिक और आत्मिक मूल्य रखने वाली वस्तुओं का [illegible] पैमाने पर ध्वस हो जाता है। यह चीज स्वय हमारे [illegible] के, [illegible] के प्रतिकूल है जो मानवजाति के इतिहास के [illegible] है। लेनिन ने जोर देते हुए कहा था, 'निर्विवाद [illegible] विनाश है।"*** हमारे ये आदश ऐतिहासिक प्रक्रिया [illegible] अनुरूप है, क्योकि समाज "समाज के एक [illegible] जबदस्ती प्रभुत्व बनाये रखने की व्यवस्था के उन्मूलन" [illegible]।****

इसीलिए मार्क्सवाद—लेनिनवाद [illegible] के मानवीय विचार की ही हिमायत की है। [illegible] अधिक वाच्छनीय साधन माना है। [illegible] था कि, 'निर्विवाद रूप से मजदूर वग सत्ता [illegible]

---

* कार्ल मार्क्स, पूजी, [illegible]
** जी० वी० [illegible] ६३ (रूसी [illegible])
*** वी० आई० [illegible]
**** वही। [illegible]

करेगा ।"* यह बात तभी सम्भव हो सकती है जबकि क्रान्तिकारी शक्तियां शासक वर्गों के प्रतिरोध को कुंठित करने में और संघर्ष के अतिवादी स्वरूपों का उपयोग करने की आवश्यकता से सर्वहारा वर्ग को बचाने में सफल हो जायं।

क्रांति की गति को दूसरे देशों में एकदम तेज कर देने, अथवा "धक्का देकर आगे बढाने" की तरह के तमाम दुस्साहसिकतावादी विचारों के लेनिन सख्त खिलाफ थे। उन्होंने लिखा था कि, मार्क्सवाद 'क्रान्तियों को 'धक्का देकर आगे बढाने' के हमेशा खिलाफ रहा है।" क्रान्तियां, "वर्गीय अन्तर्विरोधों की बढ़ती हुई तीव्रता के साथ विकसित होती हैं। वर्गीय अन्तर्विरोध ही क्रान्तियों को जन्म देते हैं।"**

पूंजीवादी सिद्धांतकारों का सबसे प्रिय अभियोग मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विरुद्ध यह है कि वह हिंसा से जुड़ा हुआ है। वे कहते हैं कि कम्युनिज्म के मानवतावादी आदर्श उन "निकृष्ट" साधनों के साथ कतई मेल नहीं खाते जिनका उन्हें प्राप्त करने के लिए उपयोग किया जाता है। वे कम्युनिस्टों के सिर पर यह झूठा दोष मढ़ने की कोशिश करते हैं कि वे (यानी कम्युनिस्ट) कहते हैं कि मतलब सिद्ध हो जाय तो कोई भी साधन ठीक है! पर ये महानुभाव इस वास्तविकता के बारे में कैसी चुप्पी साधे रहते हैं कि पूंजीवादी समाज का सम्पूर्ण जीवन ही हिंसा पर कायम है! इस वास्तविकता का सबसे घृणिततम रूप हम फासिज्म की शक्ल में देखने को मिलता है।

समाजवादी क्रान्ति शांतिमय भी हो सकती है और गैर शांतिमय भी। यह बात कि वह शांतिमय होगी अथवा गैर शांतिमय ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों पर सबसे अधिक मजदूर वर्ग और उसके सहयोगियों की संगठन शक्ति तथा वर्ग चेतना पर, और प्रतिक्रियावादी वर्गों द्वारा किये जाने वाले प्रतिरोध की मात्रा पर निर्भर करती है। आधुनिक परिस्थितियों में अनेक पूंजीवादी देशों में यह सम्भव हो गया है कि अपनी कम्युनिस्ट पार्टियों के नेतृत्व में जनता के बहुमत को मजदूरों के मोर्चों और राष्ट्रीय मोर्चों में एकताबद्ध करके तथा विभिन्न पार्टियों और सार्वजनिक संगठनों के बीच अन्य सम्भव तरीकों से मैत्री तथा राजनीतिक सहयोग की स्थापना करके—बिना गृह युद्ध के ही—मजदूर वर्ग राज्यसत्ता पर अधिकार कर ले और अर्थव्यवस्था की कुंजी को वह जनता के हाथों में सौंप दे।

कोई समाजवादी क्रांति शांतिपूर्ण ढंग से पूरी हो जाय तो इसका मतलब

*वही खण्ड ४, पृष्ठ २७६। सं०

** वही खण्ड २७ पृष्ठ ७१-७२। सं०

यह भी नही होता कि फिर मजदूर वग और उसके सहयोगी गैर शातिपूण तरीके से क्रान्ति करने के विचार का ही पूणतया तिलाजलि दे दें। लनिन ने लिखा था कि शोषण करन वाले शासक वग महनतकश जनता की प्रगति को रोकन के उद्देश्य से हमेशा ही हिंसा का इस्तेमाल कर सकते है। ऐसा होने पर, लेनिन ने कहा था, सत्ता पर अधिकार करन के लिए मजदूर वग भी गैर शातिमय माग को अपनाने म लिए विवश हो जाता है। इसलिए, ठोस ऐतिहासिक परिस्थितिया के अनुसार विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन को भी सघष क स्वरूपो को बदलन के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए। किन्तु एक सामाजिक व्यवस्था के दूसरी सामाजिक व्यवस्था म सक्रमण का रूप चाहे जो हो, यह सक्रमण हमेशा एक क्रान्ति ही होता है और यह भी निश्चित है कि देर सबेर से हर उस समाज की महनतकश जनता, जो वर्गों म बँटा हुआ है निजी स्वामित्व की व्यवस्था को ठुकरा देगी और उसकी जगह पर कम्युनिस्ट समाज की स्थापना करेगी।

क्रांति और युद्ध

युद्ध का मतलब राजनीति को हिंसापूण साधानो के द्वारा—जिनम सशस्त्र सघष भी शामिल है—जारी रखना है। युद्ध के वास्तविक क्रम को सशस्त्र सघष ही तय करता है किन्तु उसके साथ साथ विचारधारात्मक, राजनयिक और आर्थिक जैसे दूसरे कारण भी उसके फसले के सम्बन्ध म मदद देते है। परन्तु युद्ध म सघष के चाहे जिन साधनो और स्वरूपा का उपयोग किया जाय उन सबका लक्ष्य राजनीतिक उद्देश्यो को प्राप्त करना होता है।

मार्क्सवाद–लेनिनवाद इस पूजीवादी धारणा को अस्वीकार करता है कि युद्ध की वजह मानव स्वभाव का तथाकथित आक्रमणकारी होना है। पूजीपति कहते है कि युद्ध मनुष्य की आक्रामक प्रवृत्ति का अनिवाय परिणाम है। इसके विपरीत मार्क्सवाद—लेनिनवाद युद्ध का जीवशास्त्रीय नही, बल्कि एक सामाजिक—राजनीतिक घटनाक्रम मानता है। उसकी जडें शोषण करन वाली सामाजिक व्यवस्थाओ के सामाजिक और आर्थिक सम्बन्धो क अ दर गहरी छिपी होती हैं। युद्ध वग समाज की एक ऐतिहासिक उपज है। वर्गों के पैदा होन स पहले भी कबीलो के बीच हथियारब द सघष होते थे किन्तु असली अथ म जिसे युद्ध कहा जाता है उसका तब अस्तित्व नही था। अत वग समाज की समाप्ति के साथ साथ युद्धा की भी समाप्ति हो जायेगी।

किसी युद्ध का विश्लेषण करते समय मुख्य चीज जो देखनी होती है वह उसका वग स्वरूप है—उसे किस वग ने छेडा है और किस उद्देश्य के लिए? लेनिन ने कहा था कि, "युद्ध का अर्थ (अपनी) नीति को दूसरे साधना के द्वारा

जारी रखना है। किन्ही भी युद्धों का उन राजनीतिक व्यवस्थाओं से अलग नहीं किया जा सकता जो उन्हें जन्म देती है। कोई राज्य, उस राज्य के अन्दर का कोई वर्ग युद्ध के बहुत दिन पहले से जिस नीति पर अमल करता रहा है वह युद्ध के दिनों में भी लाजमी तौर पर उसी नीति को चलाता रहता है—केवल संघर्ष का रूप बदल जाता है।'*

युद्ध आम तौर से न्यायपूर्ण होते हैं, अथवा अन्यायपूर्ण ? इस प्रश्न का उत्तर निरपेक्ष रूप से नहीं दिया जा सकता। उत्तर देने से पहले यह जानना जरूरी होगा कि सम्बन्धित युद्ध किस प्रकार का है। इतिहास में लूट-खसोट या कब्जा करने के लिए किये गये अनेक अन्यायपूर्ण युद्ध हुए हैं। ये युद्ध प्रतिक्रियावादी वर्गों की नीतियों का ही एक सिलसिला होते थे। उनसे वर्गीय तथा राष्ट्रीय दोनों प्रकार के उत्पीडन को बल मिलता था। किन्तु इतिहास में ऐसे भी युद्ध हुए हैं जो न्यायपूर्ण थे, क्योंकि वे मुक्ति के लिए लड़े गये प्रगतिशील युद्ध थे। ऐसे युद्धों से देशों को विदेशी उत्पीडन तथा वर्गीय दासता से मुक्ति प्राप्ति हुई थी। इस प्रकार के युद्ध ऐसे प्रगतिशील वर्गों की नीतियों का विस्तार होते थे जो हिंसा का हिंसा से मुकाबला करने के लिए वाध्य हो गये थे।

न्यायपूर्ण और अन्यायपूर्ण युद्ध इतिहास में एकदम एक दूसरे की विरोधी भूमिकाएँ अदा करते हैं। न्यायपूर्ण युद्धों में उन युद्धों की गिनती होती है जिनका लक्ष्य उत्पीडित वर्गों को उनके उत्पीडकों से (गृह युद्ध के द्वारा) मुक्ति दिलाना होता है, उन युद्धों की जिनका लक्ष्य किसी बाहरी देश के राष्ट्रीय उत्पीडन से देश को आजाद कराना होता है, और उन युद्धों की भी जिनकी किसी क्रान्ति की उपलब्धियों की रक्षा करने के लिए आवश्यकता होती है। जब तक साम्राज्यवाद मौजूद है तब तक मुक्ति के युद्ध, क्रान्तिकारी युद्ध बराबर होते रहेंगे। ऐसे युद्ध न केवल जायज हैं, बल्कि अनिवार्य भी हैं—क्योंकि उपनिवेशवादी अपने गुलाम देशों को कभी अपनी मर्जी से आजाद नहीं करते।

युद्ध और शान्ति का प्रश्न वर्तमान समाज का बुनियादी प्रश्न बन गया है। पृथ्वी पर शान्ति हो—करोड़ों लोगों की यही सामान्य कामना है। साधारण जन समुदायों ने सदा ही युद्धों से घृणा की है। परन्तु पिछले सम्पूर्ण इतिहास के दौरान हमेशा उन्हें यही लगा है कि युद्धों का अन्त नहीं किया जा सकता। देशों के बीच शान्ति हो—इसका केवल वे सपना ही देखते रहे हैं। जैसा कि दार्शनिक काण्ट ने कहा था, युद्ध राष्ट्रों के अस्तित्व की पशुवत अवस्था है, और शान्ति

---

* वी० आइ० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड २४, पृष्ठ ४०० ।—स०

शान्तिपूर्ण अस्तित्व—उनकी मानवीय अवस्था। काण्ट के समय में शान्ति मात्र एक काल्पनिक आदर्श था, किन्तु हमारे जमाने में, जबकि दुनिया में एक शक्तिशाली समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हो गयी है स्वयं इतिहास इस बात की माँग कर रहा है कि युद्ध को दुनिया से निकाला देकर एक युद्ध विहीन संसार की स्थापना की जाय।

मार्क्सवाद-लेनिनवाद के संस्थापकों ने, सामाजिक विकास के वस्तुगत नियमों के अपने अध्ययन के आधार पर, पहले से ही बतला दिया था कि एक ऐसा वक्त भी आयेगा जब समाजवादी और पूँजीवादी राज्य एक दूसरे के साथ-साथ शान्तिपूर्वक ढंग से रहेंगे, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर वर्ग की एकता अन्ततोगत्वा राष्ट्रों के बीच युद्धों का होना असम्भव बना देगी।

लेनिन ने इस बात को अच्छी तरह देखा था कि प्रथम विश्व युद्ध ने संस्कृति और सभ्यता की नवीनतम उपलब्धियों को इतने भारी पैमाने पर विकृत और तबाह कर दिया था कि उसकी वजह से मानवीय अस्तित्व की नींवों तक के लिए खतरा पैदा हो गया था। उस युद्ध में उन्नत तथा शक्तिशाली औद्योगिकी का जिस पैमाने पर इस्तेमाल किया गया था उस पैमाने पर इतिहास में पहले कभी नहीं किया गया था—करोड़ों इन्सानों को सामूहिक रूप से मिटा देने के लिए जबर्दस्त ध्वंसात्मक शक्तियों का इस्तेमाल उसमें किया गया था। तभी लेनिन की दूरदर्शिता ने यह समझ लिया था कि एक ऐसा समाज अवश्य आयेगा जब युद्ध इतने विध्वंसात्मक हो जायेंगे कि उनका होना असम्भव हो जायगा।

युद्ध के विकल्प के रूप में इसीलिए लेनिन ने भिन्न भिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं वाले राज्यों के शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व के सिद्धान्त को पेश किया था। संसार के सभी राष्ट्रों को सम्बोधित करते हुए ८ नवम्बर, १९१७ को उन्होंने एलान कर दिया था कि "लूट खसोट और हिंसा से सम्बन्धित सभी शर्तों को हम नामंजूर करते हैं, किन्तु ऐसी तमाम शर्तों का और आर्थिक समझौतों का जिनके अन्तर्गत अच्छे पड़ोसियों जैसे सम्बन्ध कायम करने की व्यवस्था हो हम स्वागत करेंगे, इन्हें हम नहीं नामंजूर कर सकते।"*

लेनिन को पूरा विश्वास था कि सारी दुनिया में समाजवाद की विजय होना अनिवार्य है किन्तु वे इस बात को भी समझते थे कि पूँजीवाद के असमान विकास की वजह से यह विजय तमाम देशों में एक साथ नहीं प्राप्त की जा सकती। इसी से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला था कि एक विशिष्ट ऐतिहासिक

---

* वी॰ आई॰ लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड २६, पृष्ठ २५५।—स॰

काल में पूंजीवादी और समाजवादी देशों के लिए शांतिपूर्ण सह अस्तित्व की अवस्था में रहना अनिवार्य होगा।

युद्ध, शांति और क्रांति से सम्बंधित लेनिन की शिक्षाओं में मजदूर वर्ग के विशाल अनुभवों का सार मौजूद है। विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन की नीतियां तथा बिरादराना पार्टियों के संयुक्त निर्णयों का आधार लेनिन की यही शिक्षाएँ होती हैं। १९५७, १९६० और १९६९ में हुईं कम्युनिस्ट और मजदूर पार्टियों की अंतर्राष्ट्रीय बैठकों की दस्तावेजों की रोशनी में मजदूर वर्ग शांति के फरहरे को दिनों दिन ऊँचा उठा रहा है और जनता के व्यापकतम अंगों को उसके नीचे एकजुट कर रहा है।

समाजवादी और पूंजीवादी व्यवस्थाओं के बीच शांतिपूर्ण सह अस्तित्व की स्थापना का पूर्व-आधार यह है कि राज्यों के बीच के विवादों का निबटारा करने के लिए युद्ध का नहीं इस्तेमाल किया जायेगा, राष्ट्रों के बीच पारस्परिक सहमति और विश्वास होगा, एक दूसरे के अधिकारों की समानता को उनके द्वारा स्वीकार किया जायेगा तथा पारस्परिक हितों का ख्याल रखा जायगा, एक दूसरे के अंदरूनी मामलों में उनके द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जायेगा और प्रत्येक राष्ट्र द्वारा अपनी समस्याओं को स्वतंत्र रूप से हल करने के अधिकार का सम्मान किया जायेगा, तमाम देशों की प्रभुसत्ता तथा राज्य क्षेत्रीय अखण्डता के प्रति पूर्ण सम्मान दिखलाया जायेगा तथा पूर्ण समानता और पारस्परिक लाभ के आधार पर उनके बीच आर्थिक तथा सांस्कृतिक सहयोग के सम्बंधों को बढ़ाया जायगा।

वर्तमान काल में शांतिपूर्ण सह अस्तित्व की स्थापना करने का एक ही मार्ग है—सख्त अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण के अंतर्गत आम और पूर्ण निःशस्त्रीकरण किया जाय। सोवियत संघ लगातार इसी की मांग करता आया है। बारम्बार और एकतरफा ढंग से भी उसने अपनी फौजी शक्तियों को कम किया है और हथियारों के खर्चों को घटाया है। शांतिपूर्ण सह अस्तित्व की वजह से जब अंतर्राष्ट्रीय रूप से नियंत्रित सार्वभौमिक और पूर्ण निःशस्त्रीकरण की व्यवस्था कायम हो जायेगी तब साधारण लोगों के जीवनों की दशा को सुधारने के लिए अकूत भौतिक और मानवीय संसाधन प्राप्त हो जायेंगे।

समाजवादी व्यवस्था आज तमाम दुनिया की शांति प्रेमी शक्तियों का आकर्षण-केन्द्र बन गयी है। अनेक गैर-समाजवादी देश भी आज शांति की नीति पर चल रहे हैं। ऐसे देशों की श्रेणी में उन देशों का विशेष स्थान है जिन्होंने अपने को औपनिवेशिक उत्पीड़न से मुक्त कर लिया है। गुट निरपेक्ष तटस्थ देशों की संख्या बढ़ती जा रही है। शांति के समर्थकों की तादाद भी सारी दुनिया में दिनों दिन बढ़ती जा रही है। सभी सामाजिक वर्गों के लोग शांति समर्थकों की पंक्ति

मे सम्मिलित होते जा रहे है। उन आक्रामक हल्को का भी, जो युद्ध की आग लगाने के लिए बराबर प्रयत्नशील रहते है, इस वास्तविकता का स्वीकार करना पड रहा है। उन्हे इस बात को मानना पड रहा है कि समस्त प्रगतिशील मानव जाति युद्ध के विरुद्ध सघर्ष कर रही है और शाति का आदोलन अधिकाधिक व्यापक बनता जा रहा है। समाजवादी देशो के पास आक्रमण का मुह तोड जवाब देने के लिए अत्यत उन्नत फौजी साजो समान आज मौजूद है। आधुनिक प्रौद्योगिकी की वजह से न केवल उस देश के लिए जिस पर हमला किया जायगा, बल्कि उस देश के लिए भी जो हमला करता है--युद्ध अत्यत खतरनाक हो गया है।

आणविक अस्त्रो तथा मिसाइलो (क्षेप्यास्त्रो) ने पिछले बीस वर्षो मे युद्ध की पुरानी धारणाओ को आमूल रूप से बदल दिया है। आणविक तथा उद्रजन बमो की विध्वसात्मक शक्ति भयानक है—अज्ञात पूर्व है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए इतना ही बतलाना काफी होगा कि केवल एक ताप नाभिकीय बम (thermonuclear bomb) की विस्फोटक शक्ति युद्ध के उन समस्त साधनो की कुल मिली जुली विस्फोटक शक्ति से अधिक है जिनका पिछले सभी युद्धो मे, जिनमे कि पहला और दूसरा विश्व युद्ध भी शामिल है इस्तेमाल किया गया था।

युद्ध न केवल भयावह रूप से विध्वसकारी बन गया है, बल्कि अब वह पूर्णतया निरर्थक हो गया है--क्योकि ऐसा कौन है जो लाशो से पटी उजाड जमीन पर कब्ज़ा करना चाहेगा? युद्ध की वजह से जो भयानक विनाश आज हो सकता है वह स्वय सारी दुनिया की जनता को शाति के सघर्ष के लिए सबल रूप से प्रेरित कर रहा है।

इन तमाम तथ्यो के आधार पर और कम्युनिज्म के उदार मानवीय सिद्धान्तो की रोशनी मे सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी इस निष्कर्ष पर पहुँची है कि यद्यपि साम्राज्यवाद की प्रकृति नही बदली है और युद्ध का खतरा समाप्त नही हुआ है, फिर भी शाति की शक्तियाँ—जिनके पीछे समाजवादी देशो की सशक्त मैत्री का भारी बल मौजूद है--अपने सयुक्त प्रयास के द्वारा आज नये विश्व युद्ध को रोक सकती है।

अध्याय ग्यारह

समाज का राजनीतिक सगठन

राज्यसत्ता—राजनीतिक सत्ता का एक साधन

वर्गों म बँटे किसी भी समाज के अन्दर अनिवाय रूप से राजनीतिक सम्बन्ध पैदा हो जाते हैं, राजनीतिक सस्थाएँ बनती और काम करती हैं, तथा भिन्न भिन्न प्रकार के राजनीतिक विचार और सिद्धान्त जन्म लेते है।

राजनीति है क्या ? राजनीति, सबसे पहले, उन विशेष सम्बन्धो को कहा जाता है जो किसी राज्य के अन्दर के वर्गों और जातियों के बीच (अन्दरूनी राजनीति) तथा विभिन्न राज्यो के बीच (वैदेशिक राजनीति) पाये जाते हैं। लेनिन ने कहा है कि, "राज्य के काम काज म, राज्य के सचालन काय म, राज्य की गतिविधियो के स्वरूप काय भारा तथा आतरिक सारतत्व को तय करने के काम म लगना ही राजनीति है।"*

इसका मतलब यह है कि वर्गों के बीच के सभी प्रकार के सम्बन्ध राजनीतिक होते हैं। उदाहरण के लिए, जब कोई पूजीपति किसी मजदूर को काम पर रखता है और उसका शोषण करता है तो उसके और मजदूर के बीच के ये सम्बन्ध राजनीतिक सम्बन्ध नहीं बल्कि आर्थिक सम्बन्ध होते है। परन्तु जब एक व्यवस्था के रूप मे पूजीवाद के विरुद्ध मजदूर सघष म उतर पडते है तब वे राजनीतिक रूप से काम करते हैं। किन्तु आखिर, "राजनीतिक" का अथ क्या है ? उसका अथ यह है कि देश की सरकार की सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था तथा उसके कानूनों को प्रभावित करने की कोशिश किये बिना, अर्थात राजनीतिक स्वतत्रता के लिए सघष किये बिना, मजदूर वग अपनी आर्थिक मुक्ति के लिए नही लड सकता।

राज्य की सत्ता के सगठन से सम्बन्धित समस्याएँ, राज्य का शासन करने, वर्गीय सम्बन्धो तथा बाहर के देशो के साथ के सम्बन्धो, और राज्य के अन्दर

---

* लेनिन नाना सग्रह (मिसलेनी), २१ मास्को, १६३३ पृष्ठ १४ (रूसी सस्करण)।—स०

पार्टी क मघष, आदि से सम्बंधित सभी समस्याएं राजनीति के अंतगत आ जाती हैं। इसलिए समस्त राजनीतिक गतिविधियों के पीछे मुख्य सवाल राज्य की सत्ता का हासिल करने उसे बनाये रखने तथा उसका इस्तेमाल करने से सम्बंधित होते हैं। वह हर सवाल जिसके समाधान के लिए किसी न किसी रूप म सरकारी कार्यवाही की आवश्यकता होती है एक राजनीतिक सवाल बन जाता है। इसके अतिरिक्त, राज्यों, वर्गों तथा पार्टियों की नीतियां राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दानों क्षेत्रों की वर्गीय शक्तियों के सतुलन के आधार पर तै की जाती है।

समाज म जिस किसी वर्ग का शासन होता है उसी के मूलभूत आर्थिक हितों की हिफाजत उस समाज का सम्पूर्ण राजनीतिक सगठन करता है। दूसरे शब्दों में, राजनीति के अन्तगत वे तमाम गतिविधियाँ आ जाती हैं जिनका उद्देश्य और काम वर्ग हितों की रक्षा करना होता हैं, उसके अन्तगत वे तमाम तरीके और साधन भी आ जाते हैं जिनका इन उद्देश्यों तथा कामों को पूरा करने के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

और समाज का राजनीतिक सगठन किसे कहते है? उस सम्पूर्ण मशीनरी (तंत्र) को—जिसके माध्यम से किसी समाज के अन्दर राजनीतिक सत्ता का इस्तेमाल किया जाता है—समाज का राजनीतिक सगठन कहा जाता है। राज्य सत्ता राजनीतिक पार्टियां, ट्रेड यूनियनें तथा सावजनिक सगठन राजनीतिक लक्ष्यों के लिए काम करने वाली तमाम सोसायटियां, वगैरा, वगैरा—ये सब एक ही अविच्छिन्न, विस्तृत रूप से फैले लेकिन पारस्परिक रूप से मजबूती से गठे हुए सगठन के अलग—अलग अंग हैं।

किन्तु राजनीति का मूल केन्द्र राज्यसत्ता का सगठन होता है। राज्य सत्ता का कर्तव्य होता है कि, 'वह सबसे शक्तिशाली, आर्थिक रूप से प्रभुत्वशाली (उस) वर्ग के हितों की रक्षा और रखवाली करे "जो राज्यसत्ता के माध्यम से, राजनीतिक रूप से भी प्रभुत्वशाली वर्ग बन जाता है।' *

राज्यसत्ता के हित और काम एक निश्चित वर्ग या वर्गों के ही हित और काम होते हैं पूंजीवादी समाज म "पूंजीपति वर्ग के हित और काम, तथा समाजवादी समाज म मजदूर वर्ग और किसानों के हित और काम।"

किसी देश की आन्तरिक और बाह्य (राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय) दोनों प्रकार की राजनीति की सबसे गहरी जड़ें उस देश मे मौजूद वर्गों के आर्थिक सम्बन्धों म निहित होती है। देश के राजनीतिक जीवन तथा उन तरीकों म, जिनका

---

* कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स संकलित रचनाएं, तीन खण्डों म, खण्ड ३, मास्को १९७०, पृष्ठ ३२८। –स०

धारणा होती है कि राज्य को बल (force) कायम रखता है। किन्तु, वास्तव मे, उसको जोड कर रखने वाली एकमात्र शक्ति व्यवस्था सम्बन्धी वह विवेक–बुद्धि होती है जो हर एक के अन्दर पायी जाती है।"*

कुछ विचारको ने मजबूत राज्य और मजबूत सरकार का समर्थन किया है। दूसरो ने 'पूर्ण" जनतन्त्र की माग की है कुछ दूसरे लोगो ने यह इच्छा जाहिर की है कि सामाजिक जीवन मे सरकार का कम से कम दखल होना चाहिए। किन्तु, राज्य (राज्यसत्ता) के सम्बन्ध मे भिन्न भिन्न प्रकार के इन तमाम दृष्टिकोणो के बावजूद, इस बात पर किसी ने वैज्ञानिक रूप से नही विचार किया कि समाज की आर्थिक व्यवस्था और उसकी राज्य व्यवस्था के बीच क्या सम्बन्ध होता है। न किसी ने राज्य के वर्ग स्वरूप उसके उद्देश्यो और कार्यो और उसके उदय और विकास के नियमो के सम्बन्ध मे ही कोई प्रकाश डाला है।

राज्य (या राज्यसत्ता) के वैज्ञानिक सिद्धान्त की बुनियाद वैज्ञानिक कम्युनिज्म के सस्थापक, मार्क्स और एगेल्स ने डाली थी। राज्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त का विकास लेनिन ने किया था। ऐसा उन्होने राज्य के सम्बन्ध मे मार्क्स-वादी सिद्धान्त को साम्राज्यवाद की नयी ऐतिहासिक परिस्थितियो पर लागू करके किया था। उन्होने राज्य के सिद्धान्त के मूल तत्वो पर अत्यन्त गहराई और विस्तार से प्रकाश डाला था और उसके वर्ग सार, उसकी उत्पत्ति और विकास, उसकी किस्मो और रूपो को, और उसकी गतिविधियो तथा उसके पीछे काम करने वाले सिद्धान्तो को स्पष्ट किया था। मार्क्स और एगेल्स का अनुसरण करते हुए, लेनिन ने बतलाया था कि राजनीतिक सत्ता एक वर्ग की दूसरे वर्ग के विरुद्ध सगठित हिंसा होती है और राज्य उस हिंसा का यन्त्र होता है। राज्य ही वह मशीन है जिसके माध्यम से एक वर्ग दूसरे वर्ग के ऊपर अपने प्रभुत्व को जमाये रखता है। राज्य समाज की आर्थिक व्यवस्था पर आधारित होता है। साथ ही साथ वह समाज के विकास मे भी बहुत बडी भूमिका अदा करता है।

राज्य (राज्यसत्ता) हमेशा से नही मौजूद रहा है। वह ऐतिहासिक विकास की उपज है। आदिम सामुदायिक (या कम्युनिस्ट) समाज व्यवस्था मे न निजी सम्पत्ति थी, न वर्ग। इसलिए उस समाज को सत्ता की ऐसी विशेष सस्थाओ की भी आवश्यकता नही थी जो जनता से जुदा हो। सामाजिक उत्तरदायित्वो का निर्वाह समस्त उत्तरदायी वयस्क लोग करते थे। सब लोगो द्वारा चुने गये ज्येष्ठ

---

* जी० डब्ल्यू० एफ० हीगेल, अधिकार का दर्शन, ऑक्सफोर्ड, १९४५, पृष्ठ २८२। –स०

लोग ही समाज, या फिरके के मुखिया होते थे। ज्येष्ठ लोगों तथा कबीलों के मुखियाओं का सत्ताधिकार उनके व्यक्तिगत गुणों पर—उनके अनुभव, उनके साहस तथा उनकी बुद्धिमानी, आदि पर—आधारित होता था। फिर निजी सम्पत्ति पैदा हुई। आर्थिक असमानता ने समाज को विरोधी हितों वाले विरोधी वर्गों में बाँट दिया। तब सामुदायिक समस्याओं को सामूहिक रूप से हल कर सकना असम्भव हो गया। आर्थिक सत्ता सम्पन्न शासक अल्पमत को ज़ोर जबरदस्ती के एक यंत्र की आवश्यकता महसूस होने लगी। समाज वर्गों में बँटने लगा था, इसलिए आवश्यकता हुई कि ऐसी संस्थाएँ बनें जो समाज के इस विभाजन को मजबूत करके पक्का कर दें और सम्पत्तिशाली वर्गों को जिन लोगों के पास कुछ नहीं था उनपर शासन करने का और उनका शोषण करने का अधिकार प्रदान करें। राज्यसत्ता का आविष्कार किया गया।

"वह (राज्यसत्ता) समाज के विकास की एक विशेष अवस्था की पैदावार है, वह इस बात की स्वीकारोक्ति है कि यह समाज स्वयं अपने असाध्य अंतर्विरोधों में फँस गया है, कि उसके अन्दर ऐसे असमाधेय विरोध पैदा हो गये हैं जिन्हें मिटाने में वह निःशक्त है। परन्तु इसलिए कि ये विरोध, विरोधी आर्थिक हितों वाले वर्ग, निरर्थक संघर्ष में फँसकर खुद को और समाज को तबाह न कर दें यह आवश्यक हो गया कि एक ऐसी सत्ता की स्थापना की जाय जो ऊपरी तौर से समाज से ऊपर खड़ी दिखलायी दे और संघर्ष को कम करे और उसे व्यवस्था की सीमाओं के अन्दर सीमित रखे। और यही समाज से पैदा हुई, लेकिन अपने को उससे ऊपर रखने वाली और अधिकाधिक मात्रा में उससे अलग होती जाने वाली शक्ति—राज्यसत्ता होती है।" *

मेहनतकश जनता को आर्थिक रूप से अधीन बनाने का काम मुख्यतया उत्पादन के साधनों पर शासक वर्ग द्वारा अपनी मिल्कियत कायम करने की सरल पद्धति के माध्यम से किया जाता है। परन्तु शोषण पर आधारित उत्पादन का यह कार्य अबाध रूप से चलता रहे इसके लिए मेहनतकश जनता की केवल आर्थिक निर्भरता पर्याप्त नहीं होती। शोषण करने वाले किसी भी समाज में उत्पीड़ित जनता का हमेशा बहुमत होता है और उनके उत्पीड़क अत्यंत अल्पमत में होते हैं। इसलिए, लाखों करोड़ों लोगों को वश में रखे रहने के लिए इस अल्पमत को राज्यसत्ता की एक शक्तिशाली मशीनरी की ज़रूरत होती है। इस प्रकार राज्यसत्ता वर्ग विरोधों की असमाधेयता की उपज तथा अभिव्यक्ति होती

* कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित ग्रंथावली, तीन खंडों में, पृष्ठ ३२७।—सं०

ह। राज्यसत्ताएँ वहीं और तभी पैदा हुईं जबकि वर्गीय संघर्षों का वस्तुगत रूप से समाप्त कर सकना असम्भव हो गया। राज्यसत्ता की दाण्डिक तलवार (punitive sword) के बिना शासक वर्ग ज़िन्दा नहीं रह सकते थे।

राजनीतिक सत्ता के साधन के रूप में राज्यसत्ता की कई लाक्षणिक विशेषताएँ हैं। वह शासक वर्ग द्वारा कायम की गयी संस्थाओं की एक ऐसी व्यवस्था होती है जिसमें असैनिक कर्मचारियों, अफसरों, विधायकों, वकीलों, मिनिस्टरों न्यायाधीशों पुलिससैना सैनिकों, आदि की एक ऐसी सेना होती है जिसका काम शोषण करने वाले अल्पमत की रक्षा और रखवाली करना होता है। उसके पूरे विशाल ढाँचे के अन्दर कर्मचारियों और अफसरों का एक जटिल सीढ़ी दर सीढ़ी (hierarchical) वाला जाल फैला होता है। उसकी यह व्यवस्था जैसे एक आयने की तरह उस समाज के सामाजिक ढाँचे को साफ साफ उभार कर सामने रख देती है। उदाहरण के लिए पूँजीवादी समाज के अन्दर पूँजीपति वर्ग ऐसी स्थिति में होता है कि उत्पादन और राज्यसत्ता को वह अपने हुक्म के अनुसार संचालित कर सकता है। सामन्तवादी व्यवस्था में उत्पादन और राज्य दोनों पर भूस्वामी (ज़मींदार-तालुक्दार) शासन करते थे। क्रान्ति पूर्व के रूस में ज़ार सबसे बड़ा भूस्वामी भी था।

किसी भी राज्यसत्ता की मूलभूत विशेषता सर्वसाधारण से उसका बिलगाव होती है। लेनिन ने लिखा था कि राज्यसत्ता,

'हमेशा से एक ऐसा यंत्र रही है जो समाज से बाहर रहता था और जिसमें ऐसे लोगों का एक दल होता था जो केवल, अथवा लगभग केवल, अथवा मुख्य रूप से, शासन का काम करते थे। जनता शासितों और शासन करने के काम के विशेषज्ञों में, शासितों और उन लोगों में बँट जाती है जो समाज से ऊपर उठ जाते है और शासक राज्य विशारद कहलाते हैं। इस यंत्र के पास, दूसरों पर हुकूमत करने वाले लोगों के इस दल के पास, हमेशा ज़ोर ज़बदस्ती करने के लिए शक्ति के स्थूल साधन होते हैं जनता के ऊपर की जाने वाली यह हिंसा चाहे आदिमकालीन गदा के द्वारा की जाय, चाहे दास प्रथा के युग के अधिक परिमार्जित किस्म के हथियारों के द्वारा, चाहे उन आग्नेय अस्त्रों (बंदूकों रायफिलों, आदि) के द्वारा जिनका मध्यकाल में आविर्भाव हुआ था, और चाहे, अन्त में, आज के आधुनिक उन हथियारों के द्वारा जो बीसवीं शताब्दी के प्राविधिक चमत्कार है और पूरे तौर से आधुनिक प्रौद्योगिकी की नवीनतम उपलब्धियों पर आधारित हैं- इससे उसकी असलियत में कोई फर्क नहीं पड़ता।''*

---

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड २६, पृष्ठ ४७७ ७८। -स०

राज्यसत्ता की असलियत उसके मुख्य अन्दरूनी और बाहरी (राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय–अनु०) कामों से जाहिर होती है। उसके मुख्य काम अन्दरूनी (यानी राष्ट्रीय क्षेत्र में) होते हैं और ये काम ही वैदेशिक क्षेत्र में किये जाने वाले उसके सम्पूर्ण काम के रूप को तै करते हैं। राज्यसत्ता के देश के अन्दर वाले काम राज्य सत्ता के वर्ग चरित्र को प्रकट कर देते हैं और वे उसकी घरेलू (राष्ट्रीय) नीतियों में ही सन्निहित होते हैं। शोषण करने वाले समाजों में राज्यसत्ता के अन्दरूनी कामों में सबसे महत्वपूर्ण काम श्रमजीवी जनता को दबाये रखना होता है। ठीक ठीक कहा जाय तो राज्यसत्ता सशस्त्र या हथियारबन्द लोगों का एक ऐसा दल होती है जो, जनता से अलग रहकर, उसके ऊपर हुकूमत करती है। राज्यसत्ता दोनों ही तरह से काम करती है—खुली हिंसा के माध्यम से और गिरजाघरों और स्कूलों के माध्यम से, आध्यात्मिक अथवा सैद्धान्तिक ढंग से समझान-बुझान के माध्यम से। आधुनिक पूंजीवादी राज्यों में मेहनतकश जनता को प्रचार के विस्तृत और पचीदा जाल के जरिए सैद्धांतिक असर में बांध रखा जाता है, अखबारों, रेडियो, सिनेमा, टेलीविजन, थियेटर साहित्य आदि के मायाजाल के जरिए उसे पूंजीपतियों की विचारधारा के चक्कर में फँसाये रखा जाता है।

राज्यसत्ता का मुख्य काम उत्पादन के तत्कालीन सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाना और विकसित करना होता है। इसलिए समाज के आर्थिक जीवन में भी वह एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। प्राचीन काल तक में राज्यसत्ता सिंचाई व्यवस्था के निर्माण कार्य की, सड़कों, नहरों, सार्वजनिक इमारतों, आदि के निर्माण कार्य की देख रेख करती थी।

राज्यसत्ता के कार्य कलापों के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न काम और क्षेत्र यान्त्रिक रूप से अलग—अलग नहीं बँटे होते। उनके बीच उनको जोड़कर रखने वाली एक बुनियादी आन्तरिक एकता होती है। परन्तु राज्यसत्ता की भुजाएँ केवल एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र के अन्दर ही फैली रहती है। विदेशी हमलों से इस क्षेत्र की रक्षा करना राज्यसत्ता की जिम्मेदारी होती है। किसी राज्यसत्ता के बाहरी (अन्तर्राष्ट्रीय) काम उसकी वैदेशिक नीति तथा राजनयिक गतिविधियों के माध्यम से प्रकट होते हैं। उसके बाहरी (अन्तर्राष्ट्रीय) काम उसके अन्दरूनी (राष्ट्रीय) कामों से ही निकलते हैं और वे उन्हीं को आगे बढ़ाते हैं।

कानून और राज्य के बीच एक अटूट सम्बन्ध होता है। सामाजिक बंधन तथा नियन्त्रण के बिना मानव समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। किन्तु बंधनों (या बाध्यताओं) के रूप अलग अलग होते हैं वे एक विनम्र किन्तु दृढ़ प्रार्थना से लेकर, मौत की सजा तक हो सकते हैं। बाध्य करने की राज्य की

व्यवस्था म फौज, पुलिस, अभियोक्ता अधिकारी, अदालतें और जेलें, आदि सभी साधन हात हैं। जीवन के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा अन्य क्षेत्रा म जनता के बीच आपस म जो बुनियादी सम्ब ध होते है राज्य उ ही को कानूनी जामा पहना देता है और फिर व आचरण के अनिवाय मानदण्ड बन जात है। सज़ा का भय दिखलाकर लागा का एसे काम करन स राक दिया जाता है जो उस वक्त की सामाजिक व्यवस्था क हिता के खिलाफ हात ह, और राज्य लोगो को उन्ही कामा का करन की अनुमति देता है जो शासक वग के हिता के अनुकूल होते हैं।

कानून सावजनिक आचारण के राज्य द्वारा स्थापित और स्वीकृत किये गये मानदण्डो को नियत्रित करने का एक साधन है, और उसका उद्देश्य तत्कालीन समाज की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को सुरक्षित रखना होता है। सक्षेप मे, वह शासक वग की इच्छा का कानूनी बना दिया गया रूप होता है।

राजनीतिक व्यवस्था के एक अग के रूप म कानून राज्यअनुमोदित और राज्य द्वारा रक्षित दोनो हात है। वे राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति होते हैं 'वर्ना', जैसा कि लेनिन न लिखा था, "शब्द 'इच्छा' एक खोखली ध्वनि है।"*

लेनिन ने आगे कहा था कि, " एक ऐसे यत्र के बिना जो कानून के नियमा का पालन करवा सके—कानून कुछ महत्व नही रखते "**

और दूसरी तरफ, अपने कार्यों को पूरा करत समय राज्य अपराध को, अर्थात, ऐसी हरकतो को जि ह कानून न सावजनिक रूप से खतरनाक हरकतें करार द दिया है, रोकने और दबाने के सम्ब ध मे राज्य द्वारा स्थापित किये गये कानूनी मानदण्डो पर ही निभर करता है।

राज्यसत्ता की ही तरह कानून (law) भी हमेशा से नही मौजूद रहा है। आदिमकालीन सामुदायिक समाज के सावजनिक जीवन म जो व्यवस्था होती थी उसे आदत की शक्ति, रीति रिवाजा और परम्पराओ की सहायता से तथा उन ज्येष्ठ लागो तथा कबीलाई परिषदो के नैतिक सत्ताधिकार की सहायता से कायम रखा जाता था—जो समाज क सभी सदस्या के सामा य हितो का प्रतिनिधित्व करत थे। लेकिन ज्यो ही समाज विरोधी हित रखने वाले वर्गों म बँट गया त्यो ही रीति रिवाजो के लिए मानवीय आचरण का विनियमित करना सम्भव नही रह गया। अच्छे और बुरे, सही और गलत, यायपूर्ण और अन्याय-

---

* वी॰ आई॰ लेनिन, सम्पूण ग्र थावली, खण्ड २५, पृष्ठ ६०। —स॰

** वही, पृष्ठ ४७१। —स॰

पूण की धारणाएं अलग-अलग वर्गों के लिए अलग अलग हो गयी। समाज के वर्गों म बँट जाने और राज्यसत्ता के पैदा हो जाने के बाद आचरण के बाह्य (कानूनी) नियमो का बनाया जाना आवश्यक हो गया।

सम्पत्ति, परिवार तथा अ य सम्ब धो को विनियमित करन वाल कानूना के बिना वग समाज जि दा नही रह सकता। शासक वग अपनी इच्छा को, "राज्यसत्ता की इच्छा क रूप म सावजनिक अभिव्यक्ति का, कानून का , रूप देने की कोशिश करता है।"* अपन विभिन्न--प्रशासकीय, कानूनी तथा अ य तत्वो के जरिए राज्य अपने क़ानूनो क नावी तोडन वाले को इस बात के लिए मजबूर कर देता है कि वह उनका पालन करे, और जब वह ऐसा नही करता तब वह (राज्य) उसके अपराध क स्वरूप के अनुसार उसको प्रशासकीय या सम्पत्ति सम्ब धी सजा दता है, अथवा उस ब द करक जल म डाल देता है।

राज्यसत्ता और राजनीतिक शासन की मूल क़िस्मे

निस्स देह, राज्यसत्ता के अनेक रूप होत हैं। यहा तक कि जब दास प्रथा थी तब भी सबस उन्नत, सुसस्कृत और सुसभ्य दशा म, विशष रूप से प्राचीन यूनान और राम म भी, राज्यसत्ता क भिन्न-भिन्न रूप थे। राजतत्र (monarchy) और गणतत्र (republic) क बीच सवप्रथम प्राचीनकाल मे ही भेद किया गया था--उसी तरह जिस तरह कि जनतत्र (democracy) और अभिजात्य तत्र (aristocracy) के बीच भेद किया गया था। राजतत्र मे एक व्यक्ति का शासन होता है, गणतत्र म एक चुना हुई परिषद शासन करती है, अभिजात्य तत्र म अपेक्षाकृत एक छोटे-स अल्पमत का शासन होता है, और जनतत्र मे आम जनता का शासन। किन्तु, यद्यपि दास समाज क अ दर भी ये तमाम भेद मौजूद थे परतु राज्यसत्ता, चाहे उसका रूप एकतत्रवादी रहा हा चाहे गणतत्रवादी, चाह अभिजात त त्रवादी या जनतत्रवादी--दासा क मालिको की ही राज्यसत्ता रहती थी।

राज्यसत्ताओ के बीच भेद इस चीज़ के आधार पर किया जाता है कि वे किन सामाजिक वर्गों की सेवा करती है और कैसी आर्थिक व्यवस्थाओ पर आधारित होती है। बुनियादी तौर स शोषण पर आधारित राज्यसत्ताएँ तीन प्रकार की हुई हैं, दासा के मालिको की, साम ती और पूजीवादी।

---

* काल माक्स और फ्रेडरिक एगेल्स, जमन विचारधारा, मास्को, १९६८, पृष्ठ ३६६।--स०

आदिमकालीन सामुदायिक समाज म जनतात्रिक शासन होता था। उसे ज्यष्ठ लोगा की परिषदें, जनता की महासभाएँ तथा परिषदें, आदि चलाती थी। समाज का पहला वग विभाजन दास के मालिका और दासा के बीच हुआ था। इसक बाद ही, स्वाधीन नागरिक (यानी दासा क मालिक-freemen) धनी और गरीब क दा हिस्सा मे बट गये। दासो का (प्रारम्भ म) और, बाद म, काम करन वाल स्वाधीन लोगा की आबादी के एक अच्छे खास हिस्से का, अधीन बनाय रखन क लिए दास के मालिका की राज्यसत्ता की आवश्यकता हुई थी। दास प्रथा के काल की राज्यसत्ताओ के स्वरूप यद्यपि भिन्न थे, किन्तु उनका वग तत्व एक ही जसा था। उनकी बुनियाद उत्पादन के साधना के निजी स्वामित्व तथा दासा क श्रम के शोषण पर कायम थी। दासा के मालिको की हर राज्यसत्ता दासा के मालिका की तानाशाही (dictatorship) होती थी। दास राजनीतिक जीवन म कोई हिस्सा नही लेत थ, उनका किसी भी प्रकार के राजनीतिक अथवा कानूनी अधिकार नही प्राप्त थे।

दास समाज का कानून अभिजात्य वग के शासन और विशेषाधिकारा की, दासा और गराब स्वाधीन नागरिको क शापण की, खुल तौर से रक्षा करता था और उन्ह उचित ठहराता था। दासा को हर प्रकार के नागरिक अधिकारा स वह वचित रखता था। उदाहरण के लिए, यूनानी और रोमन कानून क अतगत दासो के मालिका को हत्या के लिए कोई सजा नही दी जाती थी, इसलिए दासो को मारन की उन्ह पूरी छूट थी। बहुत बाद म, दासो के मालिका के खिलाफ एक कटु सघष के बाद और दास प्रथा की कवल आखिरी अवस्थाओ म ही, कानूनी दस्तावजा मे यह बात कही जान लगी थी कि दासा की हत्या करना वर्जित है। राज्यसत्ता की ही तरह कानून का भी लक्ष्य मुख्यतया निजी सम्पत्ति की उन लोगा स हिफाजत करना होता था जिनके पास कोई सम्पत्ति नही थी। प्राचीन काल के सबसे क्रूर कानून वे थे जिनका सम्बन्ध निजी सम्पत्ति की रक्षा करने स था।

दासा क मालिका की राज्यसत्ता की जगह सामन्ती राज्यसत्ता न ली थी। आबादी बढ गयी थी और सामाजिक आर्थिक सम्बन्ध अधिक जटिल हो गय थ इसलिए सामन्ती राज्यसत्ता के अतगत शासन करने के लिए और भी अनक तथा और भी जटिल सस्थाओ की स्थापना की गयी, जेला की तादाद बढाई गयी, और फौज तथा पुलिस की शक्ति को मजबूत किया गया। सामन्तवाद की प्रारम्भिक अवस्थाओ म राज्य का क्षेत्र आमतौर से अनक स्वतत्र छोटी-छोटी जागीरा, जमीदारियो और इलाका तक फैला रहता था। किन्तु आर्थिक विकास की माँग के अनुसार, राजाओ और जारो की ताकत धीरे धीरे बढती

गयी और जागीरदारों, ड्यूकों और काउण्टों की शक्ति घटती गयी। सामन्ती राज्य सब एक ही किस्म के थे—वे सब सामन्ती नवाबों की तानाशाहियाँ थे।

सामन्ती राज्य किसानों को जमींदारों की जमीनों के साथ बाँध कर रखता था। जो लोग उनके लिए काम करने से इन्कार करते थे उन्हें निर्ममता से वह दण्ड देता था। सामन्ती कानून में भूस्वामी (जमींदार) को अपने मजदूरों को खरीदने और बेचने की पूरी छूट थी। उसे इस बात का भी हक था कि वह उनसे मुफ्त काम कराये। किसानों के लगभग कोई नागरिक अधिकार नहीं थे—यहाँ तक कि भूस्वामी की अनुमति के बिना वे न शादी कर सकते थे, न कोई सम्पत्ति अथवा भूमि खरीद सकते थे।

पूँजीवादी राज्य का उदय ऐतिहासिक रूप से प्रगति की दिशा में एक बहुत बड़ा कदम था, लम्बी छलांग था। सामन्ती राज्य के मुकाबले में पूँजीवादी राज्य—अर्थात पूँजीपति वर्ग की तानाशाही, एक नये, अपरिमित रूप से अधिक प्रगतिशील किस्म का राज्य था। पूँजीवादी राज्य में जागीरों को खत्म करके जनसंख्या के सामाजिक विभाजन को मिटा दिया गया। इसके अलावा, उत्पादन के पूँजीवादी तरीके के विकास का तकाजा था कि समाज में मुक्त प्रतियोगिता का राज्य हो, इसलिए उसका यह भी तकाजा था कि कानून की नजर में सब लोग बराबर माने जायें।

राज्य की सत्ता के सम्बन्ध में पुश्तैनी अधिकारों की जगह पूँजीवाद ने चुनाव के अधिकारों की स्थापना की। उसने कहा कि चुने जाकर लोग राज्य में प्रमुख स्थानों पर पहुँच सकते हैं। सामन्तवाद के अन्तर्गत उत्पीड़ित वर्गों के राजनीतिक अधिकारों पर जबर्दस्त प्रतिबन्ध लगे हुए थे, किन्तु पूँजीवाद के अन्तर्गत मेहनतकश लोगों को औपचारिक रूप से कानूनी अधिकार तथा राज्य-सत्ता का संचालन करने वाली परिषदों के चुनावों में भाग लेने का हक प्राप्त हो गया। सत्ता के लिए संघर्ष करते समय पूँजीपति वर्ग को सामन्ती निरंकुशता तथा स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध और व्यक्ति के ऊपर की जाने वाली हिंसा के खिलाफ लड़ाई लड़नी पड़ी थी। उसने आजादी के पूँजीवादी जनतांत्रिक सिद्धांतों का समानता और जनता के शासन के सिद्धान्तों का, तथा जनता की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का एलान किया। पूँजीपति वर्ग की राजनीतिक विचारधारा में मनुष्य और नागरिक के रूप में व्यक्ति के अधिकारों की हिमायत की गयी। साथ ही साथ बिना किसी अपवाद के, पूँजीवादी घोषणाओं और संविधानों ने पूँजीवादी निजी सम्पत्ति तथा आर्थिक असमानता की भी पूरी तरह हिमायत और रक्षा की। पूँजीवादी राज्य सामन्ती राज्य से भिन्न था, उसके शासन की विशेषता यह

थी कि वह मकेंद्रित था। इस प्रकार, पूजीवादी राज्य राष्ट्रीय जीवन का केन्द्र बन गया। वह राष्ट्रीय जीवन के सभी परिवतनो को प्रतिविम्बित करने लगा।

पूजीवादी कानून पूजीवादी सम्पत्ति की रक्षा करने तथा मजदूरो के क्रातिकारी आन्दोलनो को कुचलकर मोल मजदूरी के शोपण को बनाये रखने की दृष्टि से बनाया गया था। पूजीवाद ने एलान किया कि कानून की नजर म हर एक बराबर है। सावभौमिक स्वतन्त्रता का भी उसने एलान किया। परन्तु, "समान अधिकारो" तथा "सावजनिक स्वतन्त्रता", आदि की जिन घोपणाओ का पूजीवादी राज्यो के सविधाना मे समावेश किया गया था वे, वास्तव मे, मात्र औपचारिक थी और पूजीपति वग की वास्तविक तानाशाही पर पर्दा डालने का काम करती थी। पूजीवादी कानूनो, नियमो, प्रतिबन्धो, आदि के सग्रह के रूप मे पूजीवादी कानून का लक्ष्य यह था कि करोडो गरीब और सम्पत्ति विहीन लोगो की लूट-खसोट के आधार पर पूजीपति वग के लिए असीमित धन कमाने की गारन्टी कर दी जाय। दूसरी तरफ, जैसा कि लेनिन ने बतलाया था, मानवजाति के लिए पूजीवादी अवस्था से गुजरना अनिवाय था। और, यह केवल पूजीवाद ही था जिसने, अपनी शहरी सस्कृति और सभ्यता की मदद से, सवहारा लोगो के उत्पीडित वग का इस बात की चेतना प्रदान की थी कि उसका अपना अलग एक वग है। पूजीवाद ने ही उन्हे इस बात की चेतना दी थी कि वे समाजवादी पार्टियो का तथा एक विश्वव्यापी मजदूर आन्दोलन का निर्माण करें और उनके माध्यम से जन-सघर्षो का सचेत रूप से नेतृत्व करें। चुनावो तथा आम ससदवाद की मशीनरी अगर न होती तो मजदूर वग इतनी प्रगति न कर सकता।

समाजवादी राज्य सिद्धातत ऐतिहासिक रूप से एक नये प्रकार का राज्य है। वह मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोपण का अन्त करने तथा एक ऐसे वर्ग विहीन कम्युनिस्ट समाज का निर्माण करने का एक साधन है जिसम मेहनतकश लोग ही शासक होते हैं। अत समाजवादी कानून बुनियादी तौर स पूजीवादी कानून से भिन्न होता है। वह सच्चे मानववाद की भावना से लबरेज होता है। मानव समाज के इतिहास का सबसे अधिक जनवादी राज्य होने की वजह से वह (यानी समाजवादी राज्य) सम्पूण जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति करता है आथिक तथा अन्य सामाजिक सम्बन्धो को विनियमित करता है समाजवादी व्यवस्था की हिफाजत करता है, नागरिको के अधिकारो और कतव्यो को निर्धारित करता है, तथा सावजनिक और व्यक्तिगत दोनो प्रकार की सम्पत्ति की रक्षा करता है।

राज्यसत्ता (या राज्य) की बुनियादी किस्मो का हमने एक सक्षिप्त सर्वेक्षण किया, किन्तु बीच के किस्म की भी राज्यसत्ताएँ होती है। उनकी वर्गीय

बनावट (सरचना) पचीदा होती है। कभी कभी दो वर्गों की मैत्री की बुनियाद पर भी राज्य बने हैं। उदाहरण के लिए १८४८ की क्रान्ति के बाद, जमनी मे पूजीपति वग तथा भूस्वामियो का मिला जुला राज्य कायम हुआ था। समाजवादी राज्य की स्थापना से पहले बहुत बार जनता के जनतत्र (पीपुल्स डेमोक्रेसी), अथवा राष्ट्रीय जनतत्र (नेशनल डेमोक्रेसी) का राज्य बनता ह। लेनिन ने इस सम्भावना को माना था कि ऐसे देशा म जिनमे पूजीवाद के विकास का स्तर नीचा है, जनता के (पर समाजवादी नही) राज्य बन सकते हैं। उनका कहना था कि ऐस राज्यो मे दो वर्गों का, मजदूरा और किसाना का, अधिनायकत्व होगा। ऐसे राज्यो मे नतृत्वकारी भूमिका मजदूर वग अदा करेगा। बाद क इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि लेनिन की यह बात सही थी।

इतिहास की प्रगति के साथ साथ राज्यसत्ता (राज्य) के सम्बघ मे मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धात भी अधिक समृद्ध बना है। उदाहरण क लिए, द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान तथा युद्ध के बाद के प्रारम्भिक वर्षों मे, कई योरोपीय तथा एशियाई देशो मे हुई क्रान्तिया के फलस्वरूप, एक नये प्रकार के राज्य का—जनता के जनवादी राज्य का—आविर्भाव हुआ था। यह राज्य तमाम क्रातिकारी वर्गों का क्रातिकारी जनवादी राज्य है जिसमे मजदूर वग अय सब वर्गों की रहनुमाई करता है। जनता के ऐसे जनवादी राज्यो ने इजारेदार पूजी के शासन को खत्म कर दिया और सामाजिक जीवन का जनवादीकरण किया। इस सिद्धात के आधार पर कि जमीन जोतने वाले की है उसन भूमि सुधार किये, उद्योग, यातायात और वित्त के क्षेत्र मे उन सब चीजा का उसने राष्ट्रीयकरण कर दिया जिनके जरिए वह इनका नियन्त्रण और निर्देशन कर सकता था और उसने राज्यसत्ता का एक नया तत्र स्थापित किया।

सर्वाधिक सम्भावना यह है कि वे देश जो पूजीवादी अवस्था से नही गुजरे है और जिन्होन अपनी मुक्ति के बाद स्वतन्त्र विकास का रास्ता ग्रहण कर लिया है, अपने यहा राष्ट्रीय जनतत्र के राज्य स्थापित करेंग। इस बात का कम्युनिस्ट और मजदूर पार्टिया के प्रतिनिधिया की अन्तर्राष्ट्रीय बैठको म बारम्बार स्पष्ट किया गया है। सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी क कायक्रमा म भी इनका बात कही गयी है।

वतमान युग म बहुत से देश इस स्थिति मे हैं कि राष्ट्रीय जनतत्र के एक स्वतत्र राज्य की वे अपने यहा स्थापना कर लें, अर्थात ऐसे एक राज्य की स्थापना कर लें जो उनकी राजनीतिक और आर्थिक आजादी की डट कर हिफाजत करें, साम्राज्यवाद और फौजी गुटा का विराध करें, अपन राज्य क्षेत्र म युद्ध के अडडा के बनाये जान तथा उपनिवेशवाद के नय रूपा तथा साम्राजी पूजी क

प्रवेश करने का विरोध करें—ऐसे राज्य की जो शासन के निरकुश तरीकों को नामजूर करके जनता के लिए व्यापक जनवादी अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की (भाषण देने, अखबार छापने, मीटिंग और प्रदर्शन करने की स्वतन्त्रताओं की) तथा राजनीतिक पार्टियां और सार्वजनिक सगठन बनाने के अधिकार और आजादी की गारण्टी कर, राज्य की नीति निर्धारण के काय म जनता की सलाह ले और भूमि सुधारों को लागू करने तथा अन्य जनवादी और सामाजिक परिवर्तनों के लिए काम करने का जनता को मौका दे। राष्ट्रीय जनतत्र के ऐसे राज्य शक्ति सचित करके, सामाजिक प्रगति के माग पर तेजी स आगे बढ सकते हैं और शांति तथा उपनिवेशवाद के पूर्ण उन्मूलन के विश्व व्यापी सघर्ष मे सक्रिय भूमिका अदा कर सकते है।

राज्यसत्ता की मूल किस्मों का सिंहावलोकन कर लेने के बाद अब हम **राज्यसत्ता तथा राजनीतिक शासन के विभिन्न रूपों पर, अर्थात्, शासन व्यवस्था के विभिन्न रूपों पर** विचार करेंगे। शासन व्यवस्था के मुख्यतया दो रूप होते है **एकराजतन्त्रवादी (monarchic) और गणतन्त्रवादी (republican)** एकराजतत्र एक व्यक्ति का (राजा, सम्राट, जार, आदि का) आम तौर से आनुवशिक (पुश्तैनी) शासन (सीमित या असीमित) होता है। उदाहरण के लिए, जारशाही रूस मे एक असीमित निरकुश एकराजतत्रवादी शासन था। जार स्वय ही नये कानून बनाता था, अफसरों की नियुक्ति करता था और उनकी निगरानी करता था। गणतत्र चुनी हुई सस्थाओं के द्वारा सरकार चलाता है।

किन्तु राज्यसत्ता के रूपों के अतर्गत केवल उसके शासन का रूप (form) ही नहीं आता, क्योंकि एकराजतन्त्र और गणतत्र भी अनेक प्रकार के हुए हैं। इसलिए, जब राज्यसत्ता के रूप की बात की जाय तब आवश्यक होता है कि केवल शासन के रूप को ही नहीं, बल्कि उसकी राजनीतिक शासन प्रणाली को भी ध्यान म रखा जाय। उसकी शासन प्रणाली जनतान्त्रिक हो सकती है, अथवा गैर जनतान्त्रिक। यह चीज इस बात पर निर्भर करेगी कि समाज पर हुकूमत करने के लिए वह किन तरीकों का इस्तेमाल करती है। शासन का एक ही रूप हुकूमत करने के बिलकुल एक दूसरे के विरोधी तरीकों का इस्तेमाल कर सकता है। उदाहरण के लिए, पूजीपति वर्ग ससदीय जनतान्त्रिक तरीकों से हुकूमत कर सकता है अथवा फासिज्म के गैर-जनतान्त्रिक तरीकों से। फासिज्म इजारेदार पूजी की सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी शक्तियों की आतकवादी तानाशाही होता है। वह (यानी फासिज्म) तानाशाही का सबसे नग्न रूप होता है। उसके अतर्गत शासन का राजकीय यत्र बहुत भारी और भयानक

आकार ग्रहण कर लेता है। उसकी शक्ल एक ऐसे पिरामिड-जैसी बन जाती है जिसकी चोटी पर केवल एक व्यक्ति बैठा होता है।

जनतंत्र, जिसका एक लम्बा इतिहास है, राजकीय शासन का एक ऐसा तरीका है जो इस सिद्धान्त का अनुसरण करता है कि अल्पमत बहुमत के अधीन है। इसमे तमाम फैसले बहुमत द्वारा लिये जाते हैं, किन्तु अल्पमत के अधिकारों का सम्मान किया जाता है।

इस प्रकार, वर्गीय तानाशाहियो (class dictatorships) राज्यसत्ता के एक ही ढाचे के अन्दर अलग-अलग अनेक तरीको से कायम की गयी है। लेनिन ने नोट किया था कि दासो के स्वामित्व पर आधारित राज्यो (slave owning states) के भी शासन के भिन्न भिन्न रूप थे। उनमे से कुछ राज्यो के शासन एकतन्त्रवादी और निरकुश थे, दूसरो के गणतन्त्रवादी थे जिनमे चुनी हुई सरकारें काम करती थी। इसके अलावा, उनमे से कुछ के शासन जनतन्त्रवादी थे जो बहुमत की राय के आधार पर काम करते थे। इस तमाम विभिन्नता के बावजूद, ये सारे राज्य दासो के मालिको के राज्य थे।

सामन्ती राज्य (feudal states) अधिकाशतया एकतन्त्रवादी ही होते थे। लेकिन सामन्ती गणतन्त्र (feudal republics) भी हुए हैं—सामन्तवाद के ऐसे स्वायत्त (self governing) नगर जिन्होने सामन्ती प्रभुओ के शासन से अपने को मुक्त कर लिया था और जो अपना कामकाज चुनी हुई सस्थाओ के द्वारा चलाते थे। इस तरह, शोषण पर आधारित भिन्न भिन्न प्रकार के राज्यो के शासन के रूप एक ही तरह के हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, दास प्रथा और पूजीवाद दोनो के अन्तर्गत जनतन्त्र कायम किये जा सकते हैं। इसके अलावा, जैसा कि हम जानते हैं, तरह तरह की शासन प्रणालियो के साथ पूजीवादी एकराजतन्त्र (monarchies) भी होते है।

पूजीवादी जनतन्त्र का सार तत्व

जनतन्त्र के बारे मे बात करते समय पूजीवादी सिद्धान्तकार अक्सर यह दावा करते हैं कि जहा जनतन्त्र है वहा राज्य का चरित्र वर्गवादी नही हो सकता जनतान्त्रिक राज्य तो अनिवार्य रूप से पूरे समाज के हितो की नुमाइन्दगी करता है। क्या यह सच है?

पूजीवादी क्रान्तियो के युग मे पूजीपति वर्ग जब सत्ता के लिए सघर्ष कर रहा था तब उसने स्वतन्त्रता, समानता तथा भाईचारे के उदात्त नारे लगाये थे और, निस्सन्देह, प्रारम्भ मे पूजीवादी राज्य था भी प्रगतिशील उसने उत्पादन के उन्नत सम्बन्धो की स्थापना करने मे मदद की थी। परन्तु, पूजीवाद के उदय

काल म भी, जबकि वह सबसे अधिक जनतांत्रिक था, पूजीवादी राज्य वास्तव म जरा भी जनतात्रिक नही था। वास्तव मे, वह केवल पूजीपति वग के लिए जनतन्त्र था और समाज के उत्पीडित वर्गों के लिए तानाशाही। लनिन ने कहा था कि

"जरूरी नही है कि तानाशाही का मतलब यह हो कि जो वग दूसरे वर्गों पर तानाशाही कायम किये हुए है उसके लिए भी जनतन्त्र का खात्मा हो जाय, किन्तु उसका मतलब यह जरूर है कि जिस वग के ऊपर, या जिसके विरुद्ध, तानाशाही का इस्तेमाल किया जाता है उसके लिए जनतन्त्र का खात्मा हो जाता है (अथवा उस पर भारी प्रतिबन्ध लग जाते हैं और यह भी उसके खात्मे का ही एक रूप होता है)।"*

पूजीवादी जनतन्त्र के प्रतिबन्धित (restricted) स्वरूप को अब साम्राज्यवाद न बहुत स्पष्ट कर दिया है। पूव इजारदारी पूजीवाद न विकसित होकर जब साम्राज्यवाद का रूप ग्रहण किया तब उसके ऊपरी ढांचे म जो परिवतन हुए थे उनकी तरफ लेनिन ने ध्यान दिलाया था। उन्होन बतलाया था कि इजारेदारो के हाथ मे जब आर्थिक सत्ता अत्यधिक सकेन्द्रित हो गयी तब उन्होन राजनीतिक सत्ता पर भी कब्जा करने के प्रयास शुरू कर दिये जिससे कि सम्पूण राजतन्त्र को अपने अधीन बनाकर उसका वे अपन हितो और इच्छाओ के अनुकूल इस्तेमाल कर सकें। लेनिन ने लिखा था कि

"ऐसा एक भी राज्य नही है, वह चाहे जितना जनतान्त्रिक हो, जिसक सविधान म इस बात की गुजायश या आरक्षण न हो कि अगर मजदूर 'सावजनिक व्यवस्था का उल्लघन करें' और अगर शोषित वग वास्तव मे दासता की अपनी स्थिति का 'उल्लघन करें' तथा गैर दासा की तरह आचरण करने की कोशिश करें तो पूजीपति वग उन मजदूरो क खिलाफ फौजो को भेज सके, मार्शल लॉ की घोषणा कर सके तथा अन्य कदम उठा सकें।'**

पूजीवाद की साम्राज्यवादी अवस्था मे प्रवेश करन स उसक अन्तर्विरोध जब तीव्र होन लग और क्रांतिकारी मजदूर वग तथा राष्ट्रीय आजादी क आदोलन बढन लगे तब पूजीवादी राज्य भी तेजी से प्रतिक्रियावाद की तरफ मुडा। लेनिन न यो ही नही कहा था कि, 'जनतन्त्र मुक्त प्रतियोगिता के समरूप होता है। (और) राजनीतिक प्रतिक्रियावाद इजारेदारी के समरूप।' ***

---

* वी० आई० लेनिन, सम्पूण ग्रथावली, खण्ड २८, पृष्ठ २३५। —स०

** वी० आई० लनिन, सम्पूण ग्रन्थावली, खण्ड २८, पृष्ठ २४४।—स०

*** वी० आई० लेनिन, सम्पूण ग्रन्थावली, खण्ड २३, पृष्ठ ४३।—स०

पूंजीवादी जनतन्त्र के सारे सकरे दायरे के बावजूद, अतीत काल मे पूंजीवादी राज्य सामाजिक प्रगति को प्रोत्साहन देता था, किन्तु अब वह प्रगति के माग का मुख्य रोडा बन गया है—क्योंकि बूढे पूंजीपति वर्ग ने अपनी युवा अवस्था के जनवादी आदर्शों को बहुत दिन पहले ही तिलाजलि दे दी थी।

लेनिन ने कहा था कि साम्राज्यवाद शुद्ध प्रतिक्रियावाद है—विशेष रूप से राजनीतिक क्षेत्र म। लेनिन की मृत्यु के बाद पूंजीवादी राज्यो का जो रूप सामने आया है उसन उनकी बात की सच्चाई को पूरे तौर से सिद्ध कर दिया है। पूंजीवादी राज्यो के सविधानो म अनेक स्वतन्त्रताओ और अधिकारो का दर्ज किया जाता है और कहा जाता है कि उनके अन्तगत नागरिको को व सब प्राप्त होते हैं वालिग मताधिकार, मुक्त चुनाव, बोलने की आजादी, अखबार निकालने की आजादी आदि आदि सब चीजें, उनके कथनानुसार, नागरिको को उक्त सविधानो के अन्तगत प्राप्त होती हैं। किन्तु, वास्तव मे, ये केवल सुन्दर शब्द ह जिनके पर्दे के पीछे पूंजीवादी समाज के अन्दर के जीवन की असलियत को छिपाया जाता है।

शुद्ध औपचारिक दृष्टि से भी देखा जाय तब भी पूंजीवादी जनतन्त्र अत्यधिक सीमाबद्ध (restricted) होता है। अधिकारो के सम्बन्ध म जो राष्ट्रीय और नस्ली असमानताएँ पूंजीवादी समाज म पायी जाती हैं उन्हे पूंजीवादी सविधान परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से मान्यता देकर कानूनी जामा पहना दते हैं। कुछ पूंजीवादी देशो मे महिलाओ को वोट देने का अधिकार नही है। दूसरे देशो मे वोट का अधिकार प्राप्त करने के लिए अधिक उम्र तथा सम्पत्ति की शर्तें पूरी करनी पडती ह। आखिर वह जनप्रिय शासन किस प्रकार का हो सकता है जिसमे कि साधारण लोग चुनावो तथा मत गणनाओ के अवसर पर वोट देन के अलावा और कुछ नही कर सकते, और जिसम उनके पास न तो कोई सामाजिक सम्पत्ति होती है और न अथ व्यवस्था के सचालन मे उनका कोई प्रत्यक्ष और निणायक हाथ होता है? लेनिन न लिखा था,

'हर कुछ वर्षों क बाद एक बार यह तै कर दना कि शासक वग का कौन सा सदस्य ससद के माध्यम से जनता को दबाने और कुचलने का काम करेगा—पूंजीवादी ससदवाद का यही वास्तविक सार-तत्व है केवल ससदीय सवैधानिक एकतन्त्रो के अन्तगत नही, बल्कि सबसे अधिक जनतान्त्रिक गणतन्त्रो के अन्तगत भी।' *

---

* वी० आई० लनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली खण्ड २५, पृष्ठ ४२२ २३।—स०

बेकार आदमी की मुसीबत भरी जिंदगी को किस तरह की आजादी कहा जायेगा ? अथवा जीवन यापन के साधनों से पूर्णतया वंचित बूढ़े लोगों की जिन्दगी को किस तरह की आजादी की जिन्दगी कहा जायेगा ? अमीर और गरीब के बीच, अथवा खा खा कर कुप्पा हो जाने वाले एक इंसान और एक भूखों मरते आदमी के बीच किस प्रकार की समानता हो सकती है ?

पूंजीवादी आजादी केवल अच्छी तरह खाते पीते खुशहाल लोगों के लिए ही है। इस प्रकार वह महज एक छलावा है ऐसा छलावा जो अधीनता को स्वतंत्रता के रूप में पेश करता है। लेनिन ने कहा था

"एक नगण्य अल्पमत के लिए जनतन्त्र, अमीर के लिए जनतन्त्र—यही पूंजीवादी समाज का जनतन्त्र है।"*

लेनिन के ये शब्द आज भी उतने ही सच हैं।

वोटरों (मतदाताओं) का विशाल बहुमत मेहनतकश लोगों का होता है। किन्तु क्या संसद में उनका वास्तविक प्रतिनिधित्व हो पाता है ? उदाहरण के लिए, अमरीका में औद्योगिक और दफ्तरों तथा खेतों पर काम करने वाले मजदूरों की संख्या पांच करोड़ दस लाख से अधिक है किंतु अमरीकी कांग्रेस (संसद) में एक भी मजदूर, एक भी छोटा किसान नहीं है। इसीलिए लेनिन ने लिखा था कि 'पूंजी की सत्ता ही सब कुछ है, स्टॉक एक्सचेंज ही सब कुछ है, और संसद तथा चुनाव कठपुतलियां हैं, हाथ के खिलौने हैं ।"**

प्रत्येक राज्य कुछ आर्थिक काम करता है। साम्राज्यवाद के युग में–जबकि एकाधिकारी पूंजीवाद राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद में परिवर्तित हो गया है यह आर्थिक काम अधिक शक्तिशाली बन रहा है। राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद के अन्तर्गत राज्य तन्त्र साम्राज्यवाद के आर्थिक तन्त्र में मिल जाता है। ऐसी स्थिति में पूंजीवादी राज्य औद्योगिक कारखानों, रेलों, बैंकों तथा संचार के साधनों के एक भारी अंश का भी मालिक बन जा सकता है (अमरीका में वह तीस प्रतिशत औद्योगिक उद्यमों का मालिक है)। पूंजीवादी राज्य भविष्य के बारे में भी सोचने की और उसके हिसाब से आर्थिक विकास का नियोजन करने की कोशिश करता है। इसके फलस्वरूप, कभी कभी, कुछ प्रमुख पूंजीवादी देशों में उत्पादन वृद्धि की दर अपेक्षाकृत ऊंची हो जाती है।

लेनिन के अनुसार राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद का सार तत्व यह है कि उसके अन्तर्गत अधिकतम मुनाफे कमाने और अपने राजनीतिक तथा आर्थिक

---

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड २५, पृष्ठ ४६० ।—सं०

** वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड २६, पृष्ठ ४८७ ।—सं०

प्रभुत्व को सुदृढ़ बनाने के लिए एकाधिकारी पूंजी पूंजीवादी राजतन्त्र का डट कर इस्तेमाल करती है। आज, जबकि पूंजीपति वर्ग तथा सुधारवाद के सिद्धांतकार यह सिद्ध करने की कोशिश कर रहे हैं कि राज्य के साथ इजारेदारियों के मिल जाने से, "सार्वजनीन समृद्धि" का एक नया, वर्गों से ऊपर रहने वाला, राज्य कायम हो गया है, लेनिन का यह कथन विशेष रूप से प्रासंगिक हो गया है। परन्तु सामाजिक उत्पादन के अधिकांश भाग को अपने हाथ में केन्द्रित कर लेने के बाद, एकाधिकारी पूंजी राजनीतिक सत्ता में न किसी को साझीदार बना रही है और न आगे ही बनाने जा रही है। उसने तानाशाही स्थापित कर ली है और उसकी रक्षा के लिए वह फौज और पुलिस पर भरोसा रखती है। पूंजीवाद के हिमायती यह साबित करने की जी तोड़ कोशिश कर रहे हैं कि पूंजीवादी दुनिया में जनवादी आदर्शों की सच्ची विजय हो गयी है, कि उनकी दुनिया ही असली 'स्वतंत्र दुनिया' है। लेकिन वे किस दुनिया की बात कर रहे हैं? फासिस्ट तानाशाहियों वाले स्पेन और पुर्तगाल की दुनिया की?*

एक कहानी यह भी चालू की गयी है कि पूंजीवादी राज्य बिना किसी प्रकार का वर्ग भेद किये सभी नागरिकों के हितों को समान रूप से अभिव्यक्ति करता है और उन सबकी एक समान रक्षा करता है। इस झूठे सिद्धान्त को कुछ दक्षिणपक्षी सोशल डेमोक्रेटों ने अपना लिया है और वे सभी इसका प्रचार कर रहे हैं। सुधारवादियों के इस दावे का कि, राजकीय एकाधिकार की स्थापना की प्रवृत्ति ने इस बात की पुष्टि कर दी है कि पूंजीवाद, राज्य के सौजन्य से (जो कि उनके कथनानुसार वर्गों के बीच "शांति बनाये रखने का" काम करता है), शांतिपूर्वक समाजवाद में परिवर्तित होता जा रहा है—जब लेनिन ने पर्दाफाश किया था तब उन्होंने उस रास्ते और उन साधनों को भी स्पष्ट कर दिया था जिनका इस्तेमाल करके इजारेदारियों ने पूंजीवादी राजतन्त्र को अपने अधीन बना लिया है। लेनिन ने सिद्ध कर दिया था कि इजारेदारियों ने इस काम को पूंजीवादी कानूनों का उल्लंघन करके ही पूरा किया था।

पूंजीवादी जनतंत्र का विवरण देते हुए लेनिन ने इस बात पर भी जोर दिया था कि अलग-अलग देशों में जनतन्त्र का अलग-अलग स्तर तथा उसकी अलग-अलग मात्रा पायी जाती है। ये चीजें सम्बन्धित देशों के राजनीतिक शासनों की विशेषताओं पर निर्भर करती हैं। आगे लेनिन ने कहा था कि, "वह वास्तव

---

* इन पंक्तियों के लिखे जाने के बाद स्पेन और पुर्तगाल में एक प्रकार के चुनाव हुए हैं और स्पेन में फासिस्ट तानाशाह फ्रेंको की मृत्यु हो गयी है।—सं०

मे बडा बढिया ही मार्क्सवादी होगा जो, जनवादी क्रान्ति के काल मे, जनतन्त्र की मात्रा के स्तर तथा उसके रूपो के फर्क को नहीं देखता ।"*

पूजीवादी व्यवस्था के ढाचे के अन्दर जनतन्त्र के लिए सघर्ष

एक व्यवस्था के रूप मे साम्राज्यवाद के अन्तर्गत मेहनतकश जनता के लिए सच्चे जनतन्त्र का अस्तित्व एकदम असम्भव है। परन्तु, इसका मतलब यह कदापि नहीं होता कि साम्राज्यवाद के इस युग मे जनवादी मागो को पूरा करने के लिए किया जाने वाला सघर्ष निरर्थक है। जसा कि हमने कहा, पूजीवाद के अन्तर्गत आमतौर से और साम्राज्यवाद के अन्तर्गत खासतौर से जनतन्त्र की बात महज एक छलावा होती है, परन्तु पूजीवाद जन-समुदायो के दिलो मे जनतान्त्रिक आकाक्षाओ को जगाने का भी काम करता है और, इसके फलस्वरूप कुछ जनतान्त्रिक संस्थाओ की स्थापना करना अनिवार्य हो जाता है। फिर, इसकी वजह से, जनतन्त्र की स्थापना के लिए प्रयास करने वाले जन समुदायो तथा जनतान्त्रिक अधिकारो से वचित करने वाले साम्राज्यवाद के बीच का अन्तर्विरोध और भी तीव्र हो जाता है। इसलिए, अगर हम यह सोचें कि जनतन्त्र की स्थापना के लिए किये जाने वाले सघर्ष की वजह से मजदूर वर्ग का ध्यान समाजवादी क्रान्ति की तरफ से हट जायेगा या समाजवादी क्रान्ति किसी तरह पीछे पड जायेगी, या एकदम रुक ही जायेगी, तो हम बहुत बडी गलती करेंगे।

दुनिया मे पूजीवादी जनतन्त्र का कितना ही विस्तार क्यो न कर दिया जाय उससे न तो वर्ग सघर्ष का अन्त हो सकता है, और न रुपये की सर्वशक्तिशालिता ही किसी प्रकार घट सकती है। जनतन्त्र का न यह मतलब है और न लक्ष्य ही। मतलब की चीज तो यह है कि जनतन्त्र होने से वर्ग सघर्ष अधिक व्यापक खुला तथा चेतनापूर्ण बन जाता है। जनतन्त्र की स्थापना के सघर्ष मे सबसे आगे होने के नाते, मजदूर वर्ग को इस बात को एक क्षण के लिए भी नहीं भूलना चाहिए कि पूजीवादी व्यवस्था के अन्दर हमेशा नये नये अन्तर्विरोध प्रकट होते रहेंगे और उसे हमेशा नयी नयी लडाइयो का सामना करना पडेगा।

पूजीवादी जनतन्त्र की व्यवस्था सबसे परिपूर्ण (या दोषहीन) पूजीवादी व्यवस्था है जिसमे कि खुले, व्यापक और तीक्ष्ण वर्ग सघर्ष के साथ साथ इस बात की भी छूट होती है कि पूजीपति वर्ग अपने मजदूरो को मजदूरी की गुलामी के विरुद्ध सघर्ष करने के रास्ते से भटकाने के लिए अधिकतम मक्कारी का और समझाने बुझाने के हर तरह के सैद्धान्तिक तरीके का इस्तेमाल करे।

---

* वी० आई० लेनिन, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड ८, पृष्ठ ५२।—स०

इसके विपरीत, समाजवादी जनतंत्र का अर्थ होता है कि राजतंत्र पर आम जनता का नियंत्रण हो। इसलिए वह (समाजवादी जनतंत्र) तभी कारगर हो सकता है जबकि राजनीतिक सत्ता और सामाजिक धन सम्पदा दोनों ही जनता के हाथ में हों। समाजवादी जनतंत्र की व्यवस्था ने प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि उसका लक्ष्य आम अधिकारों और आजादियों की औपचारिक घोषणा करने के बजाय उनको अमल में साकार बनाना है। इसीलिए, मजदूर वर्ग को जब समाजवादी और पूंजीवादी जनतन्त्र के बीच चुनाव करना होता है तो कौन सी चीज उसे चुननी चाहिए इस सम्बन्ध में उसके अन्दर संशय नहीं होता। वह समाजवाद का पक्षधर है। परन्तु जीवन जब उसे इस बात के लिए विवश कर देता है कि प्रतिक्रियावाद के घोरतम रूपों (जैसे कि यूनान की 'काले कर्नलों" की तानाशाही) और पूंजीवादी जनतन्त्र के बीच वह चुनाव करे तब, स्पष्ट है कि, मेहनतकश जनता पूंजीवादी जनतंत्र को ही बेहतर मानती है। क्यों ?—क्योंकि आजादी और समाजवाद के लिए किये जाने वाले मजदूर वर्ग के संघर्ष की दृष्टि से पूंजीवादी समाज में सर्वाधिक अनुकूल परिस्थितियों को पूंजीवादी जनतंत्र ही जन्म देता है।

पूंजीवादी राज्य में शासन के जो विभिन्न रूप हो सकते हैं उनका मूल्यांकन लेनिन ने सर्वहारा वर्ग के दृष्टिकोण से किया था। उनका विश्वास था कि पूंजीवादी जनतन्त्र की परिस्थितियों के अन्तर्गत जनतान्त्रिक गणतन्त्र ही सरकार का सबसे अच्छा स्वरूप होता है—क्योंकि सामाजिक परिवर्तन के संघर्ष के लिए अपनी शक्तियों को संगठित करने का अतुलनीय रूप से अधिक अवसर मेहनतकश जनता को उसी में प्राप्त होता है। साथ ही साथ, पूंजीवादी जनतन्त्र की मूल बनावट ही ऐसी होती है कि उसके अन्तर्गत मेहनतकश जनता सत्ता पर कभी अधिकार नहीं कर सकती। इस तरह मेहनतकश जनता की पूरी और सर्वाधिक बुनियादी जनतान्त्रिक मांगों को—जैसे कि काम की गारण्टी करने, महिलाओं को समान अधिकार देने, भूमि सुधार करने, राष्ट्रीय समानता तथा मतदान की ईमानदार व्यवस्था की स्थापना करने, आदि की मांगों को—वह कभी नहीं पूरे तौर से पूरा कर सकता।

जनतंत्र की स्थापना कराने के लिए—इजारेदारियों की आर्थिक और राजनीतिक सत्ता को सीमाबद्ध करने के लिए और मजदूरों की मांगों को पूरा कराने तथा ट्रेड यूनियनों के अधिकारों का विस्तार कराने के लिए किये जाने वाले संघर्ष में कम्युनिस्ट हमेशा ही डट कर लड़ने वाले संगठित और संकल्पबद्ध राजनीतिक योद्धा रहे हैं और आज भी हैं। राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए लड़ने में भी कम्युनिस्ट कभी किसी से पीछे नहीं रहे हैं। साम्राज्यवादी आक्रमणों का

अ त करने और आम तथा पूण नि शस्त्रीकरण कराने की लडाई म भी वे हमेशा सबसे आगे रहते हैं । सोशल डमोक्रेटिक और निम्न–पूजीवादी पार्टियो के सदस्यो सहित सभी मज़दूरो, ट्रेड यूनियना, के सदस्यो, तथा गैर पार्टी और असगठित मेहनतकश लोगो को एकजुट करस का भी कम्युनिस्ट निर तर प्रयास करत हैं । इन कामो मे कम्युनिस्टो का माग दशन उनका यह आ तरिक विश्वास करता है कि प्रतिक्रियावाद और आक्रमण की शक्तियो की रोकथाम की जा सकती है । तीसरे विश्वयुद्ध को रोकन और समाजवाद तथा शाति के लिए चल रहे सघप म नयी सफलताएँ प्राप्त करने की आज वास्तविक सम्भावना पैदा हो गयी ह । इन लक्ष्या की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि क्रा ति की तमाम शक्तिया एकताबद्ध हो और साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चे के अपने अपने क्षेत्रो मे सक्रिय रूप से वे सघप म भाग लें । अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर आ दोलन के लिए सबसे सही राजनीतिक नीति यही है कि जनतन्त्र, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, शान्ति और समाजवाद के लिए लडने वाली समस्त मामाजिक शक्तिया की एकता स्थापित करने का वह भगीरथ प्रयास करे ।

सम्पूण सामाजिक जीवन के जनवादीकरण के लिए मेहनतकश जनता आज हर जगह कम्युनिस्ट पार्टिया के नेतृत्व म जबदस्त सघप कर रही है । जनत त्र के लिए सघप करने का मतलब होता है सामाजिक और राजनीतिक जीवन मे मेहनतकश जनता की भूमिका को बढाने तथा समस्त प्रगतिशील शक्तियो के काय कलापो के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पदा करने के लिए सघप करना । इसके अलावा, जनत त्र की लडाई आज समाजवाद की लडाई के साथ घनिष्ट रूप से जुड गयी है । आज की नयी ऐतिहासिक परिस्थितिया मे पूजी वाद के तख्ते के उलटे जाने से पहले ही, अनेक देशो म मेहननकश वग एस कानूनो का लागू करवाने मे सफल हो जाते हैं जो साधारण सुधारा की मीमा से काफी आगे है और मज़दूर वग तथा देश की अधिकाश जन सख्या दोना के लिए बहुत महत्वपूण है । इस भाति, इजारेदारिया के खिलाफ किये जाने वाले आम जनतान्त्रिक सघप स समाजवादी क्राति पीछे नही पडती, बल्कि और नज़दीक आ जाती है । इसीलिए हम कहते हैं कि जनतन्त्र की लडाई समाजवाद की लडाई का एक अभिन्न अग है । इजारेदार गुटो का अलगाव हो जान तथा मूलभूत जनतान्त्रिक सुधारो के लागू हो जाने से जनता के राज्य की स्थापना की लडाई को अगली और उच्चतर मजिल मे पहुचने म सुविधा होगी ।

राजकीय एकाधिकारी पूजीवाद के विकास तथा तमाम आर्थिक, राजनीतिक तथा सास्कृतिक क्षेत्रो म इजारेदारिया के दिना दिन बढते हुए आधिपत्य की वजह से वह वस्तुगत आधार बहुत व्यापक बन गया है जिसके सहारे आबादी के

तमाम गैर एकाधिकारी अगो को लड़ाई के लिए एकताबद्ध किया जा सकता है। हाल के वर्षों मे किसानो, असनिक सरकारी नौकरो तथा बुद्धिजीवियो, सभी को एकाधिकारी शासन के विरुद्ध सघर्ष म उतरते देखा जा रहा है। इस प्रकार, जनतन्त्र की लडाई जन समुदायो के व्यापकतम हिस्सो का एकजुट करने और उन्हें समाजवादी क्राति की तरफ ले जाने का एक आवश्यक साधन है।

साम्राज्यवाद का विनाश अवश्यमभावी है। उसकी बुनियादें खोखली हो चुकी है, उन्हें अब कोई नही बचा सकता है। समाजवादी देशो का शक्तिशाली परिवार, सत्तारूढ राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन, आर्थिक रूप स उन्नत पूजीवादी देशो का बहुसख्यक मजदूर वर्ग, तथा दुनिया के दूसरे, भिन्न भिन्न प्रकार के व्यापक जनतान्त्रिक आन्दोलन—ये सब साम्राज्यवाद का विरोध कर रहे हैं और उसके अत की वेला को नजदीक ला रहे हैं। इस भाति, आधुनिक युग मे पूजीवादी देशो का जो विकास हुआ है उसने लेनिन के इस कथन की पूरे तौर से पुष्टि कर दी है कि एकाधिकारी पूजीवाद समाजवादी क्राति की पूर्व वेला है।

* * *

द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद के रूप मे विश्व कम्युनिस्ट आदोलन के पास एक मजबूत दार्शनिक आधार मौजूद है। उसके सिद्धान्तो के प्रति वफादारी कम्युनिस्ट आदोलन की एकता के लिए आवश्यक है और उसकी आवश्यक शर्त है। इन सिद्धान्तो से भटकने का, अर्थात, उन्हें किसी प्रकार सशोधित करने का एक ही परिणाम हो सकता है कम्युनिस्ट आदोलन की इस एकता पर प्रहार हो और वह टूट जाय। इसलिए, कम्युनिस्टो का अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य है कि मार्क्सवाद लेनिनवाद के सिद्धान्तो की वे रचनात्मक ढग से हिफाजत करें।

विशालकाय शाहबलूत (ओक) के एक ऐसे विशाल दरख्त की तरह जिसकी पुष्ट जडें जमीन के अन्दर खूब गहरे तक पैठ जाती हैं, मार्क्सवादी दर्शन की भी जडें विज्ञान और सामाजिक व्यवहार (और ये दानो ही चीजें निरन्तर विकसित होती रहती है) के अन्दर तथा उन मेहनतकश पुरुषो और स्त्रियो के जीवन म, जिनके हितो और जिनकी इच्छा आकाक्षाओ की वह अभिव्यक्ति करता है मजबूती से जमी हुई हैं। कम्युनिस्ट विचारधारा सर्वाधिक मानवीय विचारधारा है। उसका अन्तिम लक्ष्य तमाम कौमो और राष्ट्रो के बीच सच्चे मानवीय सबधो की स्थापना करना, अथात, पृथ्वी पर शान्ति और सुख की प्राण प्रतिष्ठा करना है। इसीलिए आज सारी दुनिया के पुरुषो और स्त्रियो के दिमागो और दिलो को वह अपनी तरफ आकर्षित कर रही है। इस

तथ्य को अनेक पूजीवादी सिद्धातकार भी स्वीकार करते है। ज्यो ज्यो समाजवाद की श्रेष्ठता तथा उसके विचारधारात्मक और सैद्धातिक आधारो की जीवन-योग्यता (viability) उनके सामने उजागर होती जाती है त्यो ही त्यो वे भयभीत होत जा रहे है।

मानवजाति की प्रगति को यदि सुनिश्चित बनाना है तो निता त आवश्यक है कि एक ऐसी दुनिया की स्थापना की जाय जिसमे युद्धो और हथियारो का नामो निशान न रह जाय। पूजीवादके अतगत मुख्य लक्ष्य उत्पादन का विकास करना होता है, और मनुष्य को इस लक्ष्य को प्राप्त करने का मात्र एक साधन माना जाता है , कि तु कम्युनिज्म का लक्ष्य इसका बिल्कुल उल्टा है। उसका नारा है कि "सबकुछ मनुष्य के लिए, उसी के कल्याण के लिए !" कम्युनिज्म का ऐतिहासिक लक्ष्य है तमाम जनता और कौमो को सामाजिक असमानताओ, उत्पीडन और शोषण के तमाम स्वरूपो स तथा युद्ध की विभीषिकाओ से मुक्ति दिलाना तथा सम्पूण विश्व म शाति, श्रम, स्वतत्रता, समानता भाईचारे और सुख की व्यवस्था की प्राण प्रतिष्ठा करना। व्यक्तिगत रूप से पुरुषो और स्त्रियो के जीवना को कम्युनिज्म आत्मिक धन-सम्पदा और वैभव से समृद्ध बनाता है, उनकी जि दगियो मे नैतिक और शारीरिक सस्कृति के उच्चतम मान दण्डो की स्थापना करता है, और उ ह सिखलाता है कि काम (work) को वे मनुष्य की प्रथम आवश्यकता तथा सृजनात्मक आन द के स्रोत के रूप म देखें। कम्युनिज्म सभ्यता क इसी उच्चतर स्तर का प्रतिनिधित्व करता है। मानवजाति अनिवाय रूप से, माग की सारी विघ्न बाधाओ को पार करती हुई, इसी नयी सभ्यता की पूण विजय की दिशा मे बढ रही है।

हमारा युग कठिन है और सघर्षो से भरा है, कि तु हम यह भी देखते हैं कि इसमे मनुष्य क सबसे प्रिय सपन साकार होते जा रह है—चाहे सामाजिक जीवन हो, और चाहे प्रकृति और विज्ञान के क्षेत्र—सभी जगह मानव की परम सफलता के अकुर फूट रह है। मानवजाति अब तक प्राप्त की गयी अपनी अनेक सफलताओ पर अभिमान कर सकती है। भविष्य के बार म आशावादी और आश्वस्त होन के लिए उसके पास बहुत भारी आधार है।

इसलिए, मार्क्सवाद-लेनिनवाद को पूरा विश्वास है कि आगे की ऐतिहासिक प्रगति के फलस्वरूप, समाज के अ दर ऐसे रूपा तरण होगे जिनसे वह आमूल रूप से बदल जायेगा। और, अ त मे, ससार मे स्वतत्रता, प्राचुय और समृद्धि का साम्राज्य स्थापित हो जायेगा और सम्पूण मानवजाति का सामजस्य-पूण और स तुलित रूप से विकास हो सकेगा।

ऐसा नही है कि इतिहास की विशाल धारा किसी अन्तिम, एकदम आदर्श लक्ष्य पर पहुंच कर ठहर जायेगी। मानवजाति यह कभी नही कहेगी कि' "अब काफी हो गया। यहाँ तक ठीक था, अब आगे नही जाना है।" इतिहास की हर मंजिल भविष्य की ओर बढने के लिए मात्र एक सीढी होती है। जिस समय और जिन परिस्थितियो मे वह मंजिल आती है उस समय वह आवश्यक, महत्वपूर्ण, तथा पूरे तौर से सही होती है। किन्तु ज्योही उससे ऊँची और बेहतर और श्रेष्ठकर परिस्थितियाँ तथा आवश्यकताएँ आवश्यक और सम्भव हो जाती हैं त्योही इतिहास की प्रत्येक मंजिल का औचित्य समाप्त हो जाता है। इस प्रकार, अनन्त काल तक, तब तक जब तक स्वयं जीवन चलेगा, इतिहास आगे बढता जायेगा। और, यदि मनुष्य अन्तरिक्ष मे अपने लिए अनुकूल परिस्थितियाँ खोज निकालता है तो मानवजाति वास्तव मे अमरता प्राप्त कर लेगी और शाश्वत काल तक जीवित बनी रह सकेगी।

इण्डिया पब्लिशर्स के अन्य महत्वपूर्ण प्रकाशन

धर्म

लेखक कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स

सम्पादक और अनुवादक रमेश सिनहा

वैज्ञानिक समाजवाद के आद्य संस्थापकों की इस अमर कृति मे धर्म के सारतत्व, धर्म की उत्पत्ति तथा वर्ग समाज मे धर्म की भूमिका के बारे में सही मार्क्सवादी विचारो को प्रतिपादित किया गया है ।

जिस तरह स्त्रियों के दुख को देखकर महाकवि तुलसीदास के मुह से निकल पड़ा था, "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं" उसी प्रकार धर्म के नाम पर जनता के दोहन उत्पीड़न को देखकर महान मनीषी मार्क्स कह उठे थे, "धर्म—जनता की अफीम है।" इन शब्दो को पा जाने के बाद मार्क्सवाद के विरोधियों ने यह भी सोचने समझने या बतलाने की जरूरत नही समझी कि उनका प्रयोग मार्क्स ने किस सदर्भ मे और क्यो किया था ।

इसकी वजह यह थी कि शोषक वर्ग यह नही चाहते कि कोई ऐसी क्रांतिकारी विचारधारा आगे बढ सके जो उनके शोषण के खिलाफ है ।

इस ग्रंथ मे सविस्तार बतलाया गया है कि मार्क्स और एंगेल्स ने धर्म के "मिथ्या" तथा "भ्रांतिपूर्ण" रूप की आलोचना के द्वारा मनुष्य के लिए वे किस प्रकार का बोधत्व और देवत्व प्राप्त करना चाहते है ।

यह महान ग्रन्थ अब तक हिन्दी मे अप्राप्य था । ग्रंथ मे मार्क्स और एंगेल्स के चित्र भी दिये गये है ।

पृष्ठ संख्या ३७०, सजिल्द ग्रन्थ का मूल्य मात्र ८ रुपया

धर्मके सम्बन्धमें लेनिनके विचार

अनुवादक रमेश सिनहा

सौ पृष्ठों की इस पुस्तिका के छोटे से कलेवर में लेनिन ने धर्म के प्रति दष्टिकोण सम्ब धी कई महत्वपूण प्रश्नो पर अपने विचार व्यक्त किये हैं।

"समाजवाद और धम", "धम के प्रति मजदूरो की पार्टी का दष्टिकोण" "धम और चच (ईसाई धम सघ) के प्रति विभिन्न वर्गों और पार्टियो का नजरिया", 'जुझारू भौतिकवाद का महत्व", आदि कुछ शीर्षक हैं जिन पर लेनिन ने कम्युनिस्टो के प्रामाणिक विचारो को स्पष्ट किया है।

पुस्तिका मे मैक्सिम गोर्की के नाम लेनिन द्वारा लिखे गये वे प्रसिद्ध दो पत्र भी सग्रहीत हैं जिनमे इश्वर के विषय म सवहारा वग के महान साहित्यकार गोर्की के गलत विचारो का उ होने युक्तियुक्त खण्डन किया था।

इसके अलावा और भी बहुत सी उपयोगी सामग्री मौजूद है इस पुस्तिकाम।

सु दर काड बोड का कवर। मूल्य दो रुपया

●

कम्युनिस्ट नैतिकता

लेखक मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, आदि

सम्पादक और अनुवादक रमेश सिनहा

कम्युनिस्ट नैतिकता क्या है? क्या कम्युनिस्ट किसी नतिकता को मानते भी है? सत्य के बार म उनकी क्या राय है? क्या अपन लक्ष्यो की प्राप्ति क सम्ब ध मे वे साधनो की परवाह नही करते?

इसके अतिरिक्त, विवाह, प्रेम, परिवार, देशभक्ति, क्तव्यपरायणता, मनुष्य के आत्मिक जीवन तथा मूल्यो से सम्बधित प्रश्नो के विषय मे कम्युनिस्टो की क्या धारणाएँ हैं?

इन प्रश्नो के उत्तरो से परिचित होना आज केवल सैद्धातिक या दाशनिक महत्व की चीज नही रह गयी। यह तात्कालिक व्यावहारिक महत्व की भी चीज बन गयी है। कम्युनिस्ट विचारधारा देश की धरती मे समा कर एक नयी राष्ट्रीय परम्परा और एक नये भारतीय माग की लीक डाल रही है।

इस पुस्तक मे सग्रहीत स्फुट उद्धरणो, पत्रो, लेखाशो, आदि मे उपयुक्त प्रश्नो पर प्रकाश डाला गया है।

इससे कम्युनिस्टो को और निकट से जानने तथा देश और दुनियाके कम्युनिस्ट आदोलन की अविजेय शक्तिके नतिक स्रोतो को समझनेमे सहायता मिलेगी।

पृष्ठ २२५, सचित्र, सजिल्द पुस्तक। मूल्य केवल ८ रुपया

इण्डिया पब्लिशर्स,
सी ७/२ रिवर बैंक कालोनी
लखनऊ